ग वे ष णा

जैन-विशेषांक

दर्शन, मनोविज्ञान,
परामनोविद्या
समाजशास्त्र, धर्म
इत्यादि विषयों की
त्रैमासिक पत्रिका

८

मुरादाबाद

वर्ष द्वितीय मार्च १९६६ अंक—चतुर्थ

THREE ACADEMIC INSTITUTIONS OF INTERNATIONAL INTEREST

(NON-PROFIT ORGANIZATIONS)

THE INTERNATIONAL RESEARCH INSTITUTE OF PHILOSOPHY, PSYCHOLOGY AND PSYCHICAL RESEARCH

Registered under the Societies Registration Act XXI of 1860
Office : RAJPUR, Dehradun (India)
Honorary Research Director : Padmabhushan, Knight Commander, Darshanacharya Dr. B. L. Atreya
More than 75 Indian and Western Scholars as Hony. Professors and Advisors.

INDIAN SOCIETY FOR PSYCHIC AND YOGIC RESEARCH

Registered under the Societies Registration Act XXI of 1860
Conducts Research in Yoga and Parapsychology
Founder President : Dr. B. L. Atreya
Retd. University Professor and Head of the Departments of Philosophy, Psychology and Indian Philosophy & Religion, Banaras Hindu University.
Secretary : Prof. J. P. Atreya
Office : Darshana Niketan, Rajpur, Dehradun.

INDIAN PSYCHOSYNTHESIS RESEARCH INSTITUTE

Registered under the Societies Registration Act XXI of 1860
(Affiliated with Psychosynthesis Research Foundation, New York, N.Y., U.S.A.)
Head Office : Atreya Niwas, P.O. Rajpur, Dehradun (India).
Director : Padmabhushan Dr. B. L. Atreya,
Hony. Director Child Guidance Clinic, Varanasi.
Editor : *Darshana International, Psychics International Gaveṣhaṇā* (Hindi)
Administrative Officer : Prof. J. P. Atreya.

Hearty co-operation from all people of all countries is welcome.

गवेषणा

दर्शन, मनोविज्ञान, परामनोविद्या
समाजशास्त्र, धर्म

इत्यादि विषयों की

त्रैमासिक पत्रिका

वर्ष—द्वितीय मार्च १९६६ अंक—चतुर्थ

विषय सूची

सम्पादक मन्डल

सम्पादकीय :—

जैन विचारधारा

भारत में जैन विचारधारा प्राचीन काल से आजतक अविच्छिन्न रूप से महत्वंपूर्ण मानी जाती रही है। वैदिककाल में भी जैन विचार धारा का अस्तित्व माना जाता है, जैन तीर्थंकर ऋषभदेव का नाम भी वेदों में मिलता है। जैन विचारधारा के प्रवर्तक चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। जिनको "जिन" नाम दिया गया है, इस कारण से कि उन्होंने राग - द्वेष को जीत कर निर्वाण-पद प्राप्त कर लिया था, इनमें सर्वप्रथम तीर्थंकर ऋषभ देव माने जाते हैं और वर्द्धमान या महावीर चौबीसवें तीर्थंकर थे, इनका जन्म ईसा से पूर्व छटी शताब्दी में गौतम बुद्ध से कुछ वर्ष पहले हुआ था, इन तीर्थंकरो ने अपनी साधना के द्वारा संसारके बन्धनों से मुक्त होकर पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शक्ति तथा पूर्ण आनन्द रूपी मोक्ष-पद प्राप्त कर लिया था, और संसार के सभी मनुष्यों के लिए ऐसा उपदेश दिया था जिस पर चल कर सभी मनुष्य मुक्त हो सकें।

जैनों का यह विश्वास है कि संसार में बंधन ग्रस्त सभी जींव तीर्थंकरों के बताए मार्ग पर चलकर उन्हीं की तरह मुक्त, सिद्ध, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा आनन्दमय हो सकते हैं।

जैन विचार धारा की कुछ विशेषताएं भारत की अन्य विचार धाराओं की तरह से कुछ भिन्न हैं जिनके कारण भारतीय दर्शन का स्थान संसार के और दर्शनों से अधिक ऊंचा व उदार हो गया है। इनमें से कुछ विशेषताओं का हम यहां संक्षेप से संकेत करते हैं :—

जैनियों के यहां ज्ञान को सीमित न मानकर उसमें मनुष्य को प्राप्य सभी प्रकार के ज्ञानों का समावेश किया है। उन्होंने ज्ञान के पाँच भेद माने हैं, (१) श्रुति, (२) मति, (३) अवधि, (४) मन: प्रयय और (५) केवल।

(१) पहले दो श्रुति और मति सर्वसाधारण में पाये जाने वाले ज्ञान हैं।

(२) अवधि ज्ञान वह है जिसमें कुछ साधना करने पर मनुष्य अत्यन्त दूरस्थ सूक्ष्म तथा स्पष्ट द्रव्यों को भीं जान सकता हैं, इस ज्ञान को आधुनिक परामनोविद्या Parapsychology में clairvoyance कहते हैं।

(३) मन: प्रयय वह ज्ञान है जिसमें अन्य व्यक्तियों के वर्तमान तथा भूत विचारों को जाना जा सकता है, इसको आधुनिक मनोविज्ञान में Telepathy कहते हैं।

(४) केवल ज्ञान मुक्त जीवो और तीर्थंकरों के उस ज्ञान को कहते है जो बाधा रहित अनन्त ज्ञान होता है।

जैनों के मत में प्रत्येक वस्तु के अनन्त प्रकार होते हैं, वस्तु के पूर्ण ज्ञान के लिए उसके सब प्रकारों का ज्ञान होना आवश्यक है। किसी एक प्रकार से जब उसका वर्णन करते हैं तो यह व्यक्त करने के लिए उसके सम्बन्ध में और भी कुछ कहा जा सकता है अपने वर्णन के साथ में 'स्यात' शब्द जोड़ दिया जाता है। इसी कारण से

जैन दर्शन को स्यातवाद भी कहते हैं। प्रत्येक वस्तु के अनेक रूप आकार होने के कारण जैन दर्शन को अनेकान्तवाद भी कहते हैं। पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए उस वस्तु के सब प्रकारों का ज्ञान होना चाहिए।

चूंकि किसी वस्तु के सब प्रकारों का ज्ञान सब मनुष्यों को होना असम्भवहै केवल मुक्त पुरुषों को ही हो सकता है. इसलिए मनुष्यों के सांसारिक व्यवहार में अपने विचारों में कट्टरता नहीं होनी चाहिए, स्यादवादी रहकर उदारता के साथ दूसरों के साथ व्यवहार व विचार विमर्श करना चाहिए। न किसी के मन को अपनी कट्टरता द्वारा क्लेष पहुँचाना चाहिए न किसी को अपनी क्रूरता द्वारा कष्ट पहुँचाना चाहिए। इसी का नाम जैन विचारधारा में "अहिंसा" है। जैन विचार धारा अहिंसा के ऊपर बहुत बल देती है।

जैनियों के अनुसार जीव अनन्त है और सब जीवों में तीर्थकरों द्वारा बनाई हुई साधना के द्वारा मुक्त होने की सम्भावना है। मुक्त अवस्था में मन कर्मों के बन्धन छूटकर ज्ञान, बल और आनन्द का पूर्ण रूप से अनुभव होता है। सभी जीव उस साधना द्वारा इस अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए किसी जीव को भी तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए न किसी जीव को अपनी ओर हीन भावना रखनी चाहिए। स्वावलम्बन के द्वारा अपनी कमियों को पूरा करके और शुभकर्मों द्वारा मुक्ति को प्राप्त करना चाहिए।

जैन लोग सृष्टि को ईश्वर कृत नहीं मानते। सृष्टि का आरम्भ कभी नहीं हुआ। सृष्टि का क्रम सदा ही से चलता आ रहा है। जिसमें पुद्गल और जीवों का सम्बन्ध संजोग होकर जीवों के कर्म की सृष्टि होती है और जीव संसार में नाना प्रकार की गतियों का उपभोग करता है। पुद्गल, जड़, तत्वो (Matter) को कहते है सम्यग् दर्शन, समज्ञान और सम्यक् चरित्र के रूप में जिनको जैनों ने 'त्रिरत्न' कहा है पुरुषार्थ करने से जीव पुद्गल के संयोग के छुट्टी पाकर मुक्तावस्था में अपने शुद्ध स्वरूप व शक्तियों का अनुभव करता है। उसी अवस्था को मोक्ष कहते हैं।

मोक्ष प्राप्ति के लिए किसी ईश्वर या देवता की उपासना करने की आवश्यकता नही। जैन लोग सृष्टि कर्ता ईश्वर को नहीं मानते। मोक्ष का मार्ग है केवल तीर्थकरों के सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र रूपी मार्ग का अभ्यास करना, सम्यक् का अर्थ यहाँ पर यथावत् तथा यथोचित है। सम्यक् चारित्र में ये पंचमहाव्रत किसी न किसी रूप में माने गये हैं, अहिंसा, सत्य अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (विषयाशक्ति का त्याग)।

वर्तमान हिन्दू संस्कृति या सनातन धर्म में जैन विचार धारा व व्यवहार का कितना समावेश हो गया है और इसने इसको कितना प्रभावित किया है यह पाठक भली भांति समझ सकते हैं। ये भी समझ में आ सकता है कि इन बातों को मानकर उन पर चलने से संसार के सभी मानवों का कल्याण हो सकता है। इसलिए गवेषणा के इस अंक में जैन विचार धारा के प्रमुख सिद्धान्तों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया जाता है। भारतीय संस्कृति के मुख्य और परस्पर संलग्न अंग है। वैदिक धर्म जैन विचार धारा और बौद्ध दर्शन इनमें से किसी एक को भी अलग करके भारतीय संस्कृति का रूप वह नहीं रह सकता जो भारत के तथा मानव मात्र के लिए वाञ्छनीय व कल्याणकारी हो।

जीवन में अनेकांत

इन्द्र चन्द्र शास्त्री

एक ही वस्तु को देखने के दो दृष्टिकोण हैं —

(१) व्यक्तिलक्ष्यी और (२) वस्तुलक्ष्यी। व्यक्तिलक्ष्यी दृष्टिकोण में व्यक्ति अपनी परिस्थिति को लक्ष्य में रखता है। उसके निर्णय में तत्कालीन परिस्थिति, वातावरण, रागद्वेष एवं वैयक्तिक भावनाएं मिली रहती हैं। दूसरा दृष्टिकोण इन परिस्थितियों में सीमित नहीं होता। वहाँ इनकी उपेक्षा नहीं की जाती, किन्तु, उनके साथ अन्य परिस्थितियों का भी ध्यान रक्खा जाता है। निर्णय से पहले व्यापक निरीक्षण और यह जानने का प्रयत्न किया जाता है कि एक ही वस्तु विभिन्न परिस्थियों में कैसी दिखाई देती है। प्रथम दृष्टिकोण को एकांतिक दृष्टिकोण कहा जाएगा और द्वितीय को अनेकांतिक।

प्रसिद्ध इतिहासकार टायनबी ने इसी को ऐतिहासिक दृष्टिकोण कहा है। सच्चा इतिहासकार किसी व्यक्ति, देश, या काल में सीमित नहीं होता। वह अपना निर्णय देने से पहले यथा संभव अधिकतम घटनाओं का निरीक्षण करता है। निरीक्षण जितना व्यापक होता है, निर्णय उतना ही सत्य के अधिक समीप होता है।

हम विश्व में होने वाले परिवर्तनों को देखते हैं और अपनी बुद्धि के अनुसार उनकी व्याख्या करते हैं। वास्तव में देखा जाये तो उस प्रभाव को प्रकट करते हैं, जो घटना-चक्र हम पर डालता है। वह व्याख्या इस बात को नहीं बताती कि विश्व अपने आप में क्या है। यह रहस्य छिपा ही रह जाता है। प्रायः इस प्रकार का दृष्टिकोण भ्रामक होता है। साधारण व्यक्ति स्वभावतः स्वकेंद्रित होता है। उसका दृष्टिकोण आंशिक और आत्मलक्ष्यी होता है। यदि सभी मनुष्य परस्पर समान होते, यंत्रनिर्मित वस्तुओं के समान सभी एक ही सांचे में ढले होते, तो विश्व के सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण अत्यंत संकुचित होता। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। एक ही वातावरण का भिन्न-भिन्न मनुष्यों पर भिन्न-भिन्न प्रभाव होता है। एक ही जलवायु एक को कर्मठ एवं साहसी बनाती है और दूसरे को निर्बल एवं परावलंबी। प्रत्येक व्यक्ति अपनी विशेषता रखता है। वह वातावरण

तथा परिस्थिति को अपनी दृष्टि से देखता है और तदनुसार धारणा बनाता है। शरीर-शास्त्री विश्व को जिस दृष्टिकोण से देखता है, कवि का दृष्टिकोण उससे भिन्न होता है। इसी प्रकार दार्शनिक, धर्माचार्य, राजनीतिज्ञ, समाजशास्त्री, व्यापारी तथा वैज्ञानिक सभी के दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न होते हैं। सत्य पर पहुँचने के लिये उन सभी पर विचार करने की आवश्यकता है।

एकांत से ऊपर उठने के लिए बुद्धि तथा हृदय का परिमार्जन आवश्यक है। इसके लिये एक ओर बद्धमूल धारणाओं को छोड़ना होता है, दूसरी ओर रागद्वेष एवं अन्य स्वार्थों से ऊपर उठना।

वास्तव में देखा जाये तो स्वकेंद्रता पार्थिव जीवन का अवश्यंभावी परिणाम है। संसार में जितने जड़ तत्व हैं, वे किसी अज्ञात शक्ति या नियम के अनुसार चल रहे हैं, किन्तु चेतन तत्व अपनी विशेषता रखता है। वह आंशिक रूप में उस अज्ञातधारा से अलग होकर अपनी स्वतन्त्रता का उत्तरोत्तर वृद्धि करना चाहता है। इतना ही नहीं, अन्य शक्तियों को अपने अधीन करना चाहता है। उन्हें अपनी इच्छानुसार चलाना चाहता है। दूसरे शब्दों में यों कहा जाएगा कि प्रत्येक प्राणी अपने आपको विश्व का केंद्र बनाना चाहता है। इस प्रयत्न में वह दूसरे प्राणियों के साथ टकराता है, अचेतन तथा चेतन शक्तियों के साथ संघर्ष करता है। विश्व में होने वाली समस्त उथलपुथल का यही रहस्य है।

स्वकेंद्रता का ही दूसरा नाम जीवन है। हम जीना चाहते हैं और उसके लिये अनुकूल परिस्थिति का चुनाव करते हैं। यह चुनाव ही एकांत है। दूसरे शब्दों में यों कहा जाएगा कि एकांत जीवन का अनिवार्य तत्व है किन्तु जीवन शब्द अपने आप में भ्रामक है। हम शरीर, संपत्ति आदि बाह्य वस्तुओं के सग्रह को जीवन मानते हैं, इसलिए भारत की आध्यात्मिक परम्पराएं उसे बधन एवं हेय कहती हैं। वे मृत्यु की उपासना करती हैं। ऐसी मृत्यु जिसके पश्चात् जीवन ग्रहण न करना पड़े। वास्तव में वह मृत्यु ही अमर जीवन है और सांसारिक जीवन प्रतिदिन की मृत्यु। बौद्ध धर्म ने जीवन को तृष्णा कहा है और मृत्यु को निर्वाण। जैन धर्म में इन्हें क्रमशः मोह और मोक्ष कहा गया है योगदर्शन में क्लेश और कैवल्य।

दार्शनिक क्षेत्र में स्वकेंद्रता, बौद्धिक व्यामोह है और धार्मिक क्षेत्र में पाप।

जब तक मानसिक धरातल संकुचित रहता है, दार्शनिक दृष्टिकोण का विकास नहीं हो पाता। इसके लिये दो बातें आवश्यक हैं—पहली बात यह है कि हम दूसरे के अस्तित्व को भी स्वीकार करें। सिंह अपने ही व्यक्तित्व को महत्व देता है, उसके सामने दूसरे प्राणियों के अस्तित्व को स्वीकार नही करता। प्राचीन मानव अपने व्यक्तित्व को कुल, जाति अथवा भौगोलिक सीमाओं में बंद समझता रहा। फलस्वरूप एक कुल दूसरे कुल के लिये, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के लिये अभिशाप बन गये। अनेकांतिक दृष्टिकोण इन सब सीमाओं को समाप्त कर देना चाहता है। दूसरी बात अनुभूति है। हम अपने सुख-दुख की अनुभूति जिस उत्कट मात्रा में करते हैं, दूसरे की नहीं करते। जैन अनुभूति के क्षेत्र को भी असीम बना देना चाहता है। इसी का दूसरा नाम है–अहिंसा की उपासना।

जीवन में अनेकाँत

प्रत्येक प्राणी में सर्वप्रथम भावना अपने संरक्षण की होती है। पैदा होते ही उसे इस बात की चिन्ता लग जाती है। जिन व्यक्तियों को उसमें सहायक समझता है, उनसे प्रेम करता है और जिन्हें बाधक, उनसे द्वेष। जिन्हें प्रबल मानता है, उनसे भयभीत होता है और जिन्हें निर्बल, उन पर आक्रमण करने लगता है। शिशु माता से प्रेम करता है, अपरिचित व्यक्तियों से घबराता है और कीड़े मकोड़े आदि छोटे जंतुओं को मारने के लिये तैयार हो जाता है।

ज्यों-ज्यों बड़ा होता है और जिस अनुपात में अपने को सुरक्षित समझता है, एक नई भावना प्रकट होती जाती है। वह है अहंकार की भावना। वह दूसरे पर अधिकार जमाना चाहता है। उसके न्यायोचित अधिकार को छीनना चाहता है। कहीं पर इसका लक्ष्य वैयक्तिक आवश्यकता की पूर्ति होता है, कहीं इंद्रियतृप्ति और कहीं मिथ्या अस्मिता का पोषण। पशु अपनी भूख, प्यास आदि आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दूसरे का अधिकार छीनता है। विषयासक्त साधारण मनुष्य इंद्रियतृप्ति के लिये। शासक तथा लोकनेता अस्मिता की पूर्ति के लिये। इसके लिये कोई हिंसात्मक उपायों को काम में लाता है, कोई प्रचार, प्रदर्शन तथा प्रलोभन को कोई ऐहिक सुखों का प्रलोभन देता है और कोई पारलौकिक सुखों का। साथ में तरह-तरह के भय भी बताए जाते हैं। शासक प्राणदंड का भय बताता है। समाजनेता लोकनिंदा का और धर्म नेता नरक का। अस्मिता पूर्ति के इन उपायों का मूल्यांकन हिंसा और अहिंसा के आधार पर किया जा सकता है। क्रूर शासक का आधार शारीरिक हिंसा है। वह निम्नतम श्रेणी पर है। सामाजिक बहिष्कार का भय प्राचीनकाल में शारीरिक दंड के रूप में परिणत हो जाता था। किन्तु अब उसका प्रभाव घट गया है। फिर भी इतना अवश्य होता है कि व्यक्ति को विकास के लिये जो सुविधाएं तथा प्रोत्साहन मिलना चाहिए, वह बंद हो जाता है। फलस्वरूप उसकी प्रगति रुक जाती है। नरक का भय तथा स्वर्ग के प्रलोभन उसी व्यक्ति पर असर करते हैं जो उसमें विश्वास रखता है। वर्तमान जगत में इनका प्रभाव भी समाप्त प्राय होता जा रहा है। किन्तु समस्त, धार्मिक परम्पराओं का इतिहास इस बात को प्रकट करता है कि प्राचीन काल में यह प्रभाव बहुत उग्र था। पोप तथा धर्माचारी जिसे चाहते स्वर्ग में भेजदेते थे, और जिस पर नाराज होते उसे नरक में। इस प्रकार धर्म संस्था पर भी वैयक्तिक अस्मिता छाई हुई थी।

इन अस्मिताओं में परस्पर टक्करें हुई और प्रत्येक क्षेत्र विषाक्त हो गया। धर्माचार्य आत्मसाधना को छोड़कर दूसरे की निन्दा तथा दोषोद्भावन में लग गये। लोकसेवक रचनात्मक कार्य को छोड़कर दूसरे को नीचा दिखाने में। विचारकों ने लोक कल्याण के लिये अनेक सिद्धान्तों का आविष्कार किया, किन्तु प्रत्येक सिद्धान्त पर अस्मिता का आवरण चढ़ गया। और वह उत्थान के स्थान पर पतन का कारण हो गया। इसी आवरण को जैन परिभाषा में एकांत कहा जाता है। वेदान्त में इसी का नाम अविद्या है। योगदर्शन में क्लेश। सांख्य दर्शन में रजोगुण। बौद्धदर्शन में तृष्णा तथा तंत्रसाधना में कंचुक। सभी की यह मान्यता है कि इसे दूर करने पर ही सत्य का दर्शन हो सकता है।

जैन परिभाषा में इसे एकांत से अनेकांत की ओर अग्रसर होना कहा जाएगा। इसका अर्थ है अपने व्यवहार तथा विचार में दूसरों का भी ध्यान रखना। इसको सापेक्ष दृष्टि भी कहा जाता है। अर्थात् व्यवहार करते समय केवल अपनी सुख-सुविधा का ध्यान न रखकर दूसरे का भी ध्यान रखना। इसी प्रकार निर्णय करते समय दूसरी दृष्टियों को भी ध्यान में रखना। अपने व्यवहार में जो व्यक्ति दूसरों का जितना अधिक ध्यान रखता है, वह उतना ही सभ्य कहा जायेगा। इसी प्रकार निर्णय करते समय जितने अधिक दृष्टिकोणों पर विचार किया जायेगा, हम उतना ही सत्य के समीप होंगे। धर्म, दर्शन, इतिहास, कला, विज्ञान आदि प्रत्येक विद्या का यही लक्ष्य है कि मनुष्य को स्वकेन्द्रित अवस्था में ऊपर उठाकर सर्वकेन्द्रित बनाना। धार्मिक जगत में इसे समता कहा जाता है। दर्शन शास्त्र में सापेक्षवाद और राजनीति में लोकतन्त्र। कला के क्षेत्र में इसका अर्थ होगा वैयक्तिक अनुभूति और सार्वजनिक अनुभूति में समरसता। सच्चा कलाकार वही है जो प्राणीमात्र की अनुभूति को अपनी अनुभूति बना लेता है। सच्चा वैज्ञानिक वैयक्तिक धारणाओं को अलग रखकर वस्तु की गहराई में उतरता है।

धर्म और अनेकांत

धर्म का लक्ष्य मनुष्य को वैयक्तिक भूमिका से ऊपर उठाकर किसी ऐसी भूमिका पर लाना है जहाँ वह दूसरों के साथ समानता या एकता का अनुभव कर सके। कुछ धर्मों ने व्यक्ति को अपना लक्ष्य बनाया और कुछ ने समाज को। व्यक्तिवादी धर्मों ने उस तत्व की ओर ध्यान आकृष्ट किया, जहाँ प्रत्येक प्राणी दूसरे प्राणी के समान है। समाजलक्ष्यी धर्मों ने एक ऐसे अतींद्रिय तत्व को प्रस्तुत किया जिसे प्राप्त कर लेने पर वैयक्तिक भेद मिट जाता है। समतावादी धर्मों ने दुःख तथा बंधन का कारण वैषम्य बुद्धि को बताया। एकतावादी धर्मों ने भेदबुद्धि को। वैषम्य से साम्य की ओर तथा भेद से अभेद की ओर अग्रसर होने को दूसरे शब्दों में एकांत से अनेकांत की ओर बढ़ना कहा जा सकता है।

एकांतवादी दूसरे के साथ व्यवहार करते समय 'स्व' को मुख्यता देता है और पर को भूल जाता है। उसे 'स्व' के समान 'पर' को भी महत्व देने का पाठ सिखाना ही अनेकांत की शिक्षा है। वैदिक परंपरा समाजलक्ष्यी है। उसके मुख्य चार तत्व हैं। (१) जगत् कर्त्ता के रूप में ईश्वर में विश्वास (२) वेदों में विश्वास (३) वर्णव्यवस्था तथा (४) आश्रम व्यवस्था। ईश्वर में विश्वास व्यक्ति को यह प्रेरणा देता है कि अपने संकुचित अस्तित्व को भूलकर उस महान् अस्तित्व को जीवन में उतारने का प्रयत्न करता रहे। समस्त विश्व को तद्रूप समझे। पृथक् अस्तित्व को भूलकर अपने आप को उसमें विलीन करता चला जाय। उसके सुख को अपना सुख तथा उसकी उन्नति को अपनी उन्नति माने। यह विश्वास उसके हृदय को विशाल बनाता है।

वेदों में विश्वास मनुष्य को बौद्धिक सकोंच से मुक्त करता है। प्रत्येक मनुष्य अपनी बुद्धि को सर्वोपरि मानता है। चाहता है सभी उसके निर्णय को स्वीकार करें। उसके आदेश का पालन करें। वेदों का संदेश है कि ज्ञान व्यक्ति विशेष की बुद्धितक सीमित नहीं है, उसे अपना मस्तिष्क खुला रखना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह अंधविश्वासी हो जाए। उपनिषदों में श्रवण के साथ मनन को भी आवश्यक माना

गया है। इसका अर्थ है पहले श्रद्धापूर्वक शास्त्र की बात सुननी चाहिए। फिर उस पर अपनी बुद्धि से मनन करना चाहिये। उसके बिना सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता। किन्तु पुरातन ज्ञान का सहारा लिए बिना केवल अपनी बुद्धि से चलने वाला भी सत्य पर नहीं पहुच सकता हमारे ज्ञान का ९ प्रतिशत दूसरों की शिक्षा या पुस्तकों पर निर्भर होता है। जीवन में उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

तीसरा तत्व वर्ण व्यवस्था है। इसका अर्थ है वैयक्तिक योग्यता के अनुसार कर्त्तव्य का विभाजन। किसी व्यक्ति में बुद्धि की प्रधानता होती है। किसी में शारीरिक शक्ति की और किसी में व्यवस्था या योजना शक्ति की, कोई सरल और श्रमजीवी होता है। समाज को सभी प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, उसकी उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार समाजरूपीयज्ञ में भाग ले। दूसरी ओर समाज प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता पूर्ण करे। इस प्रकार इसके मूल मे भी समता का सिद्धान्त है। किन्तु यह बाह्य समता नहीं है। एक व्यक्ति पहलवान है, दूसरा कारीगर, तीसरा विद्वान। यदि तीनों से एक ही काम लिया जाएगा तो यह समता का उपहास होगा। वस्तुत: देखा जाये तो वहां समता के स्थान पर विषमता हो जाएगी। क्योंकि पहलवान को शारीरिक श्रम करने में सुख होगा और विद्याजीवी को कष्ट। अत: समता का आधार बाह्य जीवन नहीं है, किन्तु योग्यता और आन्तरिक अनुभूति है। इसी को भगवद्गीता में गुण-कर्म कहा गया है। वितरण के क्षेत्र में भी समता का यही सिद्धांत लागू होता है। एक व्यक्ति का मनोरंजन स्वादिष्ट भोजन से होता है, दूसरे का चित्रपट से और तीसरे का तात्विक चर्चा द्वारा। यदि तीनों को एक ही प्रकार की सामग्री दी जाएगी तो एक सा मनोरञ्जन न होगा और समता के स्थान पर विषमता आजाएगी। अत: यहां भी अनुभूतियों का ध्यान रखना आवश्यक है।

धर्मसंस्था और भी आगे बढ़ती है। उसका कथन है कि रुचि के साथ हित का भी ध्यान रखना आवश्यक हैं। इस पर चिंतन करते हुये— मनीषियों ने यह अनुभव किया कि परस्पर संघर्ष एव अन्य समस्याओं का समाधान करने के लिये व्यक्ति के जीवन में त्याग आना चाहिए। राजनीति व्यक्ति को अपने अधिकार के लिये लड़ना सिखाती है। किन्तु अधिकार की कोई सीमा नहीं होती। बलवान निर्बलों के अधिकारों को छीनकर उन पर शासन करना अपना अधिकार समझता है। वह मानता है कि निर्बल को स्वतन्त्र होकर जीने का अधिकार नहीं होता। फलस्वरूप बलाबल का निर्णय करने के लिये युद्ध होते हैं। न्याय पर उच्छृंखल शक्ति का आधिपत्य हो जाता है। और शारीरिक या शस्त्रबल तक सीमित नहीं होती। छल कपट, मिथ्या-प्रचार, विश्वासघात, षडयंत्र आदि सभी उपाय काम में लाए जाते हैं। दूसरी ओर धर्म का कथन है कि व्यक्ति को अपना ध्यान कर्त्तव्य पर रखना चाहिए। अधिकार के क्षेत्र को घटाते जाना चाहिए और कर्त्तव्य के क्षेत्र को विस्तृत। इसकी अंतिम सीमा वहां है, जहां अधिकार कुछ नहीं रहता। सब कुछ कर्त्तव्य हो जाता हैं। इसी अवस्था को वेदान्त में ब्रह्मलय, बौद्ध धर्म में शून्यविलय और जैन धर्म में वीतरागता कहा गया है। वैदिक परम्परा के अनुसार यह सामाजिकता की पराकाष्ठा है। जैन तथा बौद्ध धर्म के अनुसार व्यक्तित्व के विकास की।

वैदिक परम्परा का चौथा तत्व आश्रम व्यवस्था है। इसका भी एकमात्र लक्ष्य व्यक्ति को संकुचित भूमिका से ऊपर उठा कर सार्वजनिक भूमिका पर लाना है। प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य हैं, जहाँ कर्त्तव्य क्षेत्र में उतरने के लिये आवश्यक योग्यता का सम्पादन किया जाता हैं, द्वितीय गृहस्थाश्रम है। इसमें व्यक्ति समस्त सामाजिक उत्तरदायित्व को निभाता है। इसके लिये पाँच यज्ञों का विधान है।

(१) भूतयज्ञ—भूखे पशु-पक्षियों को भोजन देना। यह इस बात को सूचित करता है कि भारत में सामाजिकता का क्षेत्र मनुष्य तक सीमित नहीं था। उसमें पशु-पक्षियों को भी सम्मिलित किया जाता था।

(२) अतिथियज्ञ—भोजन, निवास आदि के द्वारा अतिथि का सत्कार।

(३) पितृयज्ञ—पूर्वजों का स्मरण तथा उनके प्रति सत्कार प्रदर्शन।

(४) ऋषियज्ञ—ज्ञानियों के प्रति सत्कार, उनकी रचनाओं का अध्ययन।

(५) देवयज्ञ—विश्व का संचालन करने वाली अतींद्रिय शक्तियों का स्मरण और सत्कार प्रदर्शन।

ये यज्ञ गृहस्थ को सबके साथ सामाजिक सम्बन्ध जोड़ने की प्रेरणा देते हैं। भूत-यज्ञ प्राणिमात्र के प्रति सहानुभूति कर संकेत है। अतिथियज्ञ अपरिचित नवागंतुक के सत्कार की प्रेरणा देता है। पितृयज्ञ वर्तमान की सकुचित परिधि से निकालकर अतीत के साथ सम्बन्ध जोड़ता है। ऋषियज्ञ बुद्धि को विशाल बनाता है। और देवयज्ञ प्रच्छन्न महान शक्तियों की ओर संकेत करता है। पाँचों का लक्ष्य हमारी संकुचित परिधि का विस्तार है।

तीसरा आश्रम वानप्रस्थ है। इसमें प्रवृत्तियाँ घट जाती हैं। व्यक्ति का झुकाव विधेयात्मक जीवन को छोड़कर निवृत्ति की ओर हो जाता हैं। इसमें भी वह साम्य की साधना करता है। किन्तु दिशा बदल जाती है। दूसरों की सेवा के स्थान पर वह त्याग की ओर झुकता है। उसका लक्ष्य सामाजिक साम्य के स्थान पर आध्यात्मिक साम्य हो जाता है। वह धनसंपत्ति, परिवार आदि वैयक्तिक अधिकार की वस्तुओं को वैषम्य का कारण मानता हैं और उन्हें छोड़ता चला जाता हैं।

चौथा आश्रम संन्यास है। वहाँ त्याग अपनी पूर्णता पर पहुँच जाता है। धन-संपत्ति तथा परिवार का सर्वथा त्याग कर दिया जाता है। शरीर के प्रति भी ममत्व नहीं रहता। साधक उस तत्व में लीन होने का अभ्यास करता है, जो समस्त भेदों से परे हैं। जहाँ सब अपना हो जाता हैं। पराया कुछ नहीं रहता।

बौद्ध धर्म का उच्चतम रूप शून्य साधना है। उसका मुख्यबल तृष्णा के नाश पर है। तृष्णा व्यक्ति के विचारों को संकुचित कर देती है। किसी वस्तु को प्राप्त करने की तृष्णा होती है, किसी को छोड़ने की जिसे प्राप्त करना चाहते हैं : उसके गुण दिखाई देते हैं और जिसे छोड़ना चाहते है उसके दोष। इस प्रकार दृष्टि मलिन हो जाती है, इसे दूर करने के लिये बौद्धधर्म ने सभी वस्तुओं की क्षणिकता निस्सारता और शून्यता पर बल दिया। उसने तो यहाँ तक कहा कि साधना के लक्ष्य को लेकर भी हमारी दृष्टि सकुचित नहीं होनी चाहिए। प्रायः सभी धर्मों ने आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया

है। और उसकी अभिव्यक्ति को साधना का लक्ष्य बताया है। किन्तु बौद्ध धर्म का कथन है कि यह भी संकुचित वृत्ति है। आत्मा नामका कोई शाश्वत तत्व नहीं है वह केवल अनुभूतियों का प्रवाह है। जिस प्रकार नया पानी न आने पर नदी का प्रवाह सूख जाता है, इसी प्रकार नई अनुभूतियाँ न होने पर आत्मा नामका प्रवाह भी सूख जायेगा। नई अनुभूतियों का न होना ही शून्य समाधि है। आत्मतत्व के इस अपलाप को बौद्ध परि-भाषा में पुद्गल-नैरात्म्य कहा जाता है। उसका यह भी कथन है कि हम रूप और आकार को देखकर उनके आधारभूत किसी द्रव्य की कल्पना करते हैं। किन्तु उसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं होती। महायान का विकास होने पर वह और भी आगे बढ़ गया। उसने कहा कि हमें रूप रस आदि की प्रतीति होती है, इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे धर्म वास्तव मे विद्यमान हों बिना वस्तु के भी प्रतीति होती है। फलस्व-रूप रूप, रस आदि गुणों की सत्ता का भी अपलाप कर दिया गया। इसे बौद्ध परिभाषा में धर्म नैरात्म्य कहा जाता है। अंत में प्रतीति पर विचार प्रारम्भ हुआ। उसे सत्, असत् आदि की विभिन्न कोटियों में रखकर परीक्षा की गई। किन्तु वह कहीं भी ठीक न बैठी। इसी परीक्षण ने शून्यवाद को जन्म दिया। बौद्धधर्म का विकास इस तथ्य को प्रकट करता है कि गहराई में जाने पर कोई बात ठीक नहीं उतरती। अंत में जो रहता है वह शून्य है। ऐसी स्थिति में तृष्णा कैसी ? और आग्रह कैसा। जैन दर्शन में अनेकांत के अस्ति-नास्ति आदि सात अंग किए गए हैं। भंग अवक्तव्य है। इसका अर्थ है वस्तु को हां या ना किसी रूप में नहीं कहा जा सकता। जैन धर्म का मुख्यबल समता पर है। दैनंदिन कर्त्तव्य के रूप में जैन धर्म ने जिस व्रत का विधान किया है उसे सामायिक कहा जाता है। गृहस्थ इसे कुछ समय के लिये करता है। साधु का तो यह जीवन व्रत ही होता है। सामायिक का अर्थ है, समता की आराधना। जैन साधुओं के लिये श्रमण शब्द आता है। उत्तराध्ययन सूत्र में आया है 'समयाए समणो होइ' अर्थात् समता से समण होता है।

व्यवहार में समता का अर्थ है दूसरे की अनुभूतियों को उतना ही महत्व देना जितना अपनी अनुभूतियों को दिया जाता है। इस बात को हृदयंगम करना जिस प्रकार दुःख हमें अप्रिय है, उसी प्रकार दूसरों को भी अप्रिय है। आचारांग सूत्र में भगवान् महावीर का कथन है कि जब तुम किसी दूसरे को मारने-पीटने या कष्ट देने जाते हो तो उसके स्थान पर अपने को रखकर सोचो। यदि वह व्यवहार तुम्हें अप्रिय जान पड़ता है तो समझलो दूसरे को भी अप्रिय होगा। उसका आचरण मत करो। जैन धर्म का अहिंसावाद अनुभूतियों की समता के इसी सिद्धान्त पर आधारित है। जैन साधना में इस व्रत का प्रथम स्थान है।

वैषम्य का दूसरा कारण परिग्रह हैं। साधारणतया इसकी व्याख्या धनसंपत्ति के संग्रह के रूप में की जाती है। किन्तु सूक्ष्म विचार करने पर ज्ञात होता है कि जो तत्व हमारी बुद्धि को संकुचित बनाते हैं, वे सभी परिग्रह हैं तत्वार्थ सूत्र में उन्हें मूर्च्छा कहा है। जिसका अर्थ विवेक शक्ति का कुंठित होना।

परिग्रह शब्द में 'परि' उपसर्ग और 'ग्रह' धातु है। 'परि' का अर्थ है—चारों ओर से। ग्रह का अर्थ हैं ग्रहण करना पकड़ना। जो तत्व हमारी बुद्धि को चारों ओर

से पकड़ या जकड़ लेते हैं हैं : वे सब परिग्रह के अंतर्गत हैं। यदि संप्रदाय या परम्परा-विशेष का मोह हमारी बुद्धि को जकड़ता है तो वह भी परिग्रह है। और अनेकांत उसे छोड़ने के लिए कहता है। साधारणतया धर्माचार्य धनसम्पत्ति तथा परिवार को लेकर परिग्रह की व्याख्या करते हैं। किन्तु संप्रदाय के रूप में वे स्वयं परिग्रह बन जाते हैं।

जैन परम्परा में इसका एक ज्वलंत उदाहरण हैं। गौतम स्वामी भगवान महावीर के मुख्य शिष्य थे। उन्होंने उग्र तपस्या की सैंकड़ों व्यक्तियों को दीक्षित किया। उनके पश्चात् दीक्षित होने वाले बहुत से साधुओं ने कैवल्य प्राप्त कर लिया। किन्तु वे स्वय उससे बंचित रहे। कारण पूछने पर भगवान ने बताया—गौतम, तुम्हें मेरे व्यक्तित्व के प्रति मोह है, यही केवल्य प्राप्ति में बाधक बना हुआ है। साधना के क्षेत्र में व्यक्तित्व का मोह, विकास को रोक देता है। वहाँ उपास्य उच्चसाधना के लिये प्रेरक न रहकर बुद्धि का बधन बन जाता है। आवरण का नाश करने वाला स्वयं आवरण हो जाता है।

नयवाद जैन दर्शन का मुख्य तत्व है। उसकी व्याख्या करते हुये रत्नप्रभ सूरि ने स्तुति के रूप में बताया है—भगवान् तुम्हारा मत विचित्र है। साधारणतया विरोधी का खंडन करने वाले को अच्छा और मंडन करने वाले को बुरा कहा जाता है। किन्तु तुम उलटी बात कहते हो। जो नय दूसरे का खडन करता है उसे 'कुनय' और जो मंडन करता है उसे 'सुनम' कहते हों। यही दृष्टि अनेकांत का मूल हैं।

पाँच महाव्रत सामयिक का विस्तार हैं। प्रथम अहिंसाव्रत 'स्व' और 'पर' में समता पर बल देता है। यह वैषम्य अहकार के कारण आता है। प्रत्येक व्यक्ति का अहंकार दूसरे के अहंकार को दबाना चाहता है। फलस्वरूप अहंकारो में टक्करें होती हैं और युद्ध प्रारम्भ हो जाते है। इसे दूर करने के लिये अपने अहकार को घटाते जाने की आवश्यकता है। इसी का नाम अहिंसा है एक दिन ऐसा आता है जब 'पर' का अहंकार ही 'स्व' का अहंकार ही 'स्व' का अहकार बन जाता है। पंचम व्रत अपरिग्रह है। इसका अथ है 'स्वीय' और 'परकीय' के वैषम्य को दूर करना। शास्त्रीय परिभाषा में इसे ममत्व या ममता कहा जाता है। अहं और मम की बुद्धि समाप्त हो जाने पर साधक समता की चरम अवस्था पर पहुंच जाता है। जैन परिभाषा में इसे यथाख्यात चरित्र कहा जाता है, जो सामायिक की उत्कृष्ट अवस्था है। जो व्यक्ति इसे प्राप्त कर लेता है, उसे वीतराग या अर्हत कहा जाता है।[1] यह हुआ व्यवहार को लेकर स्व' और 'पर' में अनेकांत।

सामाजिक का दूसरा अर्थ बाह्य और आभ्यंतर-जीवन में एकता है। हमारी बुद्धि हिताहित का विवेक करती है। मन का संचालन इच्छाओं एवं जमे हुए संस्कारों द्वारा होता है। शरीर का बाह्य अनुकूलता तथा प्रतिकूलता के आधार पर। स्वस्थ व्यक्तित्व का अर्थ है : इन तीनों का सामंजस्य। किन्तु जब मन बुद्धि के अधीन नहीं रहता अर्थात् इच्छा पर विचार का नियन्त्रण नहीं रहता तो व्यक्ति पथ भ्रष्ट हो जाता है। जब

---

[1] अहिंसाव्रत स्व और पर के वैषम्य को मिटाता है और अपरिग्रह व्रत स्वीय तथा परकीय के।

शरीर पर मन का नियन्त्रण नहीं रहता तो परिस्थिति और भी भयंकर हो जाती है। उस अवस्था को विक्षिप्त या रुग्ण कहा जाता है। यहाँ अनेकांत का अर्थ है शारीरिक तत्वों का परस्पर सापेक्ष होना। इस सिद्धांत को समाज और राष्ट्र पर भी लागू किया जा सकता है। स्वस्थ समाज का अर्थ है जहाँ उसके घटक प्रत्येक अंग में सामंजस्य है। विद्वान व्यापारी, सैनिक एवं श्रमजीवी सभी एक दूसरे के पूरक हैं। वैदिक परम्परा में इसी का नाम वर्ण व्यवस्था है। राजनीति में यह सामंजस्य लोकतन्त्र का रूप ले लेता हैं। जहां न कोई छोटा है और न बड़ा। प्रत्येक नागरिक का मत समान मूल्य रखता है। सभी मिलकर अपने प्रतिनिधि चुनते हैं और उनके द्वारा लोक कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होते हैं।

दर्शन और अनेकांत

दर्शन का अर्थ है दृष्टि, वस्तु जैसी है उसे वैसा ही देखना। किन्तु जब वह स्वार्थ-बुद्धि अथवा वैयक्तिक संस्कारों द्वारा अभिभूत हो जाती है तो सम्यक नहीं रहती। यहाँ प्रश्न होता है कि हमारी दृष्टि वस्तु के समग्र रूप को नहीं देख पाती। उसका कोई अंश ही दिखाई देता है। फलस्वरूप भिन्न-भिन्न अंशों को देखने वाली दृष्टियां वस्तु को भिन्न-भिन्न रूप से ग्रहण करती हैं। ऐसी स्थिति में सत्य किसे कहा जाएगा। अनेकांत का उत्तर है : कि प्रत्येक दृष्टि अपनी-अपनी सीमा में सत्य है। किन्तु जब वह उस सीमा को पार करके दूसरी दृष्टि की सीमा में पहुंच जाती है तो मिथ्या बन जाती हैं। सत्य के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक दृष्टि अपनी-अपनी सीमा में रहे। उदाहरण के रूप में एक ही वस्तु एक ओर से चौकोर दिखाई देती है और दूसरी ओर से लम्बी, चौकोर देखने वाला यदि अपनी दृष्टि को निरपेक्ष सत्य कहेगा तो सत्य से दूर चला जाएगा। सत्य पर स्थिर होने के लिए उसे सापेक्ष रखना आवश्यक है। उसे यही कहना चाहिए कि अमुक वस्तु अमुक स्थान से देखने पर ऐसी दिखाई देती है। इसी का दूसरा नाम स्यादवाद है।

बौद्ध दर्शन में इसे संवृत्ति सत्य और वेदांत में व्यावहारिक सत्य कहा गया है।

साधना और अनेकाँत—

साधना के क्षेत्र में अनेकांत को अधिकारी भेद कहा जाता है। प्रत्येक साधना पद्धति ने योग्यता के आधार पर—अधिकारियों की अनेक श्रेणियां की हैं और प्रत्येक के लिये भिन्न-भिन्न साधनाक्रम बताया है। इसी को भूमिका भेद भी कहा गया है।

जैन धर्म में सम्यग दृष्टि, श्रावक और साधु की भूमिकाएं हैं। सम्यग् दृष्टि की साधना विश्वास तक सीमित है। श्रावक के जीवन में त्याग और सामाजिक उत्तर दायित्व का समन्वय होता हैं। साधु सामाजिक उत्तर दायित्व को छोड़कर शुद्ध आत्म तत्व की खोज में लग जाता है। चौथी अवस्था कैवल्य की है। जहाँ किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं रहता। वीतरागता स्वभाव बन जाती है।

तंत्रसाधना में अधिकारी भेद तीन भावों के रूप में आता है। तमोगुणी को पशु-भाव कहा जाता है। रजोगुणी को वीरभाव और सत्वगुणी को ब्रह्मभाव। तीनों के लिए भिन्न-भिन्न साधना-पद्धतियाँ हैं। पशुभाव मूर्ति आदिबाह्य आलम्बनों का सहारा लेता है, वीर भाव भेद बुद्धि को लेकर परमात्मा की उपासना करता है। उसे उपास्य मानता

है और अपने को उपासक। ब्रह्मभाव अपने को ही परमात्मा मानता है। इन गुणों के सम्मिश्रण से और भी अनेक अवस्थाएं हो गई हैं। बौद्धसाधना में श्रावकयान, प्रत्येक बुद्धयान तथा बोधिसत्वयान आदि मार्गों का निरूपण है। इसके लिए अष्टांग व तथा पारमिताओं की साधना बताई गई है।

इतिहास और अनेकांत

प्रसिद्ध इतिहासकार टायनबी का कथन है कि विश्व की सबसे बड़ी समस्या है व्यक्ति का स्वकेंद्रित (Self-Centered) होना। प्रत्येक व्यक्ति अपने को लक्ष्य में रखकर सोचता है। अपने को लक्ष्य में रखकर निर्णय देता हैं। उसी दृष्टि से किसी को मित्र कहता है, किसी को शत्रु। किसी को भला, किसी को बुरा। किसी को उपादेय, किसी को हेय। इतिहास का कार्य है उसे स्वकेंद्रितता की इस संकुचित परिधि से निकालकर व्यापक भूमिका पर लाना। सच्चा इतिहासकार वही हो सकता है जो निष्कर्ष पर पहुचने से पहले विश्व की घटनाओं का व्यापक पर्यालोचन करता हैं। देश तथा काल की संकुचित परिधियों से ऊपर उठकर सोचता है। निरीक्षण जितना व्यापक होगा, उतना ही उसका निष्कर्ष सत्य के समीप होगा। इसी प्रकार उसका सूक्ष्म होना भी आवश्यक है। बाह्य हलचल को देखकर निष्कर्ष निकालने वाला सत्य पर नहीं पहुँच पाता। उसके लिए यह जानने की आवश्यकता है कि किस परिस्थिति में ऐसा हुआ। उसके पीछे कौनसी मनोवृत्ति काम कर रही थी। वातावरण कैसा था। यदि वही घटना किसी दूसरी जगह होती तो क्या परिणाम निकलता। इन तथ्यो को ध्यान में रखकर ही उसे अपना निर्णय देना चाहिये।

जैन धर्म में इसके लिये चार अपेक्षाए बताई गई है—

(१) द्रव्य
(२) क्षेत्र
(३) काल
(४) भाव

द्रव्य का अर्थ हैं व्यक्ति। समान परिस्थिति होने पर भी प्रत्येक व्यक्ति में प्रतिक्रिया एक सी नहीं होती। संकट आने पर एक व्यक्ति घबरा जाता है और विवेक खोकर भूलें करता चला जाता हैं। उसका हृदय संकुचित और निर्बल हो जाता है। भय और अशांति बढ़ जाती है। दूसरा साहस से साथ अपने निश्चय पर दृढ़ रहता है। उसके लिये विषम परिस्थिति एक प्रकार का मानसिक व्यायाम होती है। और बल वृद्धि करती है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति भावुक और संवेदनशील होता है। कोई तार्किक या बुद्धि-प्रधान। धनवान और दरिद्र, शिक्षित और अशिक्षित, बालक, युवक तथा वृद्ध आदि पर परिस्थिति का भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है।

दूसरा तत्व क्षेत्र है। एक ही घटना यदि भारत में होती है तो उसकी प्रतिक्रिया दूसरी होगी और यदि रूस या अमरीका में तो अन्य प्रकार की।

तीसरा तत्व काल है—इसका अर्थ है सामयिक परिस्थिति। ज्यों-ज्यों समय बदलता है, मनुष्य की धारणाएं और वातावरण भी बदलता जाता है। प्राचीन समय में

जो धारणाएं थीं, वे अब नहीं रहीं। पाप-पुण्य तथा भले-बुरे की परिभाषाएं बदल गई। निर्णय करते समय उसे ध्यान में रखना आवश्यक है।

चौथा तत्व भाव अर्थात् परिस्थिति है। एक ही व्यक्ति कभी प्रसन्न होता है और कभी अप्रसन्न, कभी सुखी, और कभी दुखी। कभी संपन्न, कभी विपन्न। प्रत्येक परिस्थिति में निर्णय बदलते हैं। सत्य को प्राप्त करने के लिये उन सब पर विचार करने की आवश्यकता है। इसके बिना सच्चा इतिहास नहीं लिखा जा सकता।

समाज और अनेकाँत

धर्म जिस मर्यादा को आत्मा, ईश्वर, पुण्य-पाप आदि अतींद्रिय तत्वों के आधार पर प्रस्तुत करता है, समाज शास्त्र उसी को सहअस्तित्व और सामुहिक उन्नति के लक्ष्य को लेकर। सामाजिक जीवन का प्रारम्भ परिवार से होता है और वह मोहल्ला, नगर, प्रान्त, राष्ट्र आदि के रूप में विकसित होता है। वही जब तक सब सीमाओं को लाँघकर विश्व व्यापी हो जाता है तो धर्म का रूप ले लेता है। सहअस्तित्व और सामूहिक उन्नति के लिए दूसरे की आवश्यकताओं का ध्यान रखना तथा उसकी भावनाओं का आदर करना जरूरी है इसके बिना पड़ौस में रहने पर भी समाज का निर्माण नहीं होता। सापेक्षता, समाजव्यवस्था का मूल तत्व है। जिस परिधि में यह जिस अनुपात में रही है, उसी के अनुपात में वरदान सिद्ध हुई। वही परिधि से बाहर के क्षेत्र के लिये अभिशाप बन गई। अनेकांत समस्त परिधियों को तोड़कर विश्व व्यापी समाज की रचना करना चाहता है। उसका संदेश है कि सुविधा की दृष्टि से कार्यक्षेत्र कितना ही संकुचित हो, किन्तु दृष्टि विशाल रहनी चाहिये। दृष्टि का संकोच ही एकांत है।

वर्तमान युग जाति, वर्ण, मुहल्ला आदि संकुचित परिधियों को पार कर चुका है, किन्तु वह राष्ट्रीयता की परिधि पर अटक गया है। एक राष्ट्र का नागरिक अपने देश वालों के लिए जो सहानुभूति रखता है वह दूसरे देश के लिये नहीं रखता। अमरीकी माता का हृदय अमरीकी बालक के प्रति जितना वात्सल्यपूर्ण है, उतना रूसी बालक के प्रति नही है। हृदय की इस परिधि ने एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र के लिये भय बना दिया है और उसकी उग्रता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। अनेकांत, अनुभूति तथा बुद्धि दोनों भूमिकाओ पर इन परिधियों को समाप्त कर देना चाहता है।

राजनीति और अनेकाँत

समाजशास्त्र जिस व्यवस्था को सदभावना के आधार पर प्रस्तुत करता है, राजनीति उसी को दंड के आधार पर चलाती आ रही है। उसका उपाय हिंसात्मक रहा है। और यही उसकी असफलता का कारण है। हजारों वर्ष बीतने पर भी वह विश्व में शांति स्थापित न कर सकी। प्रत्युत उसका सहारक रूप उत्तरोत्तर उग्र होता जा रहा है।

राजनीति एकतन्त्र से प्रारम्भ हुई। और उसने वर्तमान लोकतन्त्र का रूप ले लिया। यह परिवर्तन अनेकांत के विकास को सूचित करता है। प्राचीनकाल में विधि का निर्माण न्याय तथा दण्ड तीनों विभाग राजा के हाथ में रहते थे उसकी स्वतन्त्र इच्छा ही न्याय थी। धीरे-धीरे स्मृतियों के रूप में विधिसहिता अस्तित्व में आई और राजा

से उस पर चलने की अपेक्षा की जाने लगी। न्याय के लिए मन्त्री परिषद् का सहयोग आवश्यक माना जाने लगा। राजा केवल दण्डनायक रह गया। लोकतंत्र में वह अधिकार भी जनता के हाथ में आ गया। इस प्रकार सत्ता का विकेन्द्रित होना एकांत से अनेकांत की ओर बढ़ना कहा जा सकता है।

लोकतन्त्र का तो सर्वस्व ही अनेकांत है। इसका अर्थ है प्रत्येक सदस्य के निर्णय को समान महत्व देना। जहाँ एक व्यक्ति, वह कितना ही प्रभावशाली या समझदार क्यों न हो, अपने निर्णयों को दूसरों पर लादना चाहता है, वहाँ लोकतन्त्र नहीं रहता।

वाणिज्य और अनेकांत

वाणिज्य का विकास दैनंदिन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये हुआ। जो व्यक्ति उसका संचालन करता है, वह अपने लाभ के साथ उपभोक्ताओं के लाभ का भी ध्यान रखता हैं। इसके विपरीत जिस अनुपात में वैयक्तिक लाभ को अधिक महत्व देता है वाणिज्य शोषण का रूप ले लेता हैं।

कला और अनेकांत

कला का विकास अनुभूतियों को लेकर होता है। किन्तु जिस कला पर वैयक्तिक या संकुचित अनुभूतियों की छाप होती है, वह निम्न कोटि की हो जाती है। समय-समय पर ऐसी कविताओं, का निर्माण होता रहा है जिन्होंने राष्ट्रीय, सामाजिक या द्वेष को उभारा। किन्तु उनका काव्य की दृष्टि से मूल्य नहीं वे कुछ दिन द्वेष को उभार कर अपने आप लुप्त हो गई हैं। स्थायी साहित्य में उसी कविता को स्थान मिलता है जो देश और काल की सीमा से परे होती है। वह मनुष्य ही नहीं प्रत्येक प्राणी की अनुभूति को लिये रहती है। हृदय की उस भूमिका पर पहुँच जाती हैं जहाँ प्रत्येक चेतना दूसरे के लिये संवेदनशील है।

संगीत, चित्र आदि कलाएं भी अनुभूति के उसी स्तर का स्पर्श करती हैं।

क्या देव-जैनीज़ (Diogenes) जैन थे ?

ब्रिज गोपाल तिवारी

प्राचीन बातों की खोज, कभी-कभी नामों की ध्वनि के सादृश्य के आधार पर और कभी-कभी सिद्धान्तों तथा व्यवहारों के सादृश्य के आधार पर की जाती है। उदाहरणार्थ ध्वनि के सादृश्य के आधार पर, कुछ लोगों का मत है कि अरबी शब्द 'जिन" (अर्थात् एक प्रकार का प्रेत) और भारतीय शब्द, "जैन" दोनों एक ही प्रकार के हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय के कुछ अतिशयवादी सन्त जो वैराग्य की मस्ती में स्वच्छन्दता पूर्वक नंगे बदन, शरीर पर धूल आदि की परवाह न करते हुए इधर-उधर विचरते थे, उनके विकराल रूपों में प्रेतों के रूपों से विदेशियों को सादृश्य मिला, इस लिये वे लोग प्रेतों को "जिन" कहने लगे। इसी प्रकार ध्वनि के सादृश्य के आधार पर कुछ लोग यह अनुमान लगाते हैं कि भारतीय शब्द "गौड़"—ब्राह्मणों, ठाकुरों, कायस्थों की एक उपजाति का नाम—और ईरानी शब्द "गबर"—एक अग्निपूजक जाति का नाम—दोनों एक ही प्रकार के हैं।

अब सिद्धान्तों तथा व्यवहारों के सादृश्य को लीजिए। इस सादृश्य के आधार पर डा० हीरालाल जैन अपनी पुस्तक **"भारतीय संस्कृति में जैन-धर्म का योगदान"** में यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि ऋग्वेद में उल्लिखित केशी, वृषभ तथा वातरशना मुनि ऋषभदेव से भिन्न नहीं थे। वैदिक ऋषियों के विपरीत, ये "वातरशना मुनि" समस्त गृह-द्वार, स्त्री-पुत्र, धन-धान्य आदि परिग्रह यहाँ तक कि वस्त्र का भी परित्याग कर, भिक्षावृत्ति से रहते थे। शरीर का "स्नानादि संस्कार न कर" मल धारण किए रहते थे। मौनवृत्ति से रहते थे। इस प्रकार वातरशना या गगनपरिधान-वृत्ति, केश-धारण, कपिश वर्ण, मलधारण, मौन, उन्माद-भाव आदि व्यवहार सम्बन्धी लक्षणों तथा देवताओं के आराधन को छोड़कर, आत्मध्यान सम्बन्धी विचारों के बल पर, विद्वान लेखक यह सिद्ध करने का यत्न करते है, कि जैन धर्म, अपने प्राचीन रूप में, ई० पूर्व १५०० में प्रचलित था।

इन उदाहरणों से विदित हो जाएगा, कि अनेक अन्वेषणों में या तो ध्वनि के सादृश्य या सिद्धान्तों एवं व्यवहारों क सादृश्य का सहारा लेना पर्याप्त माना जाता है। इस लेख में हम इन दोनों में किसी एक का सहारा लेने के स्थान में दोनों सादृश्यों के सम्मिलित आधारों पर, इस बात पर बल देंगे, कि सूक्ष्म अध्ययन द्वारा इस विषय के रहस्य का पूर्णतः उद्‌घाटन करने का यत्न किया जाये, कि "क्या देवजैनीज़ (Diogenes जैन थे अथवा क्या वे यूनानी विचारक जैन-धर्म के विचारो से प्रभावित थे ?"

मैं इनके नाम में ध्वनि के सादृश्य के विषय में अधिक न कहकर, केवल इतना ही उल्लेख करूंगा कि किसी इतिहास में चन्द्रगुप्त (मौर्य वंश वाले) के नाम का यूनानी रूपान्तर सैन्ड्रोकोटस (Sandrocotus) बतलाया गया है। किसी विद्वान ने यह भी बतलाया है, कि "भारगव" शब्द यूनान देश के एक भाग "फ्रिजिया" (Phrygia) से निकला है। विद्वानों का इसी प्रकार कथन है, कि अंग्रेजी का (या स्कॉच भाषा का) नाम "फार्कर" Farquhar) संस्कृत के शब्द "वीर-वर" ही का रूपान्तर है, और ईरानी शब्द "बुत" (अर्थ मूर्ति) संस्कृत शब्द "बुद्ध" का अपभ्रंश है। इसी प्रकार सम्भव है, कि "देव जिनीज़" (देव-जैनीज़ा नाम के एक भाग में "जिन" या 'जैन' 'जैनी" की ध्वनि मिलती है। शेष प्रथम भाग कवल उपसर्ग हो सकता है। "डायो" (Dio) प्रत्यय के तीन प्रयोगों में से एक, केवल उपसर्ग (Prefix) के रूप में, शब्दों के आरम्भ में होता है। अस्तु।

अब हम सिद्धान्तों और व्यवहारों के सादृश्य को ढूंढ़ेंगे। इतिहास के विद्यार्थी जानते है कि सिकन्दर के भारत पर आक्रमण करने के पूर्व, कुछ समय तक भारत के पश्चिमोत्तर भाग पर ईरानी शासकों (क्षत्रियों) का अधिकार था। सिकन्दर के आक्रमण तथा चन्द्रगुप्त-मौर्य के यूनानियों को भारत की सीमा से खदेड़कर यूनानी सेनापति सैल्यूकस (Seleucus) की पुत्री से विवाह कर लेने और अपनी राजधानी पाटलीपुत्र में यूनानी राजदूत मैगस्थिनीज़ (Megasthenes) को रख लेने के पश्चात्, भारत और यूनान का सीधा संपर्क स्थापित हो गया था। सिकन्दर की विजय के पश्चात्, ईरान, मध्य एशिया, इराक तथा पश्चिमी एशिया में यूनानी राज्य स्थापित हो गए थे। इन देशों के निवासियों और यूनानियों के सम्मिश्रण से नयी जातियां उत्पन्न हो गईं थीं। यों तो भारत का पश्चिमी एशिया और यूनान से व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध, आंशिक रूप में, एक दीर्घ काल से चल रहा था किन्तु सिकन्दर के पश्चात् वाले काल में इन देशों के बीच में, विचारों और आचारों का आदान-प्रदान प्रचुर मात्रा मे होने लगा। यूनानी दर्शन के इतिहासज्ञ यूनानी विचारकों के अनेक सिद्धान्तों और धारणाओ यथा पुनर्जन्म आदि में प्राच्य विचारों के प्रभाव अथवा सादृश्य की झलक पाते हैं। सम्भव है, कि दोनो देशों के दार्शनिक विचारकों का—उदाहरणार्थ भारत के चार्वाकों का यूनान के सिरीनायक (Cyrenaics) से संपर्क हुआ हो और यह भी सम्भव है, कि भारत के जैन विचारकों का प्रभाव पश्चिमी एशिया तथा यूनान के विचारको पर पड़ा हो। हम पाते है कि देव-जिनीज़ (Diogenes) नामधारी यूनान

के चारों दार्शनिकों के विचार और आचार जैनों के विचारों और आचारों से बहुत कुछ मिलते जुलते है। ये दार्शनिक यूनान में सुकरात् के पश्चात् वाले काल में हुए, और इन में कई बाबल (Babylon) आदि प्राच्य स्थानों में जन्म लेकर अथवा वहाँ शिक्षा पाकर, यूनान में आए, ऐसा कहा जाता है।

चारों देव-जैनी-ज़ या तो "सिनिक" (Cynic) संप्रदाय के हैं, या स्टोइक (Stoic) संप्रदाय के। इन दोनों संप्रदायों का भेद प्रायः उसी प्रकार का है, जैसे जैनों में दिगम्बर तथा श्वेताम्बर संप्रदायों का भेद। स्वर्गीय डाक्टर दीवान चन्द के अनुसार सिनिक और स्टोइक मतो में प्रमुख भेद ये हैं :—

१- सिनिक विचार के अनुसार नैतिक भद्र ही मूल्यवान है। अन्य सारी वस्तुएं मूल्य से शून्य हैं, और इसलिये एक ही स्तर पर हैं। स्टोइक विचारकों ने भद्र और अभद्र (शुभ और अशुभ) के सम्बन्ध में मौलिक नियम को अपनाए रखा, परन्तु अन्य पदार्थों में भी भेद किया, उदाहरणार्थ भले पुरुष के लिये स्वास्थ्य, बीमारी से अच्छा है।

२- सिनिक विचार के अनुसार वृत्ति एक ही है। प्रत्येक मनुष्य नेक है या बुरा है। "नेकी और बुराई दोनो एक साथ नहीं हो सकती"[1] सिनिक यह नहीं मानते थे कि एक ही व्यक्ति कुछ बातों में अच्छा और कुछ बातों में बुरा हो सकता है। इन भेदों की विस्तृत व्याख्या न देकर हम यहां संक्षेप में, यह कह सकते हैं, कि "सिनिक" अति-शयवादी दल के थे और स्टोइक संतुलित जीवन के पक्ष में थे। पर दोनों त्याग, तपस्या और सदाचार पर बल देते थे, और ये दोनों मिलकर निचले स्तर पर रहने वाले और क्षणिक तृप्ति ढूंढ़ने वाले सुखवादियों अर्थात् सिरीनायकों के कट्टर विरोधी थे।[2] और दोनों ज्ञान-ध्यान के ऊंचे स्तर की प्राप्ति में संलग्न रहते थे। जैन-धर्म के नीति-शास्त्र में भी हम इसी प्रकार देखते हैं कि कठोर सिद्धान्त के अनुसार तो मनुष्य के लिये समस्त गृह-द्वार, स्त्री-पुत्र, धन-धान्य आदि परिग्रह यहां तक की वस्त्र का भी परित्याग कर, आत्म-ध्यान में संलग्नता ही श्रेयस्कर है, किन्तु साधारण व्यक्ति के लिये संतुलित, धर्म-एवं-सदाचार-युक्त जीवन व्यापन की भी अनुमति है। शायद दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के भेद की तह में भी इसी प्रकार का मनोवैज्ञानिक भेद है, एक मे कठोर सिद्धांत पर बल है और दूसरे में मानव की दुर्बलताओं को ध्यान में रखते हुये धर्म-एवं-सदाचार-युक्त, संतुलित जीवन पर बल दिया गया है।

अब पहले हम आदि के दो देव-जिनी-ज़ का और फिर अन्तिम देव-जिनी-ज़ का परिचय देकर, अन्त में सब से प्रसिद्ध देव-जिनी-ज़ का संक्षेप में वर्णन प्रस्तुत करेंगे।

१- देव-जिनी-ज़ लीर्शश (Diogenes Laertius) का समय ईसा के पूर्व की पहली शताब्दी में माना जाता है। यह ग्रन्थकार और दर्शन के इतिहासकार थे।

---

[1] डा० दीवान चन्द—पश्चिमी दर्शन (प्रकाशन ब्योरो) लखनऊ, पृ० ६२।

[2] सिरोनायकों की तुलना भारत के स्थूल चार्वाकों से की जा सकती है, जिनकी आलोचना जैन विचारकों ने की थी। पाश्चात्यदेशों में, इसी प्रकार, सिरीनायक विचार-धारा की आलोचना स्टोइक विचारकों ने की थी।

इन्होंने पैथागोरस (Pythagoras) के सिद्धान्तों, जैसे सर्वात्मवाद एवं पुनर्जन्म आदि का जीर्णोद्धार करके, नैतिक और धार्मिक क्षेत्र में, स्टोइक विचार-धारा का पोषण किया। अर्थात् धर्म एवं नैतिकता युक्त, संतुलित जीवन बिताने का उपदेश दिया। यह बात ध्यान देने योग्य है कि पश्चात्य दर्शन के इतिहास में बहुत कम विचारकों ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मान्यता दी है। उन थोड़े विचारकों में इनकी भी गणना है।

२- दूसरे, बेबीलन (Babylon) या बाबुल के देव-जैनी-ज। पाठकों को स्मरण होगा कि बाबुल एशिया मे, आधुनिक इराक के अन्तर्गत या समीप एक प्रसिद्ध प्राचीन नगर था। यह मुनि वहीं के थे। दर्शन के प्रसिद्ध जर्मन इतिहासकार, विन्डल्बैन्ड (Windelband) महोदय का कथन हैं, कि जब स्टोइक सम्प्रदाय के विशिष्ट व्यक्तित्व पर विचार किया जाए, तब हम पाते हैं, कि उसके अधिकांश अनुयायी पश्चिमी एशिया की मिश्रित जातियों के थे।[3] इसका यह अर्थ हुआ कि यह बाहर से युनान में आये थे। इस प्रकार बाबुल के देव-जिनी-ज पश्चिमी एशिया या प्राचीन इराक के थे। इन्हें मुनि (Sage or savant) की संज्ञा दी गई है। इनका समय भी ईसा के पूर्व की प्रथम शताब्दी है। इनके मनन के विषय इतिहास, साहित्य और दर्शन थे। ये सुखवाद (Hedonism) के विरोधी थे,[4] और इनके विचार इस समस्या पर केन्द्रित थे, कि आदर्श व्यक्ति या मुनि (Sage) के क्या लक्षण होने चाहिये। इन विचारकों ने "व्यक्ति कैसे पूर्ण बने ?" —इस समस्या पर अधिक बल दिया और "समाज कैसे सुखी हो ?"—इस प्रश्न पर कम ध्यान दिया—ऐसा इनकी आलोचना में कहा जाता है।

३- आदि के दो देव-जंनीज के बाद हम अब अन्तिम देव-जैनी-ज़ का उल्लेख करते हैं। यह ईसा के बाद की पांचवीं शताब्दी मे हुये। यह एपोलोनिया के निवासी बतलाए जाते हैं। इन्होंने द्रव्य के एकत्व पर बल देते हुये बतलाया, कि विश्व की समस्त वस्तुएं पारस्परिक ढंग से सम्बद्ध हैं। इनका मत था कि मनुष्य तथा विश्व भर में एक ही प्राण है। मनुष्य को उतना ही ज्ञान होता है, जितना भाग विश्व-व्यापी प्रकाश की वह प्राप्त कर पाता है। इन्होंने समकालीन यूनानी और रूमी सामाजिक एवं नैतिक जीवन के खोखलेपन की कटु आलोचना की। इन्हें मानव-शरीर-रचना-शास्त्र (Physiology) और सम्भवतः आयुर्वेद और योग का अच्छा ज्ञान था। यह रमते जोगी (wandering te acher) थे। इनका मत एक प्रकार का अनेकान्तवाद (Eclecticism) बतलाया जाता है। इस मत के अनुसार, विचारक किसी एक मत, रुचि अथवा राग के बन्धन में न पड़कर, भिन्न-भिन्न दर्शनों में से प्रत्येक (दर्शन के ऐसे सिद्धान्त ग्रहण करता है, जो उसकी विवेक-बुद्धि) को ठीक जंचते हैं।

४- अब हम सब से प्रसिद्ध एव विवादग्रस्त देव-जिनी-ज का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करते हैं। इनके जीवन-काल ही में लोगों ने इनके पक्ष या विपक्ष में अफसाने गढ़ने शुरु

डा० विलियम विन्डिलबैन्ड का 'दर्शन का इतिहास",—टफट्स (Tufts) द्वारा अंग्रेजी अनुवाद—मैकमिलन द्वितीय संस्करण, पृ० १६२।

[4] भारतीय जैन, इसी प्रकार, चार्वाकों के विरोधी थे।

कर दिये थे, और बाद में तो इनके बाबत दन्त-कथाओं की भरमार हो गई। ये यूनान में सुकरात के बहुत बाद मे हुये। कुछ लोग तो इन्हें सिकन्दर का समकालीन बतलाते हैं।

इनके वंश के विषय में, एक कथा में यह बतलाया जाता है, इनके पिता वणिक या सराफ थे, जिन्हें सोने और चाँदी के सिक्कों को बिगाड़कर उनसे मुनाफ़ा खाने के कारण कारावास का दण्ड भोगना पड़ा। इस पर लड़के ने यह कहा कि पिता ने तो सोने की मुहरें ही बिगाड़ी हैं। मैं मानव जीवन के सब मूल्यों को खोखला करके बिगाड़ दूंगा। उसने यह कर भी दिखाया। कोई कहते हैं, कि वे नांद (Tub) में रहते थे। गिल्बर्ट मरे ने यह पता लगाया है, कि उनका निवास-स्थान नांद नहीं, अपितु एक बड़ा मटका था। ऐसे बड़े घड़ों में मृतकों की अस्थियां गाड़ी जाती थीं। ये अपने पास कोई बरतन नहीं रखते थे। हाथों को जोड़कर ही पानी पी लेते थे। कुत्ते के समान इनके द्वारा जीवन व्यतीत करने के कारण लोग इनके सम्प्रदाय को कुत्तावाला "सिनिक" सम्प्रदाय कहने लगे। इनके आचार और विचार में धन, विलासिता, शौकीन पन, प्रसिद्धि, सम्मान, इन्द्रियों के समस्त सुख, कला, विज्ञान कौटुम्बिक और सामाजिक एवं राष्ट्रीय सुख तथा उत्सव सब के सब उतने ही खोखले, निरर्थक और निन्दनीय हैं, जितनी की कामेच्छा और निचले प्रकार की लालसा। इनके अनुसार भलाई, इच्छाओं से मुक्ति प्राप्त करने ही में है। बुद्धिमान वह है, जो (सांसारिक) घटनाओं के चक्कर से स्वतंत्र हो जाये। ये प्रचलित सभ्यता, रीति-रिवाज, पूजा-अर्चना-सब के विरुद्ध थे। ताओ मत, रोसो तथा टॉलसटाय के समान ये इस बात पर बल देते थे कि मानव जीवन प्रकृति के अनुकूल हो, और केवल अत्यन्त अनिवार्य आवश्यकताओं ही की पूर्ति की जाए। युवावस्था में, इनके गुरु ने इन्हें पीट कर भगा देना चाहा। पर ये निश्चय कर चुके थे, कि मैं एंटिसथींनिस ही को गुरु बनाऊंगा। अत: यह टस से मस न हुये। तब इन्हें दीक्षा दी गई। बर्ट्रेंड रसल (Bertrand Russell) का कथन है कि एक बार सिकन्दर महान् इनके पास आया और पूछने लगा, कि क्या आप मुझ से किसी प्रकार की कृपा चाहते हैं, तो इस साधु ने उत्तर दिया "कृपा करके मेरी ओर आने वाले प्रकाश (धूप ?) के बाहर चले जाइए (अथवा प्रकाश न रोकिए)।" कहा जाता है कि इस बात से सिकन्दर इतना प्रभावित हुआ कि वह अपने साथियों से कहने लगा कि यदि मैं सिकन्दर न हुआ होता, तो देव-जिनी-ज़ अवश्य होना चाहता। इनके दर्शन में सम्राटों और सेनापतियों, सेठों और साहूकारों का कोई महत्व नहीं था। पर ये मनुष्य मात्र से तथा पशुओं से भी भाई जैसा स्नेह रखते थे।

पाश्चात्य दर्शन के इतिहासकारों ने यह स्पष्ट कर दिया है, कि ये विज्ञान-विरोधी नहीं थे। पर वे विज्ञान को आत्म-संयम एवं इन्द्रिय-दमन ही का तथा मनुष्य की अत्यन्त अनिवार्य इच्छाओं की पूर्ति ही का साधन बनाना चाहते थे। भौतिक विज्ञान के अन्य मूल्यों के प्रति वे उदासीन थे यह विचार-धारा गांधी जी की विचार धारा से मिलती जुलती है,यह भी कहा गया है, कि वे बुद्धि विकास के विरोधी नहीं थे। बुद्धि से इस संसार के सुखों की सार-हीनता समझाई जा सकती है,-ऐसा ये मानते थे। एक प्रसिद्ध पुरुष ने, इनके जीवन के किसी काल में, इन्हें अपने लड़कों के शिक्षण का भार सौंपा, और अपने सिद्धान्तों के अनुकूल शिक्षा देने में इन्होंने पूर्ण सफलता पाई।

इन देव-जिनी-ज़ के सिद्धान्तों को गरीबों ने तो अपनाया ही, अमीरों के लड़कों में भी वस्त्र, भोजन आदि का निरादर करने का, इनके प्रभाव से एक प्रकार का फैशन-सा ही पड़ गया। इनकी ख्याति यूनान के बाहर, मिस्र देश के इस्कंदरिया आदि नगरों तक पहुंच गई।

इस प्रकार, इनके जीवन में भी हमें उसी प्रकार का समस्त गृह-द्वार, स्त्री-पुत्र, धन-धान्य आदि यहाँ तक कि वस्त्र का भी परित्याग अथवा निरादर तथा गगनपरिधान-वृत्ति, केश-धारण, कपिश वर्ण, मलधारण, मौन, उन्माद-भाव आदि व्यवहार सम्बन्धी लक्षणों का प्रभाव और देवताओं के आराधन के स्थान पर आत्मध्यान सम्बन्धी विचारों पर बल दिखाई देता है, जो ऋषभदेव-परम्परा के जैन श्रमणों के जीवन में अथवा भारतीय औघड़-पन्थी परमहंसों के जीवन में मिलता है।

एक समय बौद्ध और जैन श्रमण एशिया और यूरोप के कई ऐसे देशों मे भ्रमण किया करते थे, जहाँ बाद में ईसाई धर्म या इसलाम का जन्म, प्रचार और प्रभाव हो गया। कुछ विद्वान उत्तरी एशिया की आदिम जातियों ने प्रचलित आधुनिक जादू-टोना वाले "शामानी" धर्म में तथा "शामानी" शब्द की उत्पत्ति में महायान सम्प्रदाय के बौद्ध श्रमणों तथा अन्य औघड़ श्रमणों का प्रभाव पाते है। अत: यह अनुसन्धान का विषय हो सकता है कि जैन-धर्म के इतिहास में ऐसे कौन से परिवर्तन हुए जिनके कारण वह प्राय: एक वर्ण विशेष तथा भारत के कुछ प्रान्तों तक ही सीमित रह गया। अस्तु।

पर पाश्चात्य दर्शन के इतिहासकार इन प्रसिद्ध देव-जैनी ज़ के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से प्रभावित नहीं पाए जाते हैं। विन्डैलवैन्ड समझते है, कि इनकी ख्याति पाश्चात्य, यूनानी सभ्यता का मखौल उड़ाने—भोजन, वस्त्र, घर आदि का निरादर करने - से हुई। इसी प्रकार, बर्टेंड रसेल (Bertrand Russell) कहते हैं कि भारतीय भिखारी (Indian Fakir) के समान वे भिक्षावृत्ति से गुजारा करते थे और रसेल पूछते हैं कि, उनके उपदेश किन्हें अच्छे लगे होंगे ? [5] क्या अमीरों को जो गरीबों के दुखों को काल्पनिक मानकर प्रसन्न हुए होंगे ? या गरीबों को जो सफल रोजगारियों को तुच्छ बतलाए जाने पर प्रसन्न हुए होंगे ? या खुशामद या भिक्षा से धन प्राप्त करने वालो को ? जो दान लेने के बाद दानी को तुच्छ बतलाएं जाने पर, प्रसन्न हुए होंगे ! या उधार लेने वालों को ? जो यह देखकर प्रसन्न हुए होंगे, कि रूपया लौटाना बहुत आवश्यक नही है !! इस प्रकार के उपदेशों और जैन धर्म आदि अहिंसा-प्रेमी धर्मों के नैतिक सिद्धान्तों की इससे कड़ीऔर तीव्र आलोचना जर्मन विचारक निट्शे (Nietzsche) ने की है। उसने इस प्रकार के धर्म को गुलामों का धर्म निरूपित किया है। सच तो यह है, कि ऐसे मुनियों का व्यक्तित्व, जो मल धारण करें, या बांस के वन में भस्मीभूत हो जावें, सुख वादी एवं शक्ति-उपासक पाश्चात्य दार्शनिकों के लिये अब तक एक पहेली ही है।

---

[5] बर्टेंड रसल का "पाश्चात्य दर्शन का इतिहास", प्रकाशक जॉर्ज एलन एन्ड अनविन, तीसरी छाप, १९४८, पृ० २५४-२५५। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इसी प्रकार, तिरस्कार के भाव से, ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री, विन्स्टन चर्चिल ने महात्मा गांधी को 'नंगा फकीर" कहा था।

जैनदर्शन के नौ तत्व

श्रीरंजन सूरिदेव

धर्म का प्रधान लक्ष्य है आत्मा का विकास और तदनन्तर उसकी मुक्ति। आत्मा का विकास तभी सम्भव होता है, जब यह अच्छी तरह जान लिया जाता है कि आत्मा है क्या वस्तु ? उसके गुण क्या हैं ? किस प्रकार, संसार मे चक्कर काटती हुई वह विविध कष्ट भोगने को बाध्य हुई है और किन उपायों से वह इस संसार के चक्कर से मुक्त हो सकती है ?

उक्त समस्त विषयो के ज्ञान के लिए पहले यह जानना आवश्यक है कि यह संसार किन पदार्थों से बना है, विश्व-निर्माण के उपादानों में कौन सा पारस्परिक सम्बन्ध है, किन कारणों से यह आत्मा बन्धन-वलयित होती है, और फिर, किन उपायों से बन्धन मुक्त।

इन जिज्ञासित विषयों के सम्यक् ज्ञान के लिए जैनाचार्य ने नौ तत्व स्वीकार किए हैं: -

(१) जीव, (२) अजीव, (३) आश्रव, (४) बन्ध, (५) पुण्य, (६) पाप, (७) संवर, (८) निर्जरा और (९) मोक्ष।

जीव और अजीव इन दोनों तत्वों मे ही संसार के सभी पदार्थ सन्निहित हैं। जीव या चेतन आत्मा किस प्रकार अजीव या जड़ द्रव्यों द्वारा आबद्ध होता है, वे आबन्धन किस प्रकार के हैं और किन उपायों से जीव की बन्धन मुक्ति सम्भव है-- -- इत्यादि विषयों का व्यालोचन उक्त नौ तत्वों की क्रमिक विवृत्ति के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है——

जीव — जो चेतन्य है, वही जीव है। ज्ञान, दर्शन, बल, वीर्य, आनन्द आदि जीव के लक्षण हैं। प्रत्येक जीव का पृथक् अस्तित्व है और वह संख्या में अनन्त है। जीव दो प्रकार का है —संसारी और मुक्त। जो अपने सम्पूर्ण कर्मों के क्षय द्वारा निर्वाण प्राप्त कर चुका है, वह मुक्त या सिद्ध जीव है। उसे मुक्त आत्मा भी कह सकते हैं। मुक्तात्मा के उक्त ज्ञान, दर्शन आदि लक्षणों में अनन्तता आ जाती है और वह पुन: लौटकर संसार में नहीं आता। इसी मुक्ति की प्राप्ति प्रत्येक संसारी जीव का चरम और परम लक्ष्य है।

अजीव — जो चेतनाशून्य है, वही अजीव या जड है। अज्ञान, अदर्शन, नैर्बल्य,

निरानन्द आदि अजीव के लक्षण हैं। अजीव पांच प्रकार का है— धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल। ये पांचों द्रव्य नित्य हैं।

(१) धर्म जीव और जड़ में गति का संचारक है। बिना धर्म के जड या जीव में किसी प्रकार की गति कदापि संभव नहीं। इसलिए, इसे गति-सहायक भी कह सकते हैं। यह अरूप और अचेतन होते हुए भी समस्त लोक में व्याप्त रहता है। (२) अधर्म, ठीक धर्म के विपरीत लक्षणों वाला है। इसलिए, इसे गतिरोधक कहा जाता है। जीव और जड पदार्थों की गति को रोककर उसके स्थिर होने में सहायक बनने के कारण अधर्म का अपर पर्याय स्थिती सहायक भी है। (३) आकाश, जीव और अजीव पदार्थ को अवकाश, अर्थात अवस्थिती का स्थान, देता है। यह भी अरूप और अचेतन तथा सम्पूर्ण संसार को व्याप्त कर अवस्थित है। (४) परमाणु एवं परमाणु के संयोग से उत्पन्न सब प्रकार के क्षुद्र और वृहत् पदार्थों को 'पुद्गल' कहा जाता है। जड़ पदार्थों के सबसे क्षुद्र अविभाज्य अंश को 'परमाणु' कहते हैं। समस्त जड जगत् परमाणु और परमाणु के संयोग से उत्पन्न पदार्थों द्वारा निर्मित माना जाता है। पुद्गल द्रव्य अनन्त हैं। ये रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि से युक्त हैं [1] (५) काल एक कल्पित पदार्थ या द्रव्य है। वस्तुतः, इसकी कोई सत्ता नहीं है। यह चन्द्र, सूर्य, तारे आदि की गति के द्वारा कल्पित भाव से निरूपित होता है। वर्तमान काल के सूक्ष्मतम अंश को 'समय' कहते हैं।

जैन-दर्शन 'समय' शब्द का विशेष अर्थ में व्यवहार इस प्रकार करता है कि अतीत काल नष्ट हो गया हैं। भविष्यत् काल की वर्तमान में कोई सत्ता नहीं है। इसलिए केवल वर्तमान 'समय' को ही 'काल' कहा जाता है।

आश्रव— जिन कारणों से आत्मा या जीव को आबद्ध करने के लिए शुभाशुभ कर्मों का उदय होता हैं, उन्हें 'आश्रव' कहा जाता है। समासतः विषय के प्रति प्रवृत्ति को 'आश्रव' कह सकते हैं। मिथ्यात्व (अविद्या), अविरति (असंयम), कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ), प्रमाद (असावधानी) और योग (मन, वचन तथा तन का व्यापार) मुख्यतः इन्हीं पांच कारणों से शुभाशुभ कर्मों का उदय होता है, इसलिए ये आश्रव (आश्रयति आबध्नाति आत्मानमिति) हैं। कर्म-बन्धन के हेतुभूत हिंसा, असत्य चौर्य, मैथुन, परिग्रह या विषयासक्ति आदि भी 'आश्रव' में ही परिगणनीय हैं।

बन्ध— दो या उससे अधिक परमाणुसमूह के संयोग से निर्मित जड पदार्थ को 'स्कन्ध' कहा जाता है और स्कन्ध का बन्धन ही बन्ध है। परमाणु का ही यह प्रकारवैशिष्टय है कि जो जीव या आत्मा को मिथ्यात्व, मन, वचन और तन का व्यापार तथा राग-द्वेष प्रभृति अध्यवसाय के द्वारा आकृष्ट कर आबद्ध कर लेता है।

आत्मा मूलरूप में शुद्ध, निर्मल, चैतन्य और अरूप है, इसलिए, यह स्वरूप और अचेतन परमाणु से आबद्ध नहीं हो सकती। फिर भी, अनादि-काल से मूर्त कर्म-पुद्गल के साथ सम्बद्ध रहने के कारण आत्मा आवरणमय रहती है। इसी आवरण को जैन-परिभाषा में 'कार्मणशरीर' कहते हैं। अन्यान्य दर्शनों में इसे 'लिंगशरीर' भी कहा

---

[1] 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः' तत्त्वार्थसूत्र, ५।२३।

गया है। जीव अनादिकाल से कार्मणशरीर से युक्त रहता आया है, इसलिए उसमें अध्यवसायों और प्रवृत्तियों का वैविध्य देखा जाता है। इन्हीं अध्यवसायों और प्रवृत्तियों द्वारा आकृष्ट होने के कारण नये-नये कर्मपुद्गलों की आवृत्ति होती है। फलत: जीव को कार्मणशरीर से बद्ध होना पड़ता है। और इसी बन्धन के कारण वह विविध सुख-दुःख का भोग करता हुआ संसार-चक्र में घूमता रहता है। प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभावबन्ध और प्रदेशबन्ध के भेद से यह बन्ध चार प्रकार का माना गया है।

पुण्य— पुण्य भी एक प्रकार का कर्मबन्ध है। मन, वचन और तन के शुभ व्यापार और शुभ परिणाम के द्वारा शुभ या सुखद फल की जो आनन्दानुभूति होती है, उसे 'पुण्य' कहते हैं। अन्न, जल, भूमि, शयन, वसन आदि के द्वारा, शुभ संकल्प के द्वारा एवं देव-गुरु की पूजा-वन्दना आदि के द्वारा शुभ कर्मों का बन्धन उपस्थित होता है। पुण्य कर्म के फलस्वरूप ही शारीरिक और मानसिक सुख— नीरोग और सुन्दर शरीर, धन यश आदि की प्राप्ति होती है।

पाप— पुण्य के विपरीत तत्व को पाप कहते हैं। मन, वचन और तन के अशुभ व्यापार और अशुभ अध्यवसाय के द्वारा अशुभ या दुःखद फल का अनुभूति मूलक जो कर्मबन्ध है, उसी का नाम है 'पाप'। जीवहिंसा, मिथ्याभाषण, चौर्य, अब्रह्मचर्य, भोगोपभोग की वस्तु के प्रति आसक्ति एवं क्रोध, लोभ, मान माया, प्रभृति अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा पाप कर्म का बन्धन उत्पन्न होता है। पाप-कर्म के फलस्वरूप ही अनेक प्रकार के रोग होते हैं। असुन्दर शरीर मिलता है; पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि की योनि में या नरक में जन्म होता है। इसके अलावा दरिद्रता प्रभृति असंख्य दारुण यन्त्रणा सहनी पड़ती है।

पाप-कर्म से कवलित आत्मा मुक्ति की ओर अग्रसर होने के बजाय अधिकाधिक बन्धन की ओर ही खिंची चली जाती है। और, इसीलिए, उसे संसार में अनन्तकाल-पर्यन्त चक्कर लगाने को विवश होना पड़ता है।[1]

संवर जिन कार्यों के द्वारा कर्म के आश्रव, अर्थात उदय का विरोध किया जा सके, उसे 'संवर' कहते हैं। आश्रव के ठीक विपरीत तत्व है 'संवर' — संवरयति सकोचयति कर्मबन्धानिति) मन, वचन और तन का संयम, शुभचिन्तन, इच्छा-निरोध क्षमा, कोमलता, शौच, सत्य, शम, दम, त्याग, तपस्या, निस्वार्थता, ब्रह्मचर्य, अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्ति, निर्लोभिता आदि गुणों का धारण एवं संसार की अनित्यता, शरीर की अशुचिता, अपने कर्मफल को अकेले ही भोगना पड़ेगा, इस प्रकार की भावना आदि के अनुचिन्तन द्वारा संवर की साधना सम्भव होती है। बिना संवर के आश्रव का निरोध कदापि नहीं हो सकता।

निर्जरा— पूर्वबद्ध कर्म को आत्मा से पृथक् करने वाले तत्व का नाम 'निर्जरा'

---

[1] पुण्य और पाप ये दोनों तत्व बन्ध तत्व के ही प्रकार मात्र हैं। अतएव मतान्तर में, पुण्य और पाप को बन्ध के अन्तर्भुक्त समझ कर, नौ तत्वों की जगह सात तत्वों की ही गणना की गई है। —लेखक

है। कर्म-फल भोगने के बाद ही कर्म-क्षय सम्भव है। और, जब तक संचित कर्म के फल को भुगत कर कर्म का क्षय नहीं किया जाता, तबतक मोक्ष की प्राप्ति असम्भव है। यहीं यह ध्यातव्य है कि कर्म का क्षय आसानी से नहीं हो सकता; क्योंकि कर्म-फल के भोग-काल में और भी नए-नए कर्म-बन्ध उत्पन्न होते रहते हैं, अतएव, मुमुक्षु जीवों के लिए प्रशस्त ध्यान, तप आदि के द्वारा अपने कर्म का क्षय करना आवश्यक है। इसी प्रकार के कर्मक्षयीकरण को निर्जरा कहा जाता है। निर्जरा-तत्व की साधना तपस्या के द्वारा ही सम्भव है। बाह्य और आन्तर भेद से तपस्या दो प्रकार की है। उपवास (अनशन), अल्पाहार, इच्छा-निरोध, रसत्याग[1], कायक्लेश एवं शरीर को सिकोड़ कर निर्जन स्थान में बैठना— ये छह बाह्य तप हैं। प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्त्य (पीड़ित और आर्त्त लोगों की सेवा-शुश्रूषा), स्वाध्याय व्युत्सर्ग, (शरीर केप्रति ममता का परित्याग) और ध्यान ये छह आन्तर तप हैं।

मोक्ष— मोक्ष सबसे अन्तिम और नवम तत्व है। समस्त कर्मक्षय के बाद जीवात्मा (आत्मा या जीव) की आत्मस्वरूप प्राप्ति ही मोक्ष है। समस्त कर्मों के क्षय के अनन्तर आवरण-शून्य आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त आनन्द, अनन्त ज्योति प्रभृति अनन्त गुणों से युक्त होकर ऊर्ध्वगति के द्वारा 'लोक,[2] के शिरोभाग पर स्थित रहती है, और फिर कभी जन्म-जरा-मरण रूप संसार-चक्र में आवर्त्तित नहीं होती। क्योंकि आत्मा स्वभावत: ऊर्ध्वगतिशील है। आत्मा की यही अवस्था मुक्तावस्था या सिद्धावस्था है। इसी का नाम निर्वाण है।

जिस प्रकार, किसी घर में एक दीपक के जलाने पर, उसकी ज्योति समग्रभाव से उस घर में फैलती है और उसी घर में और भी दीपकों के जलाने पर उन सबकी ज्योति परस्पर मिल जाती है, उसी प्रकार ज्योति-स्वरूप मुक्तात्मा-समूह लोकाग्र में परस्पर सम्मिलित होकर रहते हैं, और उनका इस धरा पर कभी पुनरावर्त्तन नहीं होता।

उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि समस्त शरीरधारी प्राणी, जीव और अजीव (चेतन और अचेतन) इन्ही दोनों द्रव्यों के मिलने से बने हैं। जब तक चेतन से अचेतन का विच्छेद नहीं होगा, तब तक प्राणियों को संसार में परिभ्रान्त होना पड़ेगा। इसलिए, प्राणियों का ऐसा सतत् प्रयत्न होना चाहिए कि अचेतन से चेतन विछिन्न होकर सम्पूर्णतः मुक्त हो जाय। चूँकि अहिंसा संयम आदि तपस्याओं के द्वारा प्रत्येक प्राणी मुक्तिसाधक बन सकता है, इसलिए यह सिद्ध है कि तपस्साधना हीं जीवन का सर्वान्तिम ध्येय है।

---

[1] जैनश्रुति में घी, तेल, दूध, दही, गुड़ और भुनी हुई वस्तुएँ— ये विकृत रस हैं एवं शराब मांस, मक्खन और शहद— ये महाविकृत्त रस हैं।

[2] धर्म, अधर्म आकाश, पुद्गल और काल अन्तिम सीमा से आगे, अर्थात संसार के जिस अंश में जीव और जड पदार्थ हैं, जहां विविध प्रकार के प्राणी और विश्व रचना का वैचित्र्य है, उस अंश को 'लोक' कहते हैं। — लेखक

जैनदर्शन में मुक्ति साधना

अगर चन्द जी नाहटा

भारतीय समग्र दर्शनों में जैन दर्शन का महत्वपूर्ण स्थान है, तत्व ज्ञान का विचार इस दर्शन में बड़ी ही सूक्ष्मता से किया गया है। आचारों में अहिंसा और विचारों में अनेकान्त, इस दर्शन की खास विशेषता है। इस लेख में जैन दर्शनानुसार जीवन और कर्म का स्वरूप एवं सम्बन्ध बतलाकर मुक्ति और उसकी साधना के विषय में विचार किया जायगा।

अनादि-अनन्त संसार चक्र में, जीव और अजीव दो मुख्य पदार्थ हैं। चैतन्य-लक्षण—विशिष्ट जीव और अचेतन-जड स्वरूप अजीव है। जीव असंख्यात प्रदेश वाला, शाश्वत, अरूपी पदार्थ है ‑सके मुख्य दो भेद हैं---सिद्ध और संसारी। सिद्धावस्था जीव का शुद्ध स्वरूप है, और संसारी अवस्था कर्म संयोग जन्य अर्थात विकारी अवस्था का नाम है। दृश्यमान पदार्थ सारे पुद्गल द्रव्य के नाना-विध रूप हैं। जब आत्मा अपने स्वरूप से विचलित होकर या भूलकर पुद्गल द्रव्य अर्थात पर-पदार्थों की ओर प्रवृत्त होता है, भ्रमसे उन्हें अपना मान लेता है या उस पर आसक्त हो जाता है, तभी — आत्मा में राग भाव का उदय होता है, और इन राग - द्वेष रूप विकारी भावों से आत्मा के साथ कर्म पुद्गलों का संयोग सम्बन्ध हो जाता है। राग द्वेष रूप चिकनाहट के अस्तित्व में कर्मरज आकर आत्मा के साथ चिपट जाती है। जहां राग और द्वेष नहीं हैं, वहां पर पुद्गलो के हजारों रूप सम्मुख रहने पर भी कर्म बन्धन नहीं होता। इसीलिए साधना में समभाव का महत्व सभी आस्तिक दर्शनों ने स्वीकार किया है। गीता में समत्व के विषय में बहुत सुन्दर विवेचन पाया जाता है एवं कर्म फल की आसक्ति के त्याग अर्थात अनासक्त योग को प्रधानता दी है। इन दोनों साधनों के विषय में गीता व जैन दर्शन में महती समानता व एकता है।

जीव से कर्म का सम्बन्ध कब से और क्यों है? कहा नहीं जा सकता, क्योंकि राग - द्वेष रूप विकारी परिणामों या भावों से होता है। यह ऊपर कहा ही जा चुका है, पर वह स्वर्ण और मिट्टी के सम्बन्ध के सदृश्य अनादिकाल से है। इतना होने पर भी जैसे स्वर्ण को मिट्टी से अलग किया जा सकता है, उसी प्रकार आत्मा रूप स्वर्ण से कर्म मिट्टी अलग की जा सकती है, और इस कार्य में—जो जो बातें सहायक हैं उन्हें

ही साधन कहते हैं एवं साधनों का व्यवहारिक उपयोग ही साधना कही जाती है। साधना करने वाला ही साधक कहा जाता है, और साधना के चरम विकास अर्थात इष्ट फल प्राप्ति को ही सिद्धि कहते हैं।

जीव के विकारी भावों की विविधता एवं तरतमता के करण कर्म भी विविध प्रकार के होते हैं, अतः उनके फलों में भी विविधता होना स्वभाविक है। इसी विविधता के कारण जीवों में पशु, पक्षी, मनुष्य, देव, नारक भेद और उनमे भी फिर अनेक प्रकार के भेद कहे जाते हैं। कोई राजा, कोई रंक, कोई पण्डित, कोई मूर्ख, कोई अल्पायु, कोई दीर्घायु, कोई रोगी, कोई निरोगी, कोई सुखी, कोई दुखी इत्यादि असंख्य प्रकार की तरतमता और विविधता नजर आती है। ये सारे खेल जीव के अपने ही ज्ञान या अज्ञात रूप से अर्जित कर्मों का फल है। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, अर्थात कर्म-फल का प्रदाता ईश्वर नहीं है फल तो स्वाभ विक रूप से प्राप्त हो जाते है। जिस प्रकार एक व्यक्ति मदिरा पान करता है तो वस्तु स्वभाव या गुण से नशे का आना स्वाभाविक है। प्रत्येक भाँति के पदार्थ अपन अपने गुणो की अपेक्षा सत् है, कस्तूरी में गर्मी है अतः उसे खाते ही शरीर में अपने आप गर्मी प्रकट हो जाती है। जैसी वस्तु खाते हैं, उसके गुण दोष शरीर में स्वभाविक रूप से अनुभूत होते हैं, देश-काल, परिस्थिती, जलवायु सारे पदार्थों के गुण दोष स्वभावि रूप से ही अनुभूत होते रहते हैं, उसी प्रकार कर्म का भी जीव के साथ साथ जैसे रूप स्वभाव में बंध होता है, और जब जिस कर्म का उदय होता है, तब वह अपने स्वाभावानुसार फल उत्पन्न करता है।

यह तो हुई जीव कर्म के सम्बन्ध की बात, अब यह सम्बन्ध किस प्रकर से अलग हो सकता है उस पर विचार करना है। जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध होने के जितने मार्ग जैन दर्शन में उन्हें आश्रव तत्व कहते है और कर्मो के आने के मार्गों का अवरोधरूप संवरतत्व, कर्मों से सम्बन्ध हो जाना बन्ध तत्व जिन कर्मों या कार्यो के साधनों द्वारा जीव से कर्म अलग होते हैं, उसे निर्जरा तत्व और सम्पूर्ण रूप से स्वाभाविक अवस्था प्राप्त कर लेना अर्थात् कर्मो से मुक्त हो जाना मोक्ष तत्व है इस प्रकार जीव और अजीव दो मुख्य तत्वों के जोड़ देने से तत्वों की संख्या सात हो जाती है कहीं कर्म-आस्त्रव के विशेष स्पष्टी करण के लिये पुण्य और पाप इन दोनों को प्रथक् तत्व माना गया है, इससे नव तत्व कहे गये हैं। इनमें से हमें साधना मार्ग में तीनों तत्वों की जानकारी परमावश्यक है, अतः उनका स्वरूप दृटान्त द्वारा नीचे समझाने का प्रयत्न किया गया है।

एक सुन्दर सरोवर में जल भरा हुआ है, समय समय पर उसमें नवीन जल रहेगा तो वह परिपूर्ण भरा रहेगा। इसी लिए जलागमन के लिए कई मार्ग रखे जाते हैं। जब हमें उस सरोवर को जल खाली करना होता है। तो प्रथम जल के आने के मार्ग को बन्द कर देते हैं और पुराने जल को गर्मी द्वारा शोषण करके या ऐंच कर निकाल डालना पड़ता है, जब ऐसी क्रिया की जाती है अर्थात नवीन जल आने नहीं दिया जाता है और पुराने जल को बाहर फेंक दिया जाता है तभी वह खाली हो सकता है। यदि नवीन जल आने के मार्ग बन्द नहीं किए जाए तो चाहें जितना ही प्रयास क्यों न करें सरोवर कभी खाली नहीं हो सकता। इधर जल निकालते जाएँगे, उधर जल भरता रहेगा।

फलत: इष्ट सिद्धी नहीं होगी। इसी प्रकार जीव रूप सरोवर में कर्म रूप जल भरा है, जब हमें जीव को कर्म से मुक्त करना है, तो आवश्यक है कि हम आने के मार्गों रूप आस्त्रव द्वारों को रोकें, और पूर्व बँधे हुए कर्मों को तप- संयमादि के द्वारा बाहर निकाल कर फेंक दें या शोषित कर दें। इससे नए कर्मों का बंध होगा नही और पूर्व के कर्म भोग कर या तपादि तद्नुष्ठानों से नष्ट कर देने पर जीव की मुक्ति होना अनिवार्य एवं स्वाभाविक है। तत्वार्थ सूत्र के प्रथम सूत्र में मोक्ष मार्ग - सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र्य* को बतलाया है। सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्ग इनकी आराधना-साधना करके कोई भी मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

जैन दर्शन की साधन प्रणालियें

अब यहां यह बतलाना आवश्यक है कि कर्मों के आगमन के मार्ग आस्त्रव द्वार कौन कौन से है, कैसे उनको रोका जाता है व पूर्व संचित कर्मों का शोषण किस प्रकार हो सकता है? इन बातों की जानकारी व उसके अनुसार आचरण करना ही साधना है।

आस्त्रव द्वार :—

प्रधान है, १ राग और २ द्वेष (राग के दो भेद हैं— माया, लोभ। द्वेष के दो भेद हैं १ क्रोध २ मान।

५ इन्द्रियां — कान, नाक, आंख, जिव्हा, शरीर के विषयों की इच्छा या आसक्ति ...
४ कषाय = क्रोध, मान, माया, लोभ, (रोष अहंकार, कपट, तृष्णा)
५ अव्रत — प्राणी हिंसा, मिथ्या बोलना, चोरी करना, मैथुन - काम - भोग, परिग्रह, मूर्छा वश वस्तुओं का संग्रह
३ योग — मन, वचन, काया का शुभाशुभ व्यापार शुभ योग से पुण्य बंध होता है उससे शुभ फलों की प्राप्ति होती है, और अशुभ से पाप बंधता है।
२५ क्रियाए — परिताप, प्राणबध, द्वेष, आदि की प्रवृतियों (लेख विस्तार भय से सबका विवरण नही दिया जा सका। विशेष जानने की इच्छा वालों को कर्म - ग्रन्थ तत्वार्थ सूत्र टीकाएं और नव तत्व आदि ग्रन्थ देखने चाहिए।)

संवर :—

३ गुप्ति — १ मनोगुप्ति- दुष्ट संकल्प एवं अच्छे बुरे मिश्रित विचारों का त्याग कर मन से अच्छे अच्छे विचार करना, ईश्वर भक्ति ध्यानादि में मन लगाना।
२ वचन गुप्ति — यद्वातद्व न बोल कर मौन धारण करना। या सन्मार्ग का उपदेश देना, प्रभु का भजन आदि,
३ काय गुप्ति — पाप कर्मों से काया की प्रवृति हटाकर परोपकार रूप प्रवृतियें करना

---

* वस्तु तत्व की द्वामक प्रतीति सम्यक् दर्शन उसकी जानकारी ज्ञान हेय को छोड़ना, उपादेय को ग्रहण करना चाहिए।

चंचल इन्द्रियों की प्रवृतियों का विरोध, रोक लेना अर्थात उपयुक्त तीनों योगों का निग्रह करना।
५ ईर्या समिती — १ किसी भी जन्तु को क्लेश न हो एतदर्थ सावधानता पूर्वक चलना।
२ भाषा समिती — सत्य हितकारी परिमित और संदेह रहित बोलना।
३ एषणा समिती — जीवन यात्रा में आवश्यक आहारादि निर्दोप साधनो को जुटाने के के लिए सावधानता पूर्वक प्रवृति।
४ आदान निक्षेप समिती — संचयोपगरजदि वस्तु मात्र को भली भाँति देख व प्रमाजित करके लेना या रखना।
५ उत्सर्ग समिती — जहाँ जन्तु न हो ऐसे प्रदेश मे देखकर या प्रमार्जित करके ही मूत्र-मलादि अनुपयोगी वस्तुओं का डालना।
(गुप्ति में असत् क्रिया का निषेध मुख्य है और समिती में सत्क्रिया का प्रवंतन मुख्य है।)
१० धर्म — क्षमा, मृदुता (नम्रता) सरलता, निर्लोभता, सत्यता, संयम, तप, त्याग, ममत्व त्याग, ब्रह्मचर्य।

संयम के सत्रह प्रकार हैं — ५ इन्द्रियों का निग्रह, ५ अव्रतों का त्याग, ४ कषायो का जय, ३ योगों का निग्रह।

१२ भावनायें — अनुप्रेक्षा या गहरा चिन्तन।

१ अनित्य, १ असरण, ३ ससार, ४ एकत्व, ५ अन्यत्व, ६ अशुचि, ७ आश्रव, ८ संवर, ९ निर्जरा, १० लोक, ११ बोधिदुर्लभ और १२ धर्म ये बारह भावनायें है।

२२ परिषहों का सहना :—

क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण दंशमशक, नग्नत्व, अरति, स्त्री, चर्या, निषेध शय्या, आक्रोष, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये २२ परिषह हैं।

४ चरित्र — १ सामायिक समभाव पूर्वक रहना) २ छेदोपस्थान (विशेप शुद्धि के लिए पुनः दीक्षा) ३ परिहार विशुद्धि (विशेष तप प्रधान) ४ सूक्ष्म संपराय (क्रोधादि कषाय का अभाव, केवल मोक्षादि व सूक्ष्म लोभ का रहना) ५ यथाख्यात (वीतराग भाव की प्राप्ति)। चारित्र का भावार्थ है आत्म स्वरूप में या स्वभाव स्थिती या रमणता।

निर्जरा तत्व के प्रकार :—

१ अनशन — आहार का त्याग, २ उनोदर-क्षुधा से कम भोजन करना, वृति-संक्षेप-विविध वस्तुओं के लालच को कम करना, घी दूध दही गुड़ तेल व पकवान का त्याग और मधु माँस व मदिरा का सर्वथा त्याग। ५ कायक्लेश - ठण्ड गर्मी या विभिन्न आसनादि द्वारा शरीर को कष्ट देना, ६ संलीनता अंगोपांग संकोच कर रहना, एकांतस्थान में संयत भाव से रहना।

ऊपर के छह भेद बाह्य तप के है, आभ्यान्तरिक तप के छह भेद ये हैं —
१ प्रायश्चित - दोष शोधन, २ विनय, ३ वैयावृत्य - सेवा, ४ स्वाध्याय... वाचना प्रच्छना, परावर्तना (आम्नाय) अनुप्रेक्षा, धर्मोपदेश रूप तथा चर्चा ५ ध्यान,

६ उत्सर्ग ... धन धान्य एवं शरीरादि का ममत्व हटाना और काषायिक विकारों में तन्मयता का त्याग।

यहां पर लेख विस्तार भय से मुख्य भेदों का ही निर्देश किया गया है इनमें से एक एक भेद भी अनेक प्रकार के हैं, उन सबका स्वरूप जानने के लिए तत्वार्थ सूत्र, नव पदार्थ, ज्ञानसार आदि ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए।

सब साधकों की योग्यता एक सी नहीं होती, अतः योग्यता के तारतम्य के अनुसार दो प्रकार की साधना बतलाई गयी हैं :— १ गृहस्थ और मुनि। इनमें से मुनियों के पांच महाव्रत होते हैं १ अहिंसा, २ मृषा-त्याग, ३ अचौर्य, ब्रह्मचर्य, ५ अपरिग्रह। इन पांचों व्रतों को सम्पूर्ण रूप से पालन करना मुनि का धर्म है और अंशतः पालन करना गृहस्थ का धर्म है। गृहस्थ के व्रत १२ कहे जाते हैं, वे इस प्रकार हैं :—

१ पूर्वोक्त ५ व्रतों को अपनी शक्ति के अनुसार अंशतः पालन करना अणुव्रत है जैसे निरपराधी जीव को मारने की बुद्धि से नहीं मारना, २ - ३ विशेष अनिष्ट कारक राजदण्ड व लोक निन्दा होने वाला असत्य न बोलना व वैसी चोरी नही करना, ४ पर स्त्री गमन का त्याग, धनधान्यादि का परिमाण कर लेना, उससे अधिक न रखना।

तीन अणुव्रत ... १ चारों दिशाओं में गमनागमन का परिमाण दिग् व्रत, भोग और उपभोग की वस्तुओं का परिमाण देशव्रत ३ अनावश्यक अनर्थ पापों का त्याग, अनर्थ दण्ड त्याग व्रत ४ शिक्षाव्रत ये हैं —

१ सामायिक (नियत समय तक समभाव से रहना) २ देशाविकास ... पूर्व परिमाण जो जीवन भर के लिए दिया गया हैं, उसका प्रत्येक दिन व समय के लिए संक्षेप करना ३ पोंषध ... उपवास पूर्वक शरीर विभूषादि का त्याग कर धर्म में तत्पर होना ४ सुपात्र साधुओं आदि को दान देना।

जीव का कर्म बंधन से मुक्त हो जाना ही मुक्ति है। इस अवस्था को प्राप्त होने पर आत्मा निर्लेप, निर्विकार एवं अनन्त शक्ति को प्राप्त होता हैं। जीव का स्वभाव ऊर्ध्व-गति - गामी कहा जाता है। अतः बंधन के कारण जीव का स्वभाव आच्छादित था, वह मुक्त होते ही प्रकट होता है, और उसके कारण आत्मा सब देव लोकों में ऊपर जो स्फटिक रत्न की सिद्ध शिला है उससे एक योजन के बाद लोक का अन्त होता है, वहां जाकर निवास करता है, मुक्तावस्था प्राप्त आत्माएं अपने ध्येय की सम्पूर्ण सिद्धि कर लेती है अतः वे 'सिद्ध' कहलाते हैं ऐसे सिद्ध अनन्त हैं, फिर भी अरूपी होने के कारण न तो स्थान भाव एवं भीड़ ही होती है और न शरीर के अभाव के कारण वहां जगह रुकती है। एक ही स्थान में अनन्त आत्माओं के रहने पर भी एक दूसरे के लिऐ व्याघात उत्पन्न नहीं करते। मुक्ति हो जाने के बाद पुनः संसार में लौटने का उनके कोई कारण विद्यमान नहीं रहता, अतः 'सादि अनंत' स्थिति को वे प्राप्त हो जाते हैं। ज्ञान दर्शन, चारित्र और अनन्त शक्ति उनमें व्यक्त है। विश्व प्रपंच दुख का घर है उसके एकांत भाव के कारण मुक्त जीव अनन्त सहज स्वभाविक सुख का अनुभव करते हैं। जिस प्रकार व्याधि दुःख हैं और उसके नष्ट हो जाने से मनुष्य सहज सुख का अनुभव

करता है , उसी प्रकार कर्मजन्य दुःख के नितान्त भाव में परम सुख प्राप्त हो जाता है। इच्छा, वासना, आसक्ति के अभाव में उनके कर्म बंध नहीं होते , और कर्म का संबन्ध न होने से वे संसार में पुनः लौटाते भी नहीं , शुद्धावस्था को प्राप्त करने पर सब आत्माएं एक समान हो जाती हैं , उनमें न तो कोई ऊँचा है और न कोई नीचा अर्थात बड़े छोटे-पन का वहाँ कोई तारतम्य नहीं रहता, प्रत्येक आत्मा जीवादि पदार्थों का स्वरूप जानकर आश्रव कात्याग संयम और तप रूप संवर-निर्जरा द्वारा कर्मों के बन्धन को तोड़ मुक्ति-शुद्धावस्था प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए , यहीं जैन दर्शन की साधना का चरम लक्ष्य है। शुभाशुभ कर्मों के कारण ही संसार का स्वरूप है कर्मों से मुक्त हो जाना ही मुक्ति है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप ही परमात्म पद है। प्रत्येक आत्मा पुरुषार्थ क्षेत्रकर्म द्वारा उसे प्राप्त कर सकता है। आत्मा कर्म बन्धन व उसके फल भोगने में स्वतन्त्र है। वैसे कर्मों का नाश करने में भी स्वतन्त्र है। यही जैन दर्शन का सारांश है।

जैनदर्शन की मनोवैज्ञानिक दृष्टि

हृदय नारायण मिश्र

दर्शन जीवन की व्याख्या है और जीवन मनोवैज्ञानिक तत्वों का निरूपण। भारतीय तत्व चिन्तकों ने दर्शन और मनोविज्ञान को अभिन्न माना है। साथ ही मनोविज्ञान का केवल तात्विक विवेचन ही नहीं किया है वरन् उसको व्यावहारिक उपयोगिता भी प्रदान की है। जैसे योग दर्शन में हम मनोविज्ञान की व्यावहारिक मान्यता प्रदान करते हैं वैसे ही जैन दर्शन में भी मनोविज्ञान को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया गया है। वैसे तो सम्पूर्ण जैन - दर्शन धर्म बनकर महालक्ष्य की प्राप्ति में साधना स्वरूप है ही। इसको कौन अस्वीकार कर सकता है। लेकिन मनोवैज्ञानिक रूप में इसकी उपयोगिता और व्यावहारिकता क्या है ? हमें यह देखना है। इस दृष्टि से अध्ययन के लिए हमारे सामने तीन विषय मुख्य रूप से हैं - मन लेश्या और कषाय।

मन :— जैन दर्शन के अनुसार 'मन' आत्मा के अनुभव या संवेदन के लिए एक साधन स्वरूप है। इसका कार्य इन्द्रियों की भाँति है। लेकिन इसको इन्द्रिय नहीं कहते। यह 'नोइन्द्रिय' कहलाता है। इन्द्रियाँ एक निष्ठ होती हैं लेकिन मन स्वार्थ ग्राहक होता है। इसका क्षेत्र असीम है। एक क्षण में चाहे जहाँ भ्रमण कर आता है। भगवान महावीर ने गौतम को इसका स्वरूप और भी स्पष्ट करते हुए इसको जड़ और चेतन दोनों बतलाया है। मन के पौद्गलिक और चैतन्यमय दो स्वरूप हैं। इनको क्रमशः द्रव्यमन और भावमन भी कहते हैं। द्रव्यमन पौद्गलिक तत्वों से बना है और भावमन आत्मा की चिन्तन और मनन की शक्ति के रूप में है। द्रव्यमन की कुछ समानता योग-दर्शन के चित्त से मिलती है। जहाँ तक इन दोनों के कार्यों का सम्बन्ध है, कोई भी मानसिक कार्य इनके योग से ही होता है। यदि एक का अभाव होगा तो कार्य सम्पन्न नहीं होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवन के सभी कार्य–व्यापार, चिन्तन, मनन, इच्छा, स्नेह, घृणा तर्क इत्यादि इसी के ऊपर निर्भर हैं। यही नहीं मन आत्मा के

विकास और पतन का महान कारण है। इसके अन्दर वह जादू की शक्ति है कि वह चाहे जिस व्यक्ति से कोई भी कार्य करा सकता है। कुत्सित जीवों से लेकर महान योगियों तक को इसने नाच नचाया है। यह जीवन में तूफान पैदा करता है, सक्रियता लाता है और निष्क्रियता भी। यह एकान्त में भी राग-रंग के महल खड़ा करता है और राज महलों के बीच भी पायल के झंकारों, राजगरिमा के मद, वैभव विलास के सिहरन तथा विद्वता से महान आकर्षण के प्रति घृणा पैदा करता है। इस पर विजय पाने के लिए साधक जितना ही प्रयास करता है, उतना ही राग द्वेष के कीचड़ मे फँसता जाता है। मन बड़ा ही चंचल और अजेय है। स्वामी गौतम ने इसकी तुलना दुष्ट घोड़ों से की है। गीता में भी मन के निग्रह और चचलता को स्पष्ट रूप से भगवान श्री कृष्ण ने स्वीकार किया है—

"असंशयं महाबाहो मनोदुर्निग्रहं चलम्,,

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि मन पर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती। महामुनि और साधकों ने इसके क्रिया व्यापार पर नियन्त्रण रखने के लिए और आत्मोद्धार करने के लिए व्यावहारिक शिक्षायें प्रदान की है, तथा मनोवैज्ञानिक उपायों को परिलक्षित किया है गौतम स्वामी कहते है:—

"मन दुर्जय होने पर भी अजेय नहीं। वह धर्म शिक्षाओं के प्रयोग द्वारा जीता जा सकता है। जैन दर्शन मन को वश में करने की महान उपयोगी शिक्षायें देता है। देखा जाये तो मानसिक स्वास्थ्य (Mental Health) के लिए इससे बढ़कर कोई उपाय नहीं है। चंचल मन को जब तक एकाग्र करके उसका संयमित रूप से जीवन-व्यापार नहीं हो पाता तब तक मानसिक शांति नही आती और मानसिक अशान्ति ही व्याधि तथा दुःख है। मन शरीर का तो राजा है और आत्मा के लिए मन्त्री के रूप मे काम करता है। इसलिए मन आत्मा को फंसाता है, बंधन मे डलता हैं। इससे मुक्ति पाने के लिए उपाय आवश्यक है। 'उत्तराध्ययन' में बताया गया है कि 'मन को वशीभूत करने के लिए धर्म-शिक्षा की आवश्यकता है'। गीता द्वारा प्रतिपादित अभ्यास और वैराग्य इससे भिन्न नही हैं।

"अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते"

गौतम स्वामी के इस प्रश्न के पूँछने पर कि 'मन पर नियन्त्रण करने से क्या लाभ है'? भगवान महावीर ने इस प्रकार समझाया -" मन के निग्रह से पांचों इन्द्रियाँ वश मे हो जाती हैं, विषय वासना का नाश हो जाता है तथा चंचलता भी दूर हो जाती है। इस प्रकार मनोविजेता एकाग्रता और परम शांति का अनुभव करता है यह है जैन-दर्शन का व्यवहारिक मनोविज्ञान। जीवन में उचित समायोजन (Adjustment) प्राप्त करने का इससे बढ़कर और क्या मनोवैज्ञानिक उपाय हो सकता है? गीता का 'स्थित-प्रज्ञ' इसी कोटि में तो आता है।

लेश्या :— इसका दूसरा मनोवैज्ञानिक पक्ष लेश्या है। लेश्या का साधारण रूप से अर्थ विचार मनोवृत्ति या तरंग होता है। किन्तु जैन तत्व-चिन्तकों ने इसमें यह देखा

है कि मानसिक वृत्तियों का कैसा वर्ण होता है ? या मन के विचारों को कितने रूपों (वर्गों) में विभक्त किया जा सकता है ? या इन विचारों की उत्पत्ति कैसे होती है ? वास्तव में यह गवेषणा मनोविज्ञान की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है यद्यपि आधुनिक मनोविज्ञान अपने क्षेत्र में बहुत आगे है किन्तु इस विषय में उसे कितनी सफलता मिली है, यह संदिग्ध है। भारतीय तत्व चिन्तकों ने मनोविचारों, वृत्तियों, परिणामों आदि का जो अध्ययन किया है वह सर्वांगीणता है। मुख्य रूप से जैन दार्शनिकों की देन इस विषय में अद्वितीय है। मनन करने योग्य बात तो यह है कि जिस विषय पर आधुनिक मनोवैज्ञानिक कार्य कर रहे हैं। उसपर हजारों वर्ष पहले ही कार्य हो चुका है।[1] सांख्य गीता तथा जैन दर्शन आदि इसके उदाहरण हैं।

जहाँ आधुनिक व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक विचारों को भी स्थूलता प्रदान करने का प्रयत्न करते हैं वहाँ जैन चिन्तकों ने बताया है कि मन के विचारों में वर्ण पाये जाते हैं। दूसरी बात महत्व की यह है कि विचारों के समूह का द्रव्य रूप पुद्गलमय होता हैं। विचारों की लहरियां पुद्गलो से मिली हुई होती हैं। हमारे मन में जो विचार उठते रहते हैं, वे विभिन्न वर्णों के होते हैं जैसे श्वेत, श्याम और कभी मिले हुए वर्ण आत्मा को प्रभावित करते रहते हैं। जैसे स्फटिक मणि के समक्ष जो भी रंग रहेगा मणि उसी के दीखने लगेगी। आत्मा स्फटिक मणि के समान है। मन के विचार जो वर्ण सहित होते हैं, इसे प्रभावित करते हैं। मन में उठने वाले विचारों के वर्ण का अर्थ है शुभाशुभ परिणाम। इस प्रकार लेश्याओं का वर्गीकरण छह प्रकारों में किया गया है, जो कि वर्ण के आधार पर ही है १ -- कृष्ण लेश्या, २ -- नील लेश्या, ३ -- कापोत लेश्या, ४ -- पीत लेश्या, ५ -- पद्म लेश्या, ६ -- शुक्ल लेश्या।

इन लेश्याओं को समझाने के लिए एक बड़ा ही मनोरंजक जैनागम उदाहरण है - छह व्यक्ति जामुन खाने के लिए प्रस्थान करते हैं। एक जामुन का वृक्ष मिलता है। उसको देखकर एक व्यक्ति ने कहा 'यह जामुन का वृक्ष मिल गया। इसको काटकर भूमि पर गिरा दो और चाहे जितना फल खाया जाय।' दूसरे व्यक्ति ने कहा 'पेड़ काटने से क्या लाभ ? मोटी मोटी डालें काट लें।' तीसरे ने कहा 'डाल न काटकर टहनियों को काटा जाय। चौथे व्यक्ति ने फूलों के गुच्छे ही तोड़ने को कहा। पांचवें ने केवल पके जामुन ही लेने को कहा तथा छठे व्यक्ति ने कहा " यह सब करने की क्या आवश्यकता ? पके फल तो नीचे गिरे हुए हैं उन्हीं को उठाकर खा लिया जाय।

इन विचारों के आधार पर ही उपर्युक्त छह प्रकार के लेश्याओं का वर्णन किया गया है। कितना मनोग्राही उदाहरण है। प्रत्येक व्यक्ति के मन में इस प्रकार के शुभाशुभ विचार उठते हैं। उन्हीं विचारों के अनुसार व्यक्ति कार्य भी करता है। इन लेश्याओं के अनुसार व्यक्ति में कौन कौन से गुण पाये जाते हैं। इसके सम्बन्ध में

---

[1] सत्, रज, तम,(श्वेत लाल, काला) प्रकृति के गुण सर्वत्र वर्तमान हैं, सृष्टि और विचारों में भी।

स्वामी गौतम के प्रश्न करने पर भगवान महावीर उत्तर देते है :—

(१) कृष्ण लेश्या :— हे गौतम ! कृष्ण लेश्या वाले व्यक्ति के विचार क्षुद्र, कठोर और हिंसक होते है। वह पापी होता है, स्वार्थी होता है और अविवेक तथा भोग विलास में लिप्त रहता है। परलोक का महत्व नहीं समझता। उदाहरण का प्रथम व्यक्ति इसी श्रेणी में आता है। सांख्य दर्शन और गीता के अनुसार तामस वृत्ति का व्यक्ति इसी का होता है।

(२) नील लेश्या :— इस लेश्या वाले व्यक्ति कृष्ण लेश्या वाले व्यक्ति से कुछ अच्छे होते हैं। इसके अन्दर अपने स्वार्थ के अतिरिक्त दूसरों के बचाव का भी विचार रहता है। अन्य गुण उसी की तरह इसमें भी होते हैं। इसके अन्तर्गत दूसरे व्यक्ति का उदाहरण आता है। यह भी तामस प्रधान होता है।

(३) कापोत लेश्या :— इस लेश्या के व्यक्ति मनसा, वाचा, कर्मणा से वक्र होते हैं। ऐसे लोग कठोर वाणी बोलते है, स्वार्थी होते हैं किन्तु उनमें रक्षा की भावना होती है। इसके लिए तीसरा व्यक्ति उदाहरण में आता है। इसमें रजस और तमस दोनों की प्रधानता होती है।

(४) पीत लेश्या :— इस लेश्या वाला व्यक्ति पवित्र, दयालु, अचंचल और आत्मनिग्रही होता है। परोपकार की भावना होती है। यह वृत्ति चौथे उदाहरण वाले व्यक्ति में पायी जाती है। इसमें सतोगुण की प्रधानता होती है।

(५) पद्म लेश्या :— ऐसे व्यक्ति जितेन्द्रिय, मिष्टभाषी और कमल के समान अपनी सुगन्ध से दूसरों को आनन्दित करते हैं। उदाहरण का पांचवां व्यक्ति इस प्रकार के लेश्या में आता है। इसमे सतोगुण विद्यमान रहता है।

(६) शुक्ल लेश्या :— ऐसे व्यक्ति समदर्शी, शान्त अन्त:करण वाला, वीतरागी और प्रेम की मूर्ति होता है। इसमें सतोगुण की पराकाष्ठा होती है। इसका उदाहरण छठा व्यक्ति है।

ऐसा शुद्ध अन्त:करण वाला व्यक्ति गीता के 'स्थित प्रज्ञ' के अन्तर्गत आता है।

"दुःखेष्वनुद्विग्नमना: सुखेषु विगतस्पृह:।
वीतराग भय क्रोध: स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।"[1]

जैन दर्शन में इस प्रकार के लेश्याओं के गुणावगुण बतलाकर प्रारम्भ के तीन लेश्याओं को त्याग कर अन्तिम तीन लेश्याओं को ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है।[2] इस प्रकार का मनोवैज्ञानिक विवेचन और तदनुसार उनका त्याग और ग्रहण हमारे दैनिक जीवन में कितना उपयोगी सिद्ध होगा इसका उत्तर अभ्यास के फल से ही मिल सकता है। क्षुद्र विचारों को छोड़कर श्रेष्ठ और श्रेष्ठतम विचारों की ओर अग्रसर होना क्या विश्व--कल्याण और विश्वशान्ति के लिए साधारण बात होगी ?

---

[1] गीता, २.६५।

[2] उत्तराध्ययन अ ३४, गाथा ५६, ५७।

विचारो के गुणों और वर्णों का जैन - दर्शन में जो सूक्ष्म विवेचन मिलता है क्या उससे हम व्यक्ति - परख या व्यक्तित्व - परीक्षण (Personality test) नहीं कर सकते ? रंगों के आधार पर व्यक्तित्व परीक्षण ही नहीं, अपितु रुचि - परीक्षण भी कर सकते है। यही रंग विशेष वाले व्यक्ति के विचार रसास्वादन में भी अन्तर रखते हैं।

इतना जान लेने के बाद हम लोगों में से कौन ऐसा होगा जो कृष्ण, नील और कपोत लेश्या का त्याग नहीं करेगा तथा पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या को ग्रहण करके आत्मोत्थान नहीं करेगा ? एक दिन तो मानसिक वृत्तियों को बदलना ही है। हो सकता है कि नाना भोगों को भोग लेने के बाद ही संभव हो, किन्तु संभव अवश्य है।

कषाय :— तीसरा मनोवैज्ञानिक अध्ययन कषाय के विषय में है। इसका अर्थ है-- 'कामों का बन्धन या जिसके कारण जीव को बार बार जन्म तथा मरण के चक्कर में आना पड़ता है। यह तो रहा उसका दार्शनिक निरूपण। इसका मनोवैज्ञानिक अभिप्राय यह है कि जिन मनोविचारों से आत्मा कलुषित हो जाता है, मनमें विकार पैदा हो जाते हैं, मनोविज्ञान की भाषा में उसे कषाय कहते हैं।' भगवान महावीर ने गौतम स्वामी से ऐसे चार कषायों के विषय में कहा है — क्रोध, मान, माया (कपट पूर्ण व्यवहार) और लोभ (Emotion of ownership) (कामुक-वासनाएं)।

इन कषायों में संवेग और मूल प्रवृत्तियों का अच्छा समावेश है। क्रोध एक उत्तेजक सांवेगिक अवस्था है। इसी से युयुत्सा (combat) की मूल प्रवृत्ति तीव्र होती है। शरीर की क्रियाओं में परिवर्तन हो जाता है। इससे विवेक और तर्क शक्ति का नाश हो जाता है।

भगवान महावीर क्रोध की उत्पत्ति का मनोवैज्ञानिक कारण उपस्थित करते है— चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला, उचित अनुचित का विवेक नष्ट कर देने वाला, प्रज्वलन स्वरूप आत्मा का परिणाम क्रोध कहलाता है। गीता भी क्रोध की उत्पत्ति के लिए इसी से मिलती जुलती विचार धारा का प्रतिपादन करती हैं —

"ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥"

अर्थात विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती हैं और आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है तथा कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। इस क्रोध के कारण ही बुद्धि और स्मृति नष्ट हो जाती है—

"क्रोधाभवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृति भ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥"

जैन दर्शन में क्रोध के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपों पर भी प्रकाश डाला गया हैं, जिसका इतना सूक्ष्म अध्ययन मनोवैज्ञानिक रूप में अन्यत्र नहीं मिलता। क्रोध, कोप, रोष, दोष, अक्षमा, संज्वलन, कलह, चाण्डिक्य, भंडन और विवाद इसके विभिन्न रूप हैं।

- मान :— स्वाभिमान की मूल प्रवृत्ति मनुष्य में पायी जाती है। इसी की एक

वृत्ति मान के रूप में प्रकट होती है। इसके भी विभिन्न रूप दिखलाए गए हैं — मान मद, दर्प, गर्व, पर-परिवाद, उत्कर्ष और अपकर्ष आदि। व्यक्तित्व - विनाश के यही कारण होते हैं। हृदय की विशालता का इससे लोप होता है। व्यक्ति अपना वास्तविक मूल्यांकन नहीं कर पाता। अन्धकार में पड़ा रहता है।

माया :— कपट पूर्ण व्यवहार माया कषाय है। ऐसे व्यवहार से व्यक्तित्व का ह्रास होता है। आत्ममलिनता की वृद्धि होती है। मायापूर्ण व्यवहार के कई अन्य रूप बताए गए हैं। जैसे उपाधि— किसी को ठगने के अभिप्राय से उसके पास जाना। और छलने के अभिप्राय से किसी का सम्मान करना। इच्छा न होते हुए भी दिखाने का कार्य करना आदि माया पूर्ण व्यवहार ही अन्य अवस्थाएं हैं।

लोभ :— किसी मोहक कर्म के करने पर जो चित्त में लालसा या तृष्णा पैदा होती है वही लोभ है। यह बड़ा ही व्यापक रूप में होता है। इसी में काम - वासना (Sex) भी सम्मिलित है। फ्रायड ने जिस प्रकार काम - वासना (libido) को ही सांसारिक कार्यों का आधार माना है। उसी प्रकार लोभ में भी सभी इच्छित कार्य पाये जाते है। गीता के अनुसार रजस गुण के कारण लोभ की उत्पत्ति होती है —

"सत्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।"

जैन दर्शन के अनुसार इसकी कई अवस्थाएं होती है— संग्रह वृत्ति, कांक्षा, अर्थ की याचना, चाटुकारिता, कामुकता, भोगाशा और गृद्धि अर्थात वस्तु में आसक्ति होना आदि। जैन दर्शन में 'कषाय' के रंग-रूप का भी वर्णन है। गीता में इसको आसुरी और दैवी-प्रकृति के रूप में दिया गया है।

"दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥"

अर्थात पाखंड, घमंड, अभिमान, क्रोध कठोर वाणी तथा अज्ञान आदि आसुरी संपदा को प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं। दैवी संपदा के इस प्रकार के लक्षण हैं—

"अहिंसा सत्यम क्रोधस्त्यागः शान्तिर पैशुनम्।
दया भुतेष्व लोलुप्तवं मार्दवं ह्री चापलम्॥"

जगत में कषाय के ही दुष्परिणाम दिखाई दे रहे हैं। दैवी संपदा को नष्ट करने वाले यही कषाय हैं। मनोवैज्ञानिक रूप में यही कषाय ही मानसिक वृत्तियों को विकृत करते हैं। इनसे बचने के लिए या यों कहिए कि जीवन में समायोजन लाने के लिए आवश्यक है कि इन कषायों पर विजय प्राप्त करें। काम, क्रोध तथा लोभ तीनों नरक के द्वार हैं —"त्रिविधं नरकस्येद द्वारं"। भगावन महावीर कहते है, 'क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विजय का, माया मित्रता का और लोभ सभी सद्गुणों का नाश करता है।" इन मनोविकृतियों को दूर करने का वे उपाय बतलाते हैं :—

शान्ति से क्रोध को, मृदुता से मान को, सरलता से माया को और सन्तोष से लोभ को जीतना चाहिए।[1]

---

[1] दश वैकालिक सूत्र अ० ८ गा० ३७, ३६४।

जैन मनोविज्ञान की व्यावहारिकता यही नहीं समाप्त होजाती बल्कि जीवन की सम्पूर्ण शान्ति इसका लक्ष्य है । कषायों की अतिशयता ही मनोविकृति या असामान्यता (Abnormality) का कारण है इसलिए इनका विनाश करना, इन पर विजय प्राप्त करना श्रेयस्कर है । इनके अन्त से ही भव - भ्रमण का अन्त होगा ।

"कषाय मुक्तिः किल मुक्तिरेव ।"

जीवन की परम शान्ति हीं जैन दर्शन का व्यावहारिक मनोविज्ञान है ।

जैन सिद्धान्त और समाजव्यापी प्रयोग

मुनि नेमिचन्द्र

किसी भी धर्म के सिद्धान्त चाहे जितने ऊंचे क्यों न हों, जब तक ये समाजव्यापी नहीं हो जाते, जनता के दैनिक जीवन व्यवहार मे उनका स्पर्श नही हो पाता, जनता ही नहीं, समस्त प्राणियों का सार्वत्रिक और सार्वकालिक सार्वभौम हित जिनसे नही हो पाता, वे सिद्धान्त अव्यवहार्य या संकीर्ण दायरे में बन्द हो जाते हैं, लोक जीवन मे उनका आचरण नहीं होता और वे केवल पोथियों में या विद्वानों के कण्ठों मे ही अवरूद्ध होकर अपना जीवन समाप्त कर देते है। वस्तुतः सिद्धान्त कहते ही उन्हें हैं, जो देश और काल की सीमा में अवरुद्ध न होकर समस्त प्राणियों का सभी काल और सभी क्षेत्रों में कल्याण करने वाले हों।

परन्तु जैन धर्म के सिद्धान्त चाहे जितने ही उच्च क्यों न रहे हों, वे भी आज संकीर्ण घेरे में बन्द होकर अव्यवहार्य से बन गए हैं। जन जीवन मे उनका स्पर्श और प्रवेश ही आज प्रतीत नहीं होता।

जैन धर्म के मूल और मुख्य सिद्धान्त ये है :— (१, समता, (२) अनेकांत, (३) अहिंसा, (४) सत्य, (५) अस्तेय, (६ ब्रह्मचर्य (७) अपरिग्रह वृत्ति, (८) संयम, (६) तप, (१०) कर्मवाद, (११) ईश्वर कर्तृत्वाद के बदले मानव पुरुषार्थवाद।

अब हम क्रमशः इनका गहराई से विवेचन करेंगे और यह देखेंगे कि इनका समग्र समाजव्यापी प्रयोग कैसे हो सकता है?

सर्वप्रथम समता को लीजिये। समता जैन धर्म का प्रथम सिद्धान्त है, जिस पर समस्त साधु साध्वियों और श्रावक श्राविकाओं रूप चतुर्विध संघ टिका है। साधुजीवन अङ्गीकार करते समय आजीवन सामायिक की प्रतिज्ञा करेमि भंते सामाइयं ... के पाठ से ली जाती है। उसी प्रकार गृहस्थ श्रावक वर्ग के १२ व्रतों में नौवां सामायिक (समता) व्रत है, जिसके द्वारा गृहस्थ प्रतिदिन कम से कम एक मुहूर्त (४८ मिनिट) के लिए भी समता का अभ्यास करने का प्रयत्न उपर्युक्त पाठ से सामायिक लेकर करना

परन्तु वह समता न तो साधुवर्ग के जीवन में ही प्रायः दृष्टिगोचर होती है, और न श्रावक वर्ग के ही जीवन में। क्योंकि जहां समता हो, वहां किसी भी धर्म, जाति, राष्ट्र आदि के प्रति राग - द्वेष, कलह, संघर्ष, भेदभाव, घृणा, दुर्भावना, अभिमान आदि का प्रादुर्भाव कैसे हो सकता है? वहां सभी धर्म सम्प्रदायों के प्रति सद्भावना पैदा होकर उनके सिद्धान्तों और अच्छाईयों को ग्रहण करने की वृत्ति होती है। जहां समता है, वहां निष्पक्षता पैदा होती है। जहां समता है. वहाँ क्रोधादि कषाय उपशान्त हो जाते हैं। पर आज जैनों में दूसरे धर्म सम्प्रदायों को नीचा बताने, उनका खण्डन करने, उनके अनुयायियों के साथ कलह करने की वृत्ति-प्रवृत्ति तक ही नहीं अपने धर्म के अन्तर्गत भी विभिन्न सम्प्रदायों के साथ परस्पर संघर्ष, द्वेष, मनोमालिन्य, गाली गलौज, निन्दा, लड़ाई झगड़े, मुकदमेबाजी आदि बातें भी दिखाई देती हैं। बल्कि धर्म सम्प्रदायों के मामले में जैनों ने समता को ताक में रखकर परस्पर पन्थों और मतों के झगड़े बढ़ाकर विषमता ही फैलाई। जातिकृत वैषम्य भी जैनों में अत्यधिक है। जिस वैषम्य के खिलाफ भगवान महावीर ने जन्मना जातिवाद, ऊंच नीच और भेदभाव को मिटाने का बीड़ा उठाया था, उन्हीं के सपूत साधु-श्रावकों ने इसमे उल्टी गंगा बहानी शुरु कर दी। जन्मना जातिवाद ही नहीं, भेदभाव, ऊंच नीच, छुआछूत आदि को भी स्थान देकर समता को धक्का देकर निकाल दिया। जो वर्ण या जातियां आजीविका या धन्धों (पेशों के आधार पर नियत की गई थी, जिनमें किसी को ऊंचा या नीचा समझने की बात ही नहीं थी, सभी वर्ण के लोगों को अपने अपने नियत व्यवसाय (कर्तव्य कर्म) के द्वारा सारे मानव समाज की सेवा करनी थी, वहां जातिगत विषमता भी जैन समाज में प्रविष्ट हो गई इसी प्रकार का समता का अभ्यास जीवन के दैनिक व्यवहार में, घर मे. दुकान पर, व्यवसाय में, नौकरी पेशे में एवं अन्य प्रवृत्तियों में होना चाहिए था, वह भी नहीं हो पाया है। घर और समाज के लोगों के साथ समता, ग्राहक के साथ समता, अपने सम्पर्क में आने वाले के साथ समता हो तो भला वहां छल, कपट, प्रपंच, अन्याय, भेदभाव आदि हो सकते हैं?

अनेकान्त सिद्धान्त की भी जैनों ने इसी तरह मिट्टी पलीद की है। अनेकान्त की जितनी दार्शनिक चर्चा जैनों ने की है, उतना ही एकान्तवाद को उन्होंने पकड़ा जहां भी किसी से थोड़ा सा विचार भेद या आचार भेद आया, फिर वह चाहे जैन धर्म के ही किसी फिरके का अनुयायी क्यों न हो, उसने उसे बहिष्कृत कर दिया, अपने एकान्त को पकड़ा, उसे उसकी दृष्टि से, उसकी परिस्थिती से, उसके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की नजरों से सोचने - समझने और उसमें निहित सत्य को ग्रहण करने का प्रयत्न नहीं किया। अनेकान्त का अर्थ ही है - सर्व दर्शन समन्वय, सर्वधर्म समन्वय, सर्व जाति समन्वय, सर्व राष्ट्र समन्वय आदि। प्रत्येक दर्शन, धर्म, जाति, राष्ट्र आदि में रहे हुए विभिन्न धर्मों (सत्यों) को अवरोधी - सापेक्ष दृष्टि से देखना और मानना ही तो अनेकान्त है। तब भला प्रत्येक धर्म, दर्शन और जाति आदि का परिस्थिती-सापेक्ष और शब्द सापेक्ष समन्वय करने के बदले अनेकान्त को केवल दार्शनिक चर्चा की चीज बनाकर जैनों ने इस उत्तम सिद्धान्त रत्न का दुरुपयोग ही तो किया है।

अहिंसा का जैनों ने ढिंढोरा तो खूब पीटा। पर वह अहिंसा मानवों के प्रति पारस्परिक व्यवहार में दया, क्षमा, सेवा, प्रेम, सहानुभूति, अशोषण वृत्ति, आदि भावों के व्यवहारों से हट कर केवल कीड़े मकोड़े तक ही सिमट गई है। या फिर वह केवल मानवेतर प्राणियों की रक्षा करने तक सीमित हो गई है। मानवों के पारस्परिक व्यवहार में, लेनदेन में, सामाजिक मसलों में, राजनीतिक प्रश्नों में, धर्म सम्प्रदायो के आपसी व्यवहार में उस अहिंसा सिद्धान्त को जैनों ने प्राय: ताक में रख दिया है। यही कारण है कि आज जब भी कोई आपसी संघर्ष या झगड़े अथवा वादविवाद होते हैं तो जैन लोग अहिंसक ढंग से, तप त्यागात्मक अहिंसक प्रतीकार के उपाय से, मध्यस्थ प्रथा से उसे हल न करके या तो सरकारी न्यायालयों के द्वार खटखटाते हैं, या पुलिस या फौज आदि दण्डशक्ति का आश्रय ढूंढते फिरते है। अथवा कायरता को अहिंसा का जामा पहनाकर किसी अन्याय, अत्याचार आदि को चुपचाप सह लेते हैं। महात्मा गाँधी जी ने जिस अहिंसा को मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के व्यवहार में प्रयोग द्वारा सिद्ध करके बत या उसी का प्रयोग करने में जैन साधुश्रावक न मालूम क्यों हिचकते हैं, या क्यों पीछे हटे हुए हैं ?

सत्य के आचरण की भी आज जैनों के हाथों से आज छीछालेदर हो रही है। व्यापारी वर्ग में असलियत छिपाने और झूठ बोलने, धोखा देने, असली के बदले नकली, बढ़िया माल दिखाकर घटिया देने, तोल नाप मे गड़बड़ करने, झूठा (बहियों आदि में) लिखने, बेईमानी करने आदि की प्रवृत्ति सर्वसामान्य बन रही है। अपनी भूल को दबाने और ढकने के कई प्रयत्न होते हैं। इसी प्रकार साधुवर्ग मे भी प्राय: दम्भ, दिखावा, कहना कुछ और करना कुछ और, असलियत छिपाना आशय में परिवर्तन करना, गुप्तता रखना आदि असत्याचरण की प्रवृत्तियां घर कर गई हैं। अगुप्तता (अन्दर बाहर एक रूपता) की प्रवृत्ति ही मानो खत्म हो गई है।

अस्तेय का सिद्धान्त भी आज जैन श्रावकवर्ग से बहिष्कृत हो रहा है। दूसरे के अधिकारों को या अधिकार की वस्तु को छीनना, गबन कर जाना, करचोरी, चोरबाजारी, तस्कर व्यापार, रिश्वत देना-लेना, बेईमानी करना आदि तो आम प्रवृत्तियां बन गई हैं। जैन साधुवर्ग में भी कहीं कहीं दूसरे के लिखे हुए लेख या पुस्तक पर अपना नाम छपवा देने के रूप में स्तेय घुस गया है।

ब्रह्मचर्य के सिद्धान्त को मानते हुए भी आज जैनो में प्राय: खानपान के असंयम फैशन, विलास मौजशौक सिनेमा प्रेक्षण उपन्यास आदि घासलेटी गन्दे साहित्य के पठन, दु:संग और सह-शिक्षण ने ब्रह्मचर्य वृत्ति को चौपट कर दिया है। मर्यादित रूप में ब्रह्मचर्य का पालन व पर स्त्री सेवन का दुष्कर सा हो गया है। साधु संस्था में भी ब्रह्मचर्य सिद्धान्त का प्राणप्रण से पालन दुर्लभ हो गया है। वातावरण और खानपान का प्रभाव भी इसमें निमित्त बना है।

अपरिग्रहवृत्ति का सिद्धान्त तो मानो साधुवर्ग के लिए ही रिजर्व हो, ऐसा लगता है। यही नहीं, जैन गृहस्थों में परिग्रह की मर्यादा का अतिक्रमण भी हो रहा है। परिग्रह वृद्धि की येन-केन प्रकारेण, अन्याय अनीति शोषण आदि से धन और सुख-

साधन बढ़ाने की - होड़ लग रही है। गाँधी जी के द्वारा बताई गई ट्रस्टीशिप की भावना भी - परिग्रह रखते हुए भी उसे समाज की थाती समझ कर अनासक्त रहने की वृत्ति - भी जैनों में लुप्त हो गई है।

संयम और तप का सिद्धान्त जो जीवन की हर प्रवृत्ति में अनिवार्य था, आज समाज जीवन से दूर होता जा रहा है। पांचों इन्द्रियों अथवा खानपान, वस्त्र, साधन आहार पानी, आदि पर संयम दुर्लभ हो गया है। तप तो जैनों में बहुत होता है, पर बाह्य तप ही, और उसमें भी केवल उपवास ही पर जोर दिया जाता है। सेवा, प्रायश्चित्त, विनय, कार्योत्सर्ग आदि आभ्यन्तर तप को मानो विस्मृत ही कर दिया है। और समाज शुद्धि के लिए तपश्चर्या तो दूर रहा, व्यक्तिगत शुद्धि भी तपस्या के साथ लगे आडम्बरों एवं दिखावों के कारण नहीं हो पाती।

'कर्मवाद' तो जैन धर्म का अकाट्य सिद्धान्त है। फिर भी आज अधिकांश जैनों की आस्था देववाद, भाग्यवाद या पराश्रयीवाद पर टिकी हुई। बिमारी आफत या अन्य किसी भी संकट के समय देवी-देवों की मनौती करने दौड़ते हैं, मन्त्र-तन्त्र, ज्योतिष, ग्रह-शांति आदि का आश्रय लेने जाते हैं। परन्तु उस दुःख के कारण को खोज कर उसका सही उपाय नहीं खोजते और न दुःख के कारण - असंयम - को छोड़ते हैं।

इसी प्रकार ईश्वर कर्तृत्ववाद के भरोसे न रहकर मानव पुरुषार्थवाद से भी जैनों का अधिकांश वर्ग विरत होता जा रहा है। स्वयं स्वधर्माचरण में पुरुषार्थ करके ज्ञान-दर्शन और चारित्र के पालन में प्रयत्न करके मुक्ति प्राप्त करने की आस्था का ह्रास भी दृष्टि-गोचर होता है। ईश्वर — (सिद्ध, निरंजन निराकार प्रभु) से मुक्त होने की प्रेरणा लेने के बदले स्वयं ज्ञान, दर्शन, चारित्र का पुरुषार्थ -- अहिंसा सत्यादि धर्माचरण का पुरुषार्थ — न प्रदान करके एक तरफ अधर्माचरण का त्याग नहीं करता, दूसरी तरफ ईश्वर (सिद्ध या मुक्त) को रिझाने - खुशामद करने का प्रयत्न करता है।

इस प्रकार जैन सिद्धान्त हैं तो बहुत उंचे और जीवन को सुन्दर बनाने वाले, किन्तु समाजव्यापी न होने के कारण उन सिद्धान्तों का पालन सामान्य व्यक्ति के लिए आज दुष्कर सा हो रहा है। साथ ही अकेला व्यक्ति उन सिद्धान्तों को जीवन में क्रियान्वित करना चाहता हुआ भी सामाजिक विषम परिस्थिती और चर्तुमुखी विकृत वातावरण के कारण सफल नहीं हो पाता।

उपर्युक्त जैन सिद्धान्तों को क्रियान्वित करने और समाजव्यापी बनाने का सर्व - श्रेष्ठ और अनुभव सिद्ध उपाय है — धर्ममय समाज रचना का प्रयोग। प्रस्तुत प्रयोग के माध्यम से समाज के विभिन्न स्तर के अंगों को संगठित करके उन संगठनों को परस्पर यथायोग्य क्रम से अनुबद्ध (वात्सल्य सम्बन्ध से जोड़) करके और समय - समय पर उनकी जीवन प्रक्रिया में आए हुए अनिष्टों - विकारों की शुचि करके शुद्ध और व्यापक सद्धर्म के विविध अंगों - नीति, न्याय, अहिंसा, सत्य आदि का यथायोग्य प्रवेश कराने का प्रयत्न करके प्रशिक्षण द्वारा धर्म को समस्त समाज के संस्कारों में बद्धमूल किया जा सकता है। जैन सिद्धान्तों को समग्र समाजव्यापी बनाने के लिए इस प्रयोग में

चार प्रकार के संगठन क्रमश: मान्य किए गए हैं — (१) अध्यात्म निष्ठ विश्व वात्सल्य-लक्षी क्रान्ति प्रिय साधुवर्ग, (२) धर्मनिष्ठ अध्यात्मलक्षी जनचारू जन-सेवक संगठन, (३) नीतिनिष्ठ धर्म लक्ष्मी जन-संगठन और (४) न्यायनिष्ठ नीतिलक्षी राज्यसंस्था (कांग्रेस)। जैन सिद्धान्तों और धर्ममय समाज रचना के प्रयोग कर्ता होंगे - क्रान्तिप्रिय साधुसाध्वी सन्यासी। वे सर्व धर्म समन्वय एवं सर्वजाति समन्वय की व्यापक दृष्टि लेकर पूर्वोक्त चारों संगठनों में से दो संगठनों जनसेवकों और जनता के सुसंगठनों का निर्माण करेंगे, शेष दो संगठन से पहले से ही बने हुए हैं. उन्हें परिष्कृत और सर्वांगी सर्व-क्षेत्र स्पर्शी दृष्टि सम्पन्न बनायेंगे। और चारों संगठनों के बिगड़े हुए और टूटे हुए अनु-बन्धों को सुधारेंगे और जोड़ेंगे। इस प्रकार सार्वत्रिक और सार्वकालिक हित की दृष्टि शुद्ध सार्वभौम धर्म और सिद्धान्तों को जनजीवन के संस्कारों में ओत प्रोत करके उनका सर्वांगीण जीवन निर्माण करेंगे।

तभी जैन सिद्धान्त, जो आज पुस्तकों और अलमारियों में या संकीर्ण दायरे में बन्द पड़े हैं, समग्र समाज व्यापी बन सकेंगे, इसमें कोई संदेह नहीं।

जैन तर्क में हेत्वनुमान

प्रद्युम्न कुमार

तर्कशास्त्र (Logic) चाहे भारतीय हो या पश्चिमी, हेत्वनुमान (Syllogism) सर्वत्र ही तर्क की धुरी रूप में स्वीकार किया गया है। उसकी यथार्थ स्थिती और रूप का वर्णन तर्कशास्त्र का मुख्य विषय है। यहाँ लेखक को केवल जैन तर्काश्रित हेत्वनुमान का एक सरल अध्ययन पश्चिमी तर्कशास्त्र के दृष्टिकोण से प्रस्तुत करना अभीप्सित है।

हेत्वनुमान (Syllogism) क्या है ?

हेत्वनुमान का तकनीकी प्रयोग पश्चिमी तर्कशास्त्र की प्रमुख देन हैं। अनुमान की आकारी (Formal) प्रशाखा में अव्यवहित (Immediate) और व्यवहित (Mediate प्रकारों में से व्यवहित का प्रकाशन हेत्वनुमान के रूप में होता है। अत: पश्चिमी तर्कशास्त्र के जनक अरस्तू ने हेत्वनुमान की परिभाषा इस प्रकार की "हेत्वनुमान एक वह रीति है जिस में कुछ कथित बातों से तद्भिन्न कुछ अन्य बातें अनिवार्य रूपेण अन्वागमित होती हैं।"[1] इसी परिभाषा को परिष्कृत रूप में ब्रेडले ने प्रकट किया, कि "हेत्वनुमान वस्तुत: एक तर्क है, जिसमें, उद्देश्य और विधेय के रूप में, दो पदों का एक ही तीसरे पद के साथ दिए हुए सम्बन्ध से अनिवार्य रूपेण स्वयं उन्हीं दोनों पदों के मध्य, उद्देश्य - विधेय रूप में, सम्बन्ध निगमित किया जाता है :"[2] इससे स्पष्ट है, कि हेत्वनुमान अनुमान का एक विशिष्ट तकनीक है. जिसके द्वारा प्रकृत अनुमान को सुव्यवस्थित ढंग से दूसरों तक पहुँचाया जा सकता है और निष्कर्ष की वैधता पूर्व स्वीकृत सिद्धान्तों के आधार पर सिद्ध की जा सकती है। इसमें तीन पद होते हैं, जिनमें से एक मध्यम पद के द्वारा शेष दो पदों में सम्बन्ध प्रस्थापित किया जाता है।

भारतीय तर्कशास्त्र के विवेचन में प्रमाज्ञान अथवा विशुद्ध ज्ञानोपलब्धि के करण रूप में प्रमाण का सम्यक् विवेचन सभी तर्कशास्त्रियों को मान्य रहा हैं। यद्यपि प्रमाण की संख्या के बारे में मतभेद मिलता है, किन्तु प्रमाणिक चिंतन के लिए प्रमाणशास्त्र

---

1. Anal Priora, 24 b, 18 c.f. Joseph's An Intro. to Logic p. 249.
2. Principles of Logic, Bk. II ,Pt I c. IV p. 10.

के अध्ययन पर सभी एकमत हैं। जैन परम्परानुसार प्रमाण के केवल दो भेद हैं — **प्रत्यक्ष** और **परोक्ष**[1] परोक्ष प्रमाण के भी स्मृति, **प्रत्यभिज्ञ**, **तर्क** **अनुमान** और **आगम** भेद सम्मत हैं[2]। इन भेदों में न्याय की दृष्टि से केवल तर्क और अनुमान का ही महत्व है। तर्कव्याप्ति - निर्माण की एक सहायक प्रक्रिया है, जिसे पश्चिमी तर्कशास्त्र में आगमन पद्धति के रूप में अध्ययन किया जाता है। अनुमान साधन से साध्य ज्ञान की उपलब्धि में निहित है।[3] यही साधन से साध्यविज्ञान की शाब्दिक अभिव्यक्ति भारतीय तर्कशास्त्र में **परार्थानुमान** रूप में जानी जाती हैं, जो पश्चिमी तर्कशास्त्र के हेत्वनुमान के समकक्ष हैं अतः परार्थानुमान और हेत्वनुमान प्रयोजन की दृष्टया लगभग एक ही है।

जैन हेत्वनुमान का प्रारूप

जैन नैयायिकों का हेत्वनुमान के सम्बन्ध में अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण है, जो हिन्दू और आरस्तवीय नैयायिकों के दृष्टिकोणों से अंशतः साम्य रखते हुए सम्पूर्णतः उनसे भिन्न है। जैन हेत्वनुमान का आकार अपेक्षाकृत संक्षिप्त है। उसमें केवल दो अवयव अभिप्रेत हैं, जबकि न्याय दर्शन में पांच और आरस्तवीय लॉजिक में तीन माने जाते हैं। यथा —

पर्वत पर अग्नि है ;
क्योंकि वहां धूम्र है।

इसमें पहला अवयव **पक्ष** और दूसरा **हेतु** है[4]। इसी को हिन्दू न्याय में निम्न प्रकारेण पांच अवयवों में व्यक्त किया जाता है।[5]

पर्वत पर अग्नि है; (प्रतिज्ञा)
क्योंकि धूम्र है। (हेतु)
जहां जहां धूम्र, वहां वहां अग्नि, जैसे रसोई, चिमनी आदि। (उदाहरण)
ऐसा ही यहां ; उपनय
अतः पर्वत पर अग्नि हैं निगमन

आरस्तवीय हेत्वनुमान में उपर्युक्त पांच अवयवों में से पहले तीन को विलोम रीति से रखा जाता है, तथा उदाहरण का लोप हो जाता है। यथा[6] —

जहां धूम्र वहां अग्नि है; (Major Premise)
पर्वत पर धूम्र हैं, (Minor Premise)
पर्वत पर अग्नि है। (Conclusion)

---

[1] परीक्षामुखम् , २—१,
[2] वही, ३—२ ,
[3] वही ३—१४; प्रमाण मीमांसा, १—२—७।
[4] परीक्षामुखम् ३—३७; प्रमाण नय तत्वालोकालंकार, ३—२८ ॥
[5] तर्क संग्रह ४५; न्याय सूत्र, १—१—३२ ॥
[6] Intermediate Logic, p. 200.

जैन नैयायिक पंचावयव हेत्वनुमान में उदाहरण प्रभृत तीन अवयवों को तर्क की विद्वद्-गोष्ठी के लिए व्यर्थ मानते हैं। उनका तर्क है, कि हेत्वनुमान में उदाहरण नामक अवयव का कोई कार्य नहीं है। उदाहरण से न तो साध्य ज्ञान उपलब्ध होता है, क्योंकि साध्य के लिए तो हेतु ही है, और न व्याप्ति का ही उदय होता है, क्योंकि व्याप्ति अथवा अविनाभाव के निश्चय के लिए विपक्ष का प्रतियोग सिद्ध होना आवश्यक है। मात्र रसोई के उदाहरण से व्याप्ति का निश्चय नहीं होता [1] साथ ही उदाहरण केवल विशिष्ट दृष्टान्त का निर्देशन करता है, जबकि व्याप्ति सामान्य सत्य का। एक विशेष सामान्य की सिद्धी के लिए अपर्याप्त है। यदि उस एक विशेष पर संदेह करें, तो दूसरा विशेष, दूसरे पर संदेह की अवस्था में फिर और, और ऐसे ही **अनवस्था** दोष निश्चित है।[2] अब कोई कहे, कि उदाहरण से व्याप्ति स्मरण हो जाता है, तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि व्याप्ति स्मरण के लिए हेतु ही पर्याप्त है और उदाहरण सर्वथा निरर्थक है [3] यहां तक कि जैन नैयायिकों की दृष्टि में उदाहरण न केवल निरर्थक ही है, बल्कि साध्यज्ञान की उपलब्धि में बाधक है, क्योंकि हमें सिद्ध करना है कि आग पर्वत पर है, जबकि उदाहरण में आग पर्वत के बिना भी सम्भव दिखाई पड़ती है। अतः प्रस्तुत पक्ष के मुकाबिले दूसरे पक्ष को प्रकट कर संदेह का बीजारोपण होता है, जो साध्यज्ञान की सिद्धि में सहायक नहीं कहा जा सकता।[4]

उदाहरण के अतिरिक्त पंचावयव हेत्वनुमान में अन्तिम दो अवयवों यथा उपनय और निगमन, भी जैनों के अनुसार पिष्टपेषण मात्र हैं। जैन नैयायिक पूछता है, कि उपनय और निगमन में जो यह कहा गया, कि 'ऐसा ही यह पर्वत धूम्रमय है' 'अतः पर्वत पर अग्नि है,' तो क्या उपर्युक्त अवयवों में वर्णित और विशेषतः उदाहरण में प्रमाणित पर्वत पर धूम्र से अग्नि के ज्ञान में कोई संदेह रह गया था? अन्यथा उपनय और निगमन की क्या आवश्यकता पड़ गई? अतः जैन नैयायिक के अनुसार उपनय और निगमन भी अनुमान के अंग नहीं हैं, क्योंकि पक्ष में साध्य और हेतु के निश्चय हो जाने पर कोई संशय शेष नहीं रहता।[5]

हेत्वनुमान में उदाहरण अंग के प्रति जैनों की उपेक्षा, वास्तव में, एक विशेष मानी रखती है। हिन्दू नैयायिक व्याप्ति - निर्माण की क्रिया को वस्तुतः अनुमान से पृथक् नहीं मानता, बल्कि उसी का एक अंग मानता है। परन्तु जैन नैयायिक व्याप्ति अथवा अविनाभाव सम्बन्ध के निश्चयीकरण की क्रिया को तर्क अथवा ऊहा का नाम देता है जिसे अनुमान की ही तरह अनुमान से अलग स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार करता है यहीं पर जैन और अरस्तवीय तर्कशास्त्र एकमत हो जाते हैं। अरस्तू ने सामान्य साध्यवाक्य (Major premise) अथवा व्याप्ति वाक्य की उपलब्धि आगमन प्रक्रिया

---

[1] परीक्षामुखम् ३—३८—३९ ॥

[2] वही, ३—४०; प्रमाण नयतत्वा, ३—३६ ॥

[3] परीक्षा० — ३—४१ पर प्रमेय रत्नमाला; प्रमाण नयतत्वा० ३—३७ ॥

[4] परीक्षा०— ३—४३ ।

[5] वही, ३—४४ ।

के द्वारा मान्य की है, जिसे वह तार्किक अनुमान की प्रक्रिया से पृथक् स्थान देता है। यह आगमन प्रक्रिया का विज्ञान ही जैनों का तर्क अथवा ऊहा है, जो व्याप्ति रूपी सामान्य ज्ञान की खोज और सिद्धि करता है और अनुमान - क्रिया का आधार निर्गति करता है। अतः पश्चिम के आकारी तर्कशास्त्री (Formal logicians) ठीक जैनों की भांति हेत्वनुमान में न तो उदाहरण, न उपनय और न निगमन ही स्वीकार करते हैं, बल्कि मध्यम पद अथवा हेतु (Middle term) के द्वारा साध्य अथवा धर्म (Major term) का पक्ष अथवा धर्मी (Minor term) के साथ सम्बन्ध स्थापन होना मानते हैं।[1]

हेतु मीमांसा

अब हम हेत्वनुमान के समस्त पहलुओं के विस्तार में न जा कर केवल हेतु पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं, क्योंकि हेतु ही सम्पूर्ण हेत्वनुमान की धुरी है। हेतु के माध्यम से ही अप्रत्यक्ष साध्य का ज्ञान होता है। अतः साध्य की सम्यक् ज्ञानोपलब्धि के लिए हेतु का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है।

हेतु की परिभाषा में जैन नैयायिक माणिक्यनन्दी का कथन है कि जिस पद का साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध हो वही हेतु या लिङ्ग है[2]। अविनाभाव का तात्पर्य है कि जिसके होने पर हो और न होने पर न हो। माना क हेतु है और ख साध्य। क और ख के अविनाभाव का तात्पर्य है कि ख के होने पर ही क हो, न होने पर न हो, तो ऐसा सम्बन्ध अविनाभाव होता है। पश्चिमी तर्कशास्त्र में इसे अनिवार्य (Necessary) सम्बन्ध कहते हैं[3]। ऐसा अनिवार्य सम्बन्ध सहभाव और क्रमभाव दो रूपों से व्यक्त होता है।[4] पश्चिम में इसे क्रमशः Law of co-existence and Law of succession कहते हैं[5] इस प्रकार अनिवार्य सम्बन्ध में हेतु के सभी दृष्टान्त साध्यमय होते हैं अथवा हेतु का कोई दृष्टान्त साध्य के बिना सम्भव नहीं है। यदि साध्य नहीं है, तो हेतु भी नहीं हो सकता; उसी के साथ साथ यदि हेतु उपलब्ध है तो इसका अर्थ है कि वहां साध्य अवश्य है। इस प्रकार न्याय की पदावली में हेतु व्याप्य और साध्य व्यापक कहा जाता है, क्योंकि साध्य ही हेतु के दृष्टान्तों में व्यापक होता है। इससे स्पष्ट हुआ, कि हेतु और साध्य का सम्बन्ध व्याप्य व्यापक सम्बन्ध होता है, जो सहभाव और क्रमभाव दोनों रूपों में व्यक्त हो सकता है।

जैन नैयायिक जब हेत्वनुमान का कथन करता है, तो उसमें दोनों अवयवों में त्रिकोणीय सम्बन्ध को व्यक्त करता है, यथा —

---

[1] देखो ब्रेडले कृत Principles of Logic Bk II Pt I ch IV p. 10. जोसेफ कृत An Intro. to Logic p. 253; परीक्षा ३—१४, प्रमाण मीमांसा, १-२-७ ॥

[2] परीक्षा० ३—१५

[3] देखो एल० एस० स्टेबिंग कृत A Modern Intro. to Logic p.271.

[4] परीक्षा० ३—१६; प्रमाण मीमांसा १ २—१०।

[5] मिल कृत Logic Bk III ch XXII p.4.

पर्वत पर अग्नि है;
क्योंकि धूम्र है ।

इसमें त्रिकोणीय सम्बन्ध इस प्रकार है:—
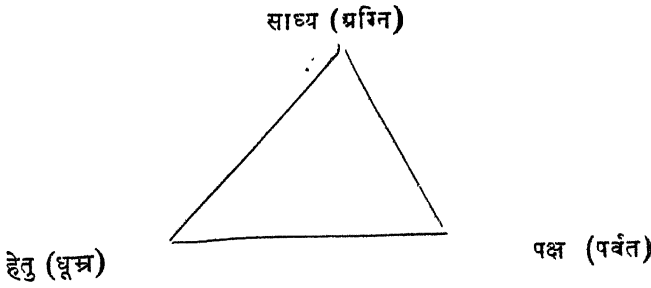
एक ओर, पक्ष और साध्य का गुह्य सम्बन्ध, दूसरी ओर, पक्ष और हेतु का प्रकट सम्बन्ध तथा तीसरी ओर, हेतु और साध्य का ऊहाश्रित अविनाभाव सम्बन्ध है । इस में अविनाभाव को आधार बनाकर धूम्र और अग्नि को क्रमश: प्रकट और गुह्यमान कर अनुमान निम्नोक्त चार रूप सम्भव हो जाते हैं :—

(१) क — पर्वत पर अग्नि है;
क्योंकि वहां धूम्र है ।

ख — पर्वत पर शीतस्पर्श नहीं है;
क्योंकि वहां धूम्र है ।

(२) क — पर्वत पर धूम्र नहीं है;
क्योंकि अग्नि नहीं है ।

ख — पर्वत पर शीतस्पर्श है;
क्योंकि अग्नि नहीं है ।

इन चार विकल्पों की सम्भावना का आधार अविनाभाव का निहित अर्थ (implication) है । निहित अर्थ है ; धूम्र और अग्निका व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध, जिसमें—

(१) जहां धूम्र (व्याप्य), वहां अग्नि (व्यापक); फिर

२) जहां अग्नि (व्यापक), वहां अग्नयभाव नहीं अथवा शीतस्पर्श नही (क्योंकि अग्नयभाव = शीतस्पर्श) ;उसी प्रकार

३) जहां अग्नि नहीं, वहां धूम्र (व्याप्य) नहीं; और

(४) जहां अग्न्य भाव,वहां अग्नि का विरोधी शीतस्पर्श, है ।

इन चार विकल्पों की संभावना का आधार अविनाभाव का निहित अर्थ है । निहित अर्थ में अविनाभावी पदों का व्याप्य - व्यापक सम्बन्ध ही द्रष्टव्य है, कि (१) जहाँ व्याप्य, वहाँ व्यापक; (२) जहां व्यापक नहीं, वहां व्याप्य नहीं । यहां पहले विकल्प में व्याप्य हेतु है और दूसरे में व्यापक । पहले में हेतु पक्ष में उपलब्ध है (देखिये उपर्युक्त दउाहिरण स० १ (क) व (ख)) अत: जैन हेतु की उपस्थिती और अनुपस्थिती को

आधार बनाकर ही इसे दो भेदो मे रखते है, [1]यथा —

(१) उपलब्धि हेतु
(२) अनुपलब्धि हेतु

फिर उसी सम्बन्ध मे हेतु का साध्य के साथ दोहरा सम्बन्ध होता है। जब हेतु साध्य को सिद्ध करता है, तो वह एक तरफ तो साध्य का विधान करता है और दूसरी ओर साध्याभाव का निषेध भी करता है। जब धूम्र रूपी उपलब्धि हेतु एक ओर अग्नि का विधान करता है, तो दूसरी ओर वह अग्न्याभाव की सभी अवस्थाओं यथा शीतस्पर्श आदि का निषेध भी करता है। ऐसा ही अनुपलब्धि हेतु मे जब एक ओर अग्नि का अभाव धूम्राभाव का विधान करता है, तो दूसरी ओर वही अग्न्यभाव धूम्राभाव के विरुद्ध भाव (धूम्र) का निषेध (धूम्राभाव की अनेक अवस्थाओं, यथा शीतस्पर्श आदि की सम्भावना सिद्ध करके) करता है। इस प्रकार उपलब्धि और अनुपलब्धि हेतु में विधि और निषेध के मिश्रण मे हेतु मुख्यत: चार रूपों में प्रकट होता है; यथा [2]

(१) उपलब्धि अविरुद्ध उदा० सं० १—क
(२) उपलब्धि विरुद्ध उदा० सं० १—ख
(३) अनुपलब्धि अविरुद्ध उदा० सं० २—क
(४) अनुपलब्धि विरुद्ध उदा० सं० २—ख

इससे निम्नलिखित नियम प्रकाश मे आते है: —

(१) उपलब्धि हेतु का पक्ष के साथ धनात्मक (भावात्मक) सम्बन्ध होता है।
(२) अनुपलब्धि हेतु का पक्ष के साथ ऋणात्मक (निषेधात्मक) सम्बन्ध होता है।
(३ अविरुद्ध हेतु का साध्य के साथ धनात्मक (संगतिपूर्ण) सम्बन्ध होता है।
(४) विरुद्ध हेतु का साध्य के साथ ऋणात्मक (असंगतिपूर्ण) सम्बन्ध होता है।

इस प्रकार हेत्वनुमान के त्रिकोणीय सम्बन्ध मे उपरोक्त प्रकार से दो भुजाओं का निर्णय पूरा हो गया, यथा, हेतु और पक्ष, तथा हेतु और साध्य के बारे में। अब शेष भुजा रहती है पक्ष और साध्य की, जो उपर्युक्त दो भुजाओं की स्थिती से निश्चित होती है; अथवा जिसके नियम उपर्युक्त नियमों से निगमित होते है। यह निगमन गणित के सीधे और सरल नियमों के आधार पर बड़ी आसानी से किया जा सकता है। गणित में धन धन के समुच्चय का परिणाम धन, धन ऋण के समुच्चय का ऋण, तथा ऋण ऋण के समुच्चय का परिणाम धन होता है। हमने हेतु सम्बन्ध के उपर्युक्त चार नियमों मे उपलब्धि को +, अनुपलब्धि को —, अविरुद्ध को +, और विरुद्ध को — मान्य किला है। अत: गणित के सर्वमान्य नियम के अनुसार—

(१) उपलब्धि (+) अविरुद्ध (+) हेतु से निष्कर्ष धनात्मक होगा;
(यथा — पर्वत पर अग्नि है। — १—क)
(२ उपलब्धि +) विरुद्ध (—) हेतु से निष्कर्ष ऋणात्मक होगा;

[1] परीक्षा० ३ — ५७।
[2] वही - ३—५८, चम्पत राय जैन कृत Science of Thougth p. 121,32.

(यथा— पर्वत पर शीत नहीं है। -- १—ख)

(३) अनुपलब्धि (—) अविरुद्ध (+) हेतु से निष्कर्ष ऋणात्मक होगा;

(यथा— पर्वत पर धूम्र नहीं है। -- २—क)

(४) अनुपलब्धि (—) विरुद्ध (—)हेतु से निष्कर्ष धनात्मक होगा;

(यथा— पर्वत पर शीत है। -- २—ख)

हेत्वनुमान का आकारी निर्वचन

अब हम यदि उपर्युक्त चारों हेत्वनुमानों को आकारी तर्कशास्त्र (Formal logic) की कसौटी पर कसें, तो हम पायेंगे, कि वे वस्तुत: एक ही प्रकार के तर्क हैं, और उन की तात्विकता में कोई भेद नहीं हैं। हम उन्हें आकारी तर्क की भाषा में निम्न प्रकार व्यक्त कर सकते है : —

१ (क) सभी धूम्रावस्थायें अग्नि की अवस्था है, Ma p
पर्वत पर धूम्रावस्था है, Sa P
पर्वत पर अग्न्यवस्था है। Sa P (Barbara)

१ (ख) कोई धूम्रावस्था शीतावस्था नही है; Me P
पर्वत पर धूम्रावस्था है; Sa M (Celarent)
पर्वत पर शीतावस्था है Se P (P= शीत को अग्न्यवस्था मानते हुए)

२ (क) कोई अग्न्यभाव धूम्रावस्था नहीं है; P eM
पर्वत पर अग्न्याभाव है; Sa P
पर्वत पर धूम्रावस्था नहीं है। Se M (Celarent)

१ (ख) सब अग्न्यभाव शीतावस्थाएं हैं; Pa M
पर्वत पर अग्न्याभाव है ; sa P (Barbara)
पर्वत पर शीतावस्था है। Sa M (M=शीत को धूम्राभाव मानते हुए)

उपर्युक्त उदाहरणों को देखने से बिलकुल स्पष्ट है कि चारों हेत्वनुमानों के साध्य-वाक्य (Major premise) बिलकुल एक ही हैं। १ (क) के साध्यवाक्य का प्रतिवर्तित वाक्य (Obverse) १ (ख) का साध्यवाक्य है। १ (ख) के साध्यवाक्य का परिवर्तित वाक्य (Converse) और १ (क) का परिवर्तित वाक्य (Contrapositive) २ (क) का साध्यवाक्य है; तथा २ (क) के साध्यवाक्य का प्रतिवर्तित वाक्य (Obverse) तथा १ (क) के साध्यवाक्य का पूर्ण परिप्रतिवर्तित (Complete-contrapositive(वाक्य २ (ख) का साध्यवाक्य है। यथा—

Ma P = Me P (Obverse) —१ ख
Ma P = Pe M (Incomplete contraposition)—२ क
Ma P = Pa M (Complete contraposition) —२ ख

इस प्रकार चारों साध्यवाक्य मूल में एक हैं। चारों का पक्ष तो पूर्णत: अपरिवर्तित ही हैं। हेतु पद अवश्य उपलब्धि और अनुपलब्धि प्रकारों में भिन्न हो गया है, जो साध्यवाक्य की जरूरत के लिहाज से हुआ है, क्योंकि प्रत्येक हेत्वनुमान को प्रथम

आकार में ही रहना था। इसीलिए सभी हेत्वनुमान प्रथम आकार के बारबरा और केलीरीन संयोगों मे ही सिमिट कर रह गए है। अत: आकार की दृष्टि से वे सब एक ही प्रकार के अनुमान हैं।

ऊपर के पैराग्राफ में जैन हेत्वनुमान की पश्चिमी तर्कशास्त्र सम्मत आकार के संदर्भ में जांच की गई। अब इस के साथ हम यह भी बताना चाहेंगे, कि जैन हेत्वनुमान का विषय विस्हार आरस्तवीय हेत्वनुमान के सीमित विस्तार से ही बंधा नहीं है। वस्तुत: जैन हेत्वनुमान की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है, कि वह आकारी दृष्टिकोण से खरा सिद्ध होते हुए भी आकारी तर्कशास्त्र की सीमाओं से भी मुक्त है। पश्चिम के आधुनिक तर्कशास्त्रियों ने आकारी तर्कशास्त्र की घोर आलोचना की है, क्योंकि इस आकारी हेत्वनुमान (Formal Syllogism) की परिधि बहुत संकीर्ण है। इसमें प्रत्येक प्रकार की तर्क प्रक्रिया आकारगत नहीं की जा सकती, जैसे कारण से कार्य, कार्य से कारण, अनुक्रम और सहवर्ती घटनाओं सम्बन्धी आदि अनुमान। अत: वस्तुगत दृष्टि (Material viewpoint) से आकारी हेत्वनुमान कोई अधिक मूल्य नही रखता। उसमें केवल उद्देश्य और विधेय रूप में आने योग्य वर्ग की सम्बोधना (Class - Concepts) सम्बन्धी अनुमान ही विषय किए जा सकते हैं। परन्तु जैन हेत्वनुमान में वर्ग सम्बोधना के साथ अन्य अनुमानों का भी स्थान है। और उसी दृष्टिकोण से हेतु के उपर्युक्त चार भेदों के अनेक उपभेद किए गए हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

इन उपभेदों का विस्तार पूर्वक अध्ययन सम्प्रति स्थानाभाव के कारण सम्भव नहीं है। मात्र नाम और एक एक उदाहरण नीचे दिया जाता है:—

(१) उपलब्धि अविरुद्ध हेतु[1]

(क) **व्याप्य** — उदाहरण — शब्द परिणामी है;
क्योंकि शब्द बनता है।

(ख) **कार्य** — उदा० — इस पशु में बुद्धि है;
क्योंकि इसमें व्यवहार है।

(ग) **कारण** — उदा० — यहां छाया है;
क्योंकि छाता हैं।

(घ) **पूर्वचर** —उदा० — रोहिणी का उदय होगा;
क्योंकि कृत्तिकोदय हो चुका है

(ङ०) **उत्तरचर** — उदा० — भरिणी का उदय हो चुका है;
क्योंकि रोहिणी का उदय है।

(च) **सहचर** — उदाहरण — फल में रूप है;
क्योंकि रस हैं।

(२) उपलब्धि विरुद्ध हेतु[2]

(क) **व्याप्य** —उदाहरण — यहाँ शीतस्पर्श है:
क्योंकि उष्णता है।

---

[1] परीक्षा० ३—६५ से ७० तक।

[2] वही – ३—७२ से ७७ तक।

(ख) कार्य — उदा० — यहाँ शीतस्पर्श नहीं है;
क्योंकि धूम्र है।

(ग) कारण — उदा० — इस शरीर में सुख नहीं है;
क्योंकि हृदय शल्य है।

(घ) पूर्वचर — उदा० — मुहूर्त्तान्ते रोहिणी उदित न होगा;
क्योंकि रेवति का उदय है।

(ङ०) उत्तरचर — उदा० मुहूर्त्त पूर्व भरिणी उदित नहीं हुआ;
क्योंकि पुष्य का उदय है।

(च) सहचर — उदा० — यह भित्ती परभाग विहीन नहीं है ;
क्योंकि उसका अंतर्भाग मौजूद है।

(२) अनुपलब्धि अविरुद्ध हेतु[1]

(क) स्वभाव — उदा० — भूतल पर घट नहीं है;
क्योंकि घट-स्वभाव नहीं है।

(ख) व्यापक — उदा० — यहां शिंशिपा (वृक्ष) नहीं है;
क्योंकि कोई वृक्ष नहीं हैं।

(ग) कार्य = उदा० — यहां अप्रतिबद्ध सामर्थ्य अग्नि नहीं है;
क्योंकि धूम्र नहीं है।

(घ) कारण — उदा० — यहाँ धूम्र नहीं हैं;
क्योंकि अग्नि नहीं है।

(ङ०) पूर्वचर — उदा० — मुहूर्त्त बाद रोहिणी उदित न होगी;
क्योंकि कृत्तिकोदय नहीं है।

(च) उत्तरचर — उदा० मुहूर्त्त पूर्व भरिणी उदित नहीं हुआ है;
क्योंकि अभी कृत्तिका ऊपर नही है।

(छ) सहचर — उदा० — समतुला में उन्नाम (एक ओर उठान) नहीं है;
क्योंकि नाम (दूसरी ओर गिरान) नहीं है।

(३) अनुलपब्धि विरुद्ध हेतु[2]

(क) कार्य — उदा० — इस प्राणी में व्याधि विशेष है;
क्योंकि निरामय चेष्टाएं नहीं हैं।

(ख) कारण — उदा० — इसमें दुःख है;
क्योंकि इष्ट संयोग नहीं है।

(घ) स्वभाव — उदा० — सभी वस्तुएं अनेकान्तिक है;
क्योंकि उनमें एकान्त भाव नहीं है।

इस प्रकार संक्षेप में, उपलब्धि के दोनों प्रकारों में ७-७ उपप्रकार और अनुपलब्धि में अविरुद्ध के ८ और विरुद्ध के ३ उपप्रकार किए गए हैं।

---

[1] वही -- ३—७६ से ८५ तक।
[2] वही -- ३ ८७ से ८६ तक।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है, कि जैन विचारक तर्क के क्षेत्र में किसी धर्म के तर्कशास्त्रियों से पीछे नहीं हैं। हेत्वनुमान की विशद चर्चा और उसका ऊहापोह सहित विवेचन जैन दर्शन की महान उपलब्धि है। इसमें अरस्तु की हेत्वनुमान सम्बन्धी सभी उपलब्धियाँ तथा सीमाओं से अधिकांशतः युक्ति मौजूद है।

सहायक ग्रन्थ सूची

(१) माणिक्यनन्दि — परीक्षामुखम्
(२) हेमचन्द्राचार्य — प्रमाण मीमांसा
(३) अनन्त वीर्य — प्रमेयरत्न माला
(४) प्रमाणनय तत्वालोकालंकार
(५) अन्नम भट्ट — तर्क संग्रह
(६) गौतम — न्यायसूत्र
(७) F. H. Bradley — Principles of Logic
(८) H. W. B. Joseph — An Introduction to Logic
(९) L. S. Stebbing — A Modern Introduction to Logic
(१०) J. S. Mill — Logic
(११) Welton — Intermediate Logic
(१२) C. R. Jain — Science of Thought
(१३) S. C. Ghoshal's English Commentary to परीक्षामुखम्
(१४) Dr. P. K. Jain — Jain and Hindu Nyaya Logic—A Comparative Study

कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत

मोहन लाल मेहता

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में आचारांगादि ग्रंथ आगमरूप से मान्य है जबकि दिगबम्र सम्प्रदाय में कर्मप्राभृत एवं कषायप्राभृत को आगमरूप मान्यता प्राप्त है। कर्मप्राभृत को महाकर्मप्रकृतिप्राभृत, आगमसिद्धान्त, षट्खण्डागम, परमागम, खण्डसिद्धान्त, षट्खण्ड-सिद्धान्त आदि नामों से जाना जाता है। कर्मविषयक प्ररूपणा के कारण इसे कर्मप्राभृत अथवा महाकर्म प्रकृतिप्राभृत कहा जाता है। आगमिक एवं सैद्धान्तिक ग्रन्थ होने के कारण इसे आगमसिद्धान्त, परमागम, खण्डसिद्धान्त आदि नाम दिए जाते हैं। चूंकि इसमें छः खण्ड हैं अतः इसे षट्खण्डागम अथवा षट्खण्डसिद्धान्त कहा जाता हैं।

कर्मप्राभृत का उद्गम स्थान दृष्टिवाद नामक बारहवां अंग है जो कि अब लुप्त है। दृष्टिवाद के पांच विभाग है: परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वंगत और चूलिका। इनमें से पूर्वगत के चौदह भेद हैं। इन्हीं को चौदह पूर्व कहा जाता है। इनमें से अग्रायणीय नामक द्वितीय पूर्व से कर्मप्राभृत नामक षट्खण्डागम निकला है।

अग्रायणीय पूर्व के निम्नांकित चौदह अधिकार हैं :—

१. पूर्वान्त, २. अपरान्त, ३. ध्रुव, ४. अध्रुव, ५. चयनलब्धि, ६. अर्धोपम, ७. प्राणिधिकल्प, ८. अर्थ, ९. भौम, १०. व्रतादिक, ११. सर्वार्थ, १२. कल्पनिर्याण, १३. अतीत सिद्ध-बद्ध १४. अनागत सिद्ध-बद्ध। इनमें से पंचम अधिकार चयनलब्धि के के बीस प्राभृत है जिनमें चतुर्थ प्राभृत कर्मप्रकृति हैं। इस कर्मप्रकृति प्राभृत से ही षट्-खण्डसिद्धान्त की उत्पत्ति हुई है।

षट्खण्डसिद्धान्त रूप कर्मप्राभृत आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि की रचना है। इन्होंने प्राचीन कर्मप्रकृति प्राभृत के आधार से प्रस्तुत ग्रन्थ का निर्माण किया। कर्मप्रा-भृत (षट्खण्डागम) की धवला टीका में उल्लेख है कि सौराष्ट्र देश के गिरिनगर की चन्द्रगुफा में स्थित धरसेनाचार्य ने अंगश्रुत के विच्छेद के भय से, महिमा नगरी में सम्मिलित हुए दक्षिणापथ के आचार्यों के पास एक लेख भेजा। आचार्यों ने लेख का प्रयोजन भलिभांति समझकर शास्त्र धारण करने में समर्थ दो प्रतिभासम्पन्न साधुओं को आंध्र देश के वेन्नातट से धरसेनाचार्य के पास भेजा। धरसेन ने शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र व शुभवार में उन्हें ग्रन्थ पढ़ाना प्रारम्भ किया। क्रमशः व्याख्यान करते हुए आषाढ़ मास

के शुक्लपक्षकी एकादशी के पूर्वाह्न में ग्रन्थ समाप्त किया। विनय पूर्वक ग्रन्थ की परि- समाप्ति से प्रसन्न हुए भूतों ने उन दो साधुओं में से एक की पुष्पावली आदि से भारी पूजा की जिसे देख कर धरसेन ने उनका नाम 'भूतबलि' रखा। दूसरे की भूतों ने पूजा कर अस्त-व्यस्त दंतपंक्ति को समान कर दिया जिसे देखकर धरसेन ने उसका नाम 'पुष्पदन्त' रखा। वहां से प्रस्थान कर उन दोनों ने अंकुलेश्वर में वर्षावास किया। वर्षावास समाप्त कर आचार्य पुष्पदन्त वनवास गए तथा भट्टारक भूतबलि द्रमिलदेश पहुँचे। पुष्पदन्त ने जिनपालित को दीक्षा देकर (सत्प्ररूपणा के) बीस सूत्र बनाकर जिनपालित को पढ़ाकर भूतबलि के पास भेजा। भूतबलि ने जिनपालित के पास बीस सूत्र देखकर तथा पुष्पदन्त को अल्पायु जानकर महाकर्मप्रकृतिप्राभृत (महाकम्मपयडिपाहुड) के विच्छेद की आशंका से द्रव्यप्रमाणानुगम से प्रारम्भ कर आगे की ग्रन्थ रचना की। इस खण्डसिद्धान्त की अपेक्षा से भूतबलि और पुष्पदन्त भी श्रुत के कर्ता कहे जाते हैं। इस प्रकार मूलग्रन्थकर्ता वर्धमान भट्टारक हैं, अनुग्रन्थकर्ता गौतमस्वामी हैं तथा उपग्रन्थकर्ता राग - द्वेष - मोह रहित भूतबलि - पुष्पदन्त मुनिवर हैं।

षट्खण्डागम के प्रारम्भिक भाग सत्प्ररूपणा के प्रणेता आचार्य पुष्पदन्त हैं तथा शेष समस्त ग्रन्थ के रचयिता आचार्य भूतबलि हैं। धवलाकार ने पुष्पदन्त रचित जिन बीस सूत्रों का उल्लेख किया है वे सत्प्ररूपणा के बीस अधिकार ही हैं क्योंकि उन्होंने आगे स्पष्ट लिखा है कि भूतबलि ने द्रव्यप्रमाणानुगम से अपनी रचना प्रारम्भ की। सत्प्ररूपणा के बाद जहाँ से संख्याप्ररूपणा अर्थात द्रव्यप्रमाणानुगम प्रारम्भ होता है वहाँ पर भी धवलाकार ने कहा है कि अब चौदह जीवसमासों के अस्तित्व को जान लेने वाले शिष्यों की उन्हीं जीवसमासों के परिमाण के प्रतिबोधन के लिए भूतबलि आचार्य सूत्र कहते हैं: सपहि चोद्दसण्हं जीवसमासाणमत्थित्तमवगदाणं सिस्साणं तेसिं चैव परिमाणपडिबोहणट्ठं भूदबलियाइरियो सुत्तमाह।

आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि का समय विविध प्रमाणों के आधार पर वीर - निर्वाण के पश्चात् ६०० और ७०० वर्ष के बीच सिद्ध होता है।

कर्मप्राभृत के छः खण्डों के नाम इस प्रकार हैं :— १. जीवस्थान, २. क्षुद्रकबन्ध, ३. बंधस्वामित्वविचय, ४. वेदना, ५. वर्गणा, ६. महाबन्ध।

जीवस्थान के अन्तर्गत आठ अनुयोगद्वार तथा नौ चूलिकाएं है। आठ अनुयोगद्वार इनसे सम्बन्धित हैं :— १. सत्, २. संख्या (द्रव्यप्रमाण), ३. , क्षेत्र ४. स्पर्शन, ५. काल, ६. अन्तर, ७. भाव, ८. अल्पबहुत्व। नौ चूलिकाएं ये हैः— १. प्रकृति- समुत्कीर्तन, २. स्थानसमुत्कीर्तन, ३-५. प्रथम-द्वितीय- तृतीय महादण्डक, ६. उत्कृष्ट- स्थिती, ७.जघन्यस्थिती, ८. सम्यक्त्वोत्पत्ति, ९. गति-आगति। इस खण्ड का परिमाण १८००० पद है।

क्षुद्रकबन्ध के ग्यारह अधिकार हैं:— १.स्वामित्व, २. काल, ३ अन्तर, ४. भंग- विचय, ५. द्रव्यप्रमाणानुगम, ६. क्षेत्रानुगम, ७. स्पर्शनानुगम, ८. नाना-जीव-काल, ९. नाना-जीव अन्तर, १०. भागाभागानुगम, ११. अल्पबहुत्वानुगम।

बन्धस्वामित्वविचय में निम्न विषय हैं :— कर्मप्रकृतियों का जीवों के साथ

बन्ध, कर्मप्रकृतियों की गुणस्थानों मे व्युच्छिति, स्वोदय बंधरूप प्रकृतियां, परोदय बन्धरूप प्रकृतियाँ।

वेदना खण्ड में कृति और वेदना नामक दो अनुयोगद्वार,हैं। कृति सात प्रकार की है:- १. नामकृति, २. स्थापनाकृति, ३. द्रव्यकृति, ४. गणनाकृति, ५. ग्रन्थकृति, ६. करण-कृति, ७. भावकृति। वेदना के १६ अधिकार है:— १. निक्षेप, २. नय, ३. नाम, ४. द्रव्य, ५. क्षेत्र, ६. काल ७. भाव, ८. प्रत्यय, ९. स्वामित्व, १०. वेदना, ११. गति, १२. अनन्तर, १३, सन्निकर्ष, १४. परिमाण, १५. भागाभागानुगम, १६. अल्पबहुत्वा-नुगम। इस खण्ड का परिमाण १६००० पद है।

वर्गणा खण्ड का मुख्य अधिकार वन्धनीय है जिसमे वर्गणाओं का विस्तृत वर्णन है। इसके अतिरिक्त इसमें स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्ध इन चार अधिकारो का भी अन्तर्भाव किया गया है।

तीस हजार श्लोक - प्रमाण महाबन्ध नामक छठे खण्ड में प्रकृतिबंध, स्थितिबन्ध अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध इन चार प्रकार के बन्धों का बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। इस महाबध की प्रसिद्धि महाधवल के नाम से भी है।

कसायपहुड अथवा कषायप्रभृत को पेज्जदोसपाहुड, प्रेयोद्वेषप्राभृत अथवा पेज्जदो-षप्राभृत भी कहते हैं। पेज्ज का अर्थ प्रेय अर्थात् राग और दोस का अर्थ द्वेष होता हैं। चूंकि प्रस्तुत ग्रन्थ में राग और द्वेषरूप कषाय का प्रतिपादन किया गया है इसलिए इसके दोनों नाम सार्थक हैं। ग्रंथ की प्रति पादन शैली अति गूढ़, संक्षिप्त एवं सूत्रात्मक हैं। प्रतिपाद्य विषयों का केवल निर्देश कर दिया गया है।

कर्मप्राभृत अर्थात षट्खण्डागम के ही समान कषायप्राभृत का उद्गमस्थान भी दृष्टिवाद नामक बारहवां अंग ही है। उसके ज्ञानप्रवाद नामक पाचवे पूर्व की दसवीं वस्तु के पेज्जदोष नामक तीसरे प्रभृत से कषायप्राभृत की उत्पत्ति हुई है। जिस प्रकार कर्मप्रकृतिप्राभृत से उत्पन्न होने के कारण षट्खण्डागम को कर्मप्राभृत, कर्म-प्रकृतिप्राभृत अथवा महाकर्मप्रकृतिप्राभृत कहा जाता है उसी प्रकार पेज्जदोष प्राभृत से उत्पन्न होने के कारण कषायप्राभृत को भी पेज्जदोषप्राभृत कहा जाता है।

कषायप्राभृत के रचयिता आचार्य गुणधर हैं जिन्होंने गाथासूत्रों में प्रस्तुत ग्रन्थ कों निबद्ध किया। आचार्य गुणधर ने इस कषायप्राभृत ग्रन्थ की रचना क्यों की ? इसका समाधान करते हुए जयधवला टीका में आचार्य वीरसेन ने बताया है कि ज्ञानप्रवाद (पांचवे) पूर्व की निर्दोष दसवीं वस्तु के तीसरे कषायप्रभृतरूपी समुद्र के जल समुदाय से प्रक्षालित मतिज्ञानरूपी लोचनसमूह से जिन्होंने तीनों लोक को प्रत्यक्ष कर लिया है तथा जो त्रिभुवन के परिपालक हैं उन गुणधर भट्टारक ने तीर्थ के व्युच्छेद के भय से कषायप्राभृत के अर्थ से युक्त गाथाओं का उपदेश दिया।

कषायप्राभृतकार आचार्य गुणधर के समय का उल्लेख करते हुए जयधवलाकार ने लिखा है कि भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् ६८३ वर्ष व्यतीत होने पर अंगों और पूर्वों का एकदेश आचार्य - परम्परा से गुणधराचार्य को प्राप्त हुआ। उन्होंने प्रवचन वात्सल्य के वशीभूत हो ग्रन्थ - विच्छेद के भय से १६००० पदप्रमाण पेज्ज-

दोसपाहुड का १८० गाथाओं में उपसंहार किया। महाकर्मप्रकृतिप्राभृत अर्थात् षट्खण्डागम के प्रणेता आचार्य पुष्पदन्त व भूतबलि के समय का उल्लेख भी धवला इसी रूप में है। इन उल्लेखो को देखने से ऐसी प्रतीति होती है कि कषायप्राभृतकार और महाकर्मप्रकृतिप्राभृतकार सम्भवतः समकालीन रहे होंगे। धवला व जयधवला के अध्ययन से ऐसी कोई प्रतीति नहीं होती कि अमुक प्राभृत की रचना अमुक प्राभृत से पहिले की है अथवा बाद की। अन्य किसी प्राचीन ग्रन्थ मे भी एतद्विषयक कोई स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं हुआ।

कषायप्राभृतकार ने स्वयमेव दो गाथाओ मे अपने ग्रन्थ के प्रतिपाद्य अर्थात् अर्थाधिकारों का निर्देश दिया है। इन गाथाओं की व्याख्या चूर्णिसूत्रकार और जयधवलाकार ने भिन्न भिन्न रूप से की है। यद्यपि ये दोनों इसमे एकमत हैं कि कषायप्राभृत के १५ अर्थाधिकार है तथापि उनकी गणना में एकरूपता नहीं हैं। चूर्णिसूत्रकार ने अर्थाधिकार के निम्नोक्त १५ भेद गिनाये है :—

१. पेज्जदोस - प्रेयोद्वेष, २. ठिदि - अणुभागविहित्त - स्थिति - अनुभागविभक्ति, ३. बंधग अथवा बन्ध - बंधक या बंध, ४. संकम - संक्रम, ५. वेदग्र अथवा उदय — वेदक या उदय, ६. उदीरणा, ७. उवजोग - उपयोग, ८. चउट्ठाण - चतुःस्थान, ९. वंजण - व्यञ्जन, १०. सम्मत अथवा दसणमोहणीय - उवसामणा-सम्यक्त्व या दर्शनमोहनीय की उपशामना, ११. दंसणमोहणीयक्खवणा - दर्शनमोहनीय की क्षपणा, १२. देसविरदि, १३. संजम - उवसामणा अथवा चरित्तमोहणीय - उवसामणा — संयमविषयक उपशामना या चारित्रमोहनीय की उपशामना, १४. सजमक्खवणा अथवा चरित्तमोहणीयक्खवणा - संयमविषयक क्षपणा या चारित्रमोहनीय की क्षपणा, १५. अद्धापरिमाणणिद्देस - अद्धापरिमाणनिर्देश।

जयधवलाकार ने जिन पन्द्रह अर्थाधिकारों का उल्लेख किया है वे ये हैं:—

१. प्रेयोद्वेष, २. प्रकृतिविभक्ती, ३. स्थितीविभक्ति, ४. अनुभागविभक्ति, ५. प्रदेशविभक्ति-क्षीणाक्षीणप्रदेश-स्थित्यन्तिकप्रदेश, ६. बंधक, ७. वेदक, ८. उपयोग, ९. चतुःस्थान, १०. व्यञ्जन, ११. सम्यक्त्व, १२. देशविरति, १३. संयम १४. चारित्रमोहनीय की उपशामना, १५. चारित्रमोहनीय की क्षपणा।

इस स्थान पर जयधवलाकार ने यह भी निर्देश किया है कि इसी तरह अन्य प्रकारों से भी पन्द्रह अर्थाधिकारों का प्ररूपण कर लेना चाहिए। इससे प्रतीत होता है कि कषायप्राभृत के अर्थाधिकारों की गणना में एकरूपता नहीं रही है।

वैसे तो कषायप्रभृत में २३३ गाथाएं मानी जाती हैं किन्तु वस्तुतः इस ग्रन्थ में १८० गाथाएं ही हैं। शेष ५३ गाथाएं कषायप्राभृतकार गुणधराचार्य कृत न होकर सम्भवतः आचार्य नागहस्तिकृत है जो व्याख्या के रूप में बाद में जोड़ी गई हैं। यह बात इन गाथाओं को तथा जयधवला टीका को देखने से स्पष्ट मालूम होती है। कषायप्राभृत के मुद्रित संस्करणों में भी सम्पादकों ने पृथक्करण का पूरा ध्यान रखा है। आचार्य नागहस्ति कषायप्राभृत चूर्णिकार आचाय यतिवृषभ के गुरु हैं। यतिवृषभाचार्य ने यद्यपि इन गाथाओं पर भी चूर्णिसूत्र लिखे हैं तथापि उनके कर्तृत्व के

विषय में किसी प्रकार का उल्लेख नहीं किया है। सम्भवत: इस प्रकार का उल्लेख उन्होंने आवश्यक न समझा हो क्योंकि कषायप्राभृतकार ने नाम का भी उन्होंने अपने चूर्णिसूत्रों में कोई निर्देश नहीं किया है। यह भी सम्भव है कि उन्हें एतद्विषयक विशेष जानकारी प्राप्त न हुई हो एवं परम्परा से चली आने वाली गाथाओं पर अर्थ के स्पष्टीकरण की दृष्टि से चूर्णिसूत्र लिख दिये हों। जो कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि कषायप्राभृत की २३३ गाथाओं में से १८० गाथाएं तो स्वयं ग्रन्थकार की बनाई हुई है और शेष ५३ गाथाएँ परकृत हैं। जयधवलाकार ने जहाँ कहीं कषायप्राभृत की गाथाओं का निर्देश किया है, सर्वत्र १८० की संख्या ही दी है। यद्यपि उन्होंने एक स्थान पर २३३ गाथाओं का उल्लेख किया है और यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ये सब गाथाएं यानी २३३ गाथाएं गुणधराचार्यकृत है किन्तु उनका यह समाधान सन्तोषकारण नहीं है।

जैन दर्शन में मोक्ष के आकर्षक तथ्य

हृदय नारायण मिश्र

भारतीय दर्शन की विचारणायें सामान्यतः नास्तिक और आस्तिक दो वर्गों में प्रारम्भ से ही विकसित होतीं रही है वेदान्तादि आस्तिक दर्शनों में तो मोक्ष शास्त्र पर गम्भीर चिंतन हुआ है और आजकल भी हो रहा है। किन्तु नास्तिक दर्शनों में भी (लोकायात दर्शन की बात यहाँ छोड़िये) प्रमुखता जैन और बौद्ध मतों में मोक्ष के विषय को लेकर कम विवेचना नहीं हुई है। बहुत कुछ सम्भव है इन दर्शनों में मोक्ष का प्रतिपादन होने के कारण ही ये अभी तक लोक प्रिय बने रहे हैं। इसी तथ्य को लेकर हम यहाँ कुछ विचार पल्लवन करना चाहेंगे।

भारत का तथा - कथित सर्वाधिक मौलिक-दर्शन-जैन 'प्रत्यक्षानुमान शब्दानि'[1] प्रमाणों पर ही नहीं वरन् घोर आत्म संयम से प्राप्त स्वान्तरानुभूति के प्रबल प्रमाण पर अवलम्बित महान तीर्थङ्करों की एक अनुपम उपलब्धि है।[2] अन्य इतर भारतीय दर्शनों की भांति इसमे भी बुद्धि बिलास के एकान्तिक चमत्कार से ही सन्तुष्ट न रहकर एक व्यावहारिक जीवन दर्शन की अनुकरणीय परिणति की व्याख्या निःसन्देह श्लाघ्य है। संसार चक्र के प्रवर्तन में ईश्वर के किसी अस्तित्व की आवश्यकता न समझने वाले इस नास्तिक दर्शन का प्रबल विरोध होने पर भी ढ़ाई सहस्त्र वर्ष से इसकी मन्द किन्तु अक्षुण्ण धाराका निरन्तर प्रवाहित होता रहना इस बात का प्रबल प्रमाण है कि बाह्यरूप से प्रतीत होने वाली अनेक असम्भावनाये और स्वयं विरोधो (Self-inconsistent) मान्यताएं सामान्य व्यक्ति की सीमित ग्राह्य - शक्ति के बाहुबल में न समा सकने के कारण ज्वलन्त सत्य का यथार्थ रूप भले ही प्रस्तुत न कर पाये किन्तु जैन दर्शन के गर्भ में सत्य की दुर्दमनीय शक्ति निःसन्देह विद्यमान है। इस जीवन दर्शन

---

[1] न्यायावतार वितृति पृष्ठ ४।

[2] Dr. S. N. Dasgupta — A History of Indian Philosophy, Volume I p. 170.

के प्रवर्तकों ने हमारी इस दुर्बलता को समझते हुए बड़ी उदारता के साथ सापेक्षिक सत्य कहकर निरपेक्ष सत्य को प्रयत्न द्वारा प्राप्त करने के लिए सप्रेम प्रोत्साहित किया है। इस दर्शन के अनुसार मोक्ष की स्थिति समझने के पूर्व जीव के स्वरूप पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है।

वर्द्धमान महावीर ने आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करते हुए कहा था कि सब सन्देहों से परे हम अपने असंदिग्ध स्वरूप को बिना माने किसी अन्य वस्तु में सन्देह भी नहीं कर सकते हैं। यदि हमें आत्म स्वरूप पर ही सन्देह है तो हमारे लिए संसार में संदेह मुक्त वस्तु ही क्या रह जाएगी।[1] इसके अतिरिक्त गुण और गुणी अन्योन्याश्रित होते हैं, गुण का अनुभव होते ही गुणी भी सामने आ उपस्थित होता है और गुणों की कल्पना गुण के बिना उद्भूत ही नहीं होती है अत: ज्ञान की अनुभूति ज्ञान के अधिष्ठान आत्मा की अस्तित्व सिद्धि के लिए पर्याप्त है।[2] इसके विपरीत यदि यह तर्क दिया जाए कि ज्ञान का अधिष्ठान कोई स्वतन्त्र आत्मा न होकर मानव शरीर ही है तो इसका सहज उत्तर यही है कि रूप अधिष्ठान वाले शरीर का अरूप गुण ज्ञान नहीं हो सकता। दर्शन, स्मृति आदि ज्ञानात्मक गुण शरीर रहते हुए भी लुप्त होते देखे जाते है। यदि वे शरीर के गुण होते तो शरीर के नष्ट होने तक उनका भी लोप न होता।[3] सतकार्यवाद के अनुसार भी अचेतन भूतों से चेतन ज्ञान की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। बालुका कणों का कैसा भी सिद्धान्त हो उसमें से तेल निकलने की सम्भावना नहीं मानी जा सकती।[4] द्राक्षारस में मादकता सूक्ष्म भाव से ही विद्यमान रहती है, तभी कालक्रम से वह प्रकट हो जाती है। इसके अतिरिक्त आत्माके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए जैन दर्शन में यह भी कहा जाता है कि आत्मा की अस्वीकृति भी उसके अस्तित्व को स्वीकार करती है क्योंकि यदि उसका अस्तित्व न होता तो उसके अनस्तित्व का प्रश्न ही कहाँ से आता।[5]

जैन दर्शन में छ: द्रव्यों में जीव भी एक है जिसका विशेष लक्ष्य चेतना है।[6] उसमें अनन्त चातुष्टय है।[7] मुक्त जीवों में तो उसकी पूर्णाभिव्यक्ति होती है किन्तु बद्ध जीवों में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मो से ज्ञान, दर्शन सुख और वीर्य आवृत रहते हैं। ऐसे अगणित जीव अनादिकाल से निगोदों में निबद्ध हैं और संसारी जीवों के मुक्त होने पर ही उनके रिक्त स्थानों की पूर्ति किया करते हैं।[8]

---

[1] विशेषावश्यक भाष्य १५५७।

[2] विशेषावश्यक भाष्य १५५८।

[3] प्रमेय कमल मातण्ड पृष्ठ ११४।

[4] शास्त्र वार्ता समुच्चय — ४४।

[5] शास्त्र वार्ता समुच्चय — ७६।

[6] पंचाध्यायी २।१६२ (स्वरूप चेतना जन्तो......)।

[7] Dr. S. N. Dasgupta, A History of Indian Philosophy. Volume I p.189.

[8] Jacobi's article on Jainism B. R. E.

प्रमाणनय -- तत्वालोक के अनुसार जीव चैतन्य स्वरूप है' परिणामी है, कर्त्ता है, साक्षात् भोक्ता है, जिस देह में रहता है उसी के परिणाम का है प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न है और पुद्गल का उस पर प्रभाव पड़ा करता है[1] (चेतन स्वरूप: परिणामी कर्त्ता साक्षाद्भोक्ता स्वदेह परिमाण: प्रति क्षेत्रम् भिन्न ! पौदगलिका दृष्टि वं चायम्) । जीव की चेतना दर्शन और ज्ञान समन्वित होती है ।[2] दर्शन में सत्ता मात्र का बोध होता है और ज्ञान मे उसके गुण प्रगट हो जाते हैं । अतः वह अन्य से भिन्न पहिचान में आ जाती है । पारिभाषिक शब्दों मे दर्शन को निराकार उपयोग (indeterminate - cognition) की संज्ञा दी गयी है ।[3] ज्ञान पुन: दो प्रकार का होता है, पहला स्व-भाव ज्ञान जो सहज, प्राकृत, प्रत्यक्ष और इन्द्रिय - स्वतन्त्र होता है । यह जीव का आन्तरिक गुण है इसे केवल ज्ञान कहते हैं । दूसरा विभाव ज्ञान जो सत् और असत् दो प्रकार का कहा गया है । सत् विभाव ज्ञान मति, श्रुति अवधि और मन: पर्याय चार प्रकार का न्यूनाधिक कर्मों के प्रभाव से होता है । असत् - विभाव ज्ञान मत्यज्ञान, श्रुत्यज्ञान और विभंग तीन प्रकार का होता है । बद्ध जीवों में चारों सत् विभाव ज्ञान एक समय में एक साथ न होकर क्रमश: होते हैं, किन्तु मुक्त जीव एक ही क्षण में सब विभाव ज्ञान और स्वभाव ज्ञान सहज ही प्राप्त कर लेता है । उमास्वामी,[3] कुंदकुंद, पूज्यपाद सबका यही मत है ।

अन्यान्य भारतीय दर्शन पद्धतियों में वर्णित सामान्य कर्म सिद्धान्त की जैन मत के अन्तर्गत इतनी सूक्ष्म विवेचना की गयी है कि कर्म इसका मूलाधार ही बन गया । सिद्ध पुरुषों की सूक्ष्म दृष्टि ने इसी क्षेत्र में निगूढ़ तत्वों को प्रकाशित करने का सर्वाधिक प्रयत्न किया है । मन, वाणी और शरीर का प्रत्येक कर्म जीव के ऊपर शुभाशुभ प्रभाव डालकर [5] ऐसा बीज जोड़ जाता है जो कालान्तर में परिपक्व होकर जीव के सुख, दु:ख स्थिति और स्थान की उपलब्धि का कारण बनता है । एक ओर उपभोग से वे अग्नि में ईंधन के समान क्षीण होते रहते है और दूसरी ओर उसी उपभोग प्रक्रिया; में नवीन संस्कारों का सृजन भी हुआ करता है जो पुन: कार्यक्रम से जीव के उपभोग के लिए वस्तु स्थिती का संकट प्रस्तुत करते हैं । और कर्म चक्र को पुरस्त्रत (push - forward) करते रहते हैं । जीव में कर्म पुद्गल का अविराम आस्रव [6] स्फटिक सदृश्य स्वच्छ जीव के पारदर्शी कलेवर को मलिनाच्छन्न किया करता है । कृत - कर्म की प्रवृति के अनुकूल कर्म-पुद्गल लेश्या जीव के विशुद्ध वर्ण को विकृत किया करती है । [7] हिंसक कर्मो की लेश्या जीव को सर्वाधिक श्याम वर्ण में रंजित कर

---

1 प्रमाणनय तत्वालोक ६, ५५।५६ ।
2 सर्वार्थ सिद्धि पृष्ठ — १६३ ।
3 सर्वार्थ सिद्धि पृष्ठ — १६३ ।
4 मोक्ष शास्त्र पृष्ठ — २३६ ।
5 तत्वार्थ सूत्र ६ । १,२,३ ।
6 तत्वार्थ सूत्र ८ ।१,२, (कायवाङ मन: कर्म योग: स आस्रव:) ।
7 H. Zimmer, Philosophies of India, p. 249.

उसकी चेतना को आच्छादित कर देती है। जीव का यह लेश्यानुरंजन उसकी भावी निम्न अथवा उच्च स्थिति का परिचायक एवं तदनुकूल चेतन्य के विभिन्न स्तरों में अभिव्यक्ति का निर्धारक होता है। जीवन से संवर [1] और निर्जर प्रक्रिया में परिणाम स्वरूप कर्म पुद्गल का ह्रास होने पर भार मुक्त जीव उर्ध्वगामी होकर दिव्य लोक प्राप्त करता हुआ अन्त में मुक्त जीवो के लोक में पहुंच जाता है।

जैन दार्शनिकों के अनुसार प्रत्येक जीव अपनी मूल प्रवृति में पूर्णत: चेतन होने के कारण सम्यक् - दर्शन - ज्ञान - चरित्र के पथ पर [2] प्रयत्न पूर्वक अग्रसर होकर प्राचीन सिद्धो के उस परम पद को प्राप्त कर सकता है जहां पहुंच कर जीवन की घोर तमिस्रा युक्त विभिषिका से मुक्ति मिल जाती है और कर्म - सम्भूत मलिनता से अनावृत होकर स्फटिक के समान वह निर्लेप, निर्मल और निरानन्द रूप प्राप्त कर लेता है।[3] यही स्थिती मानव मात्र के लिए परम प्राप्तव्य है और इसी में अनन्त चतुष्टय की उपलब्धि होती है। एक बार स्वचेतना की पूर्ण निर्मलता हो जाने पर जीव जन्म मरण के चक्र से सदा के लिए छुटकारा पा जाता है जैन दर्शन मे इसी स्थिति को मोक्ष की संज्ञा दी गयी है। इस स्थिती में जीव, अभी तक पुद्गल की लेश्या से आवृत, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द तथा अनन्त वीर्य को पुन: प्राप्त करता है। यह सर्वोच्च स्थिती है यही स्थिती जैन धर्म, दर्शन तथा नीति की प्रेरक कही जा सकती है यह है साधको के आजीवन शुभप्रयत्न का लक्ष्य। यही है वह स्थिति जिसमें जीव ईश्वर सदृश्य सब गुणों को प्राप्त कर लेता है और ससार रूपी भंवर मे पड़े हुए जीवों का आदर्श बन उनको उससे निकलने के लिए प्रेरणा प्रदान करता है।

भारत का दूसरा मुख्य नास्तिक दर्शन - बौद्ध भी हमारे सामने मोक्ष अर्थात् निर्वाण का आदर्श प्रस्तुत करता है। बौद्ध दर्शन के प्रवर्तक गौतम बुद्ध न मानव जीवन को अत्यधिक निकट से देखने का प्रयत्न किया उन्होंने जीवन को नाना प्रकार के दु:खों से ओत प्रोत पाया और इन दु:खों से छुटकारा पाना ही मनुष्य जीवन का लक्ष्य माना। यह दर्शन अपने अनात्मवाद के लिए प्रसिद्ध है। बौद्धों के अनात्मवाद का तात्पर्य ये नही हैं कि शरीर की समाप्ति पर आत्मा भी समाप्त हो जाती है। बुद्ध ने एक ओर आत्मा का नित्य कूटस्थ मानना, दूसरी ओर शरीर के साथ ही आत्मा का विनाश हो जाना इन दोनों चरम बातों को छोड़कर मध्य मार्ग ग्रहण किया। त्रिपिटकाचार्य राहुल सांस्कृत्यायन के शब्दों में " आत्मा कोई नित्य कूटस्थ वस्तु नहीं है, बल्कि खास कारणों से स्कन्धों (भूत, मन के ही योग से उत्पन्न एक शक्ति है, जो अन्य वाह्य भूतों की भाँति क्षण - क्षण उत्पन्न और विलींन हो रही है।[4] आत्मा चेतना का प्रवाह मात्र है। लेकिन ये प्रवाह एक सदृश होता है और इस एक सदृश परिवर्तन के कारण ही हम आत्मा

---

[1] तत्वार्थ सूत्र ६।१ (आस्रव निरोध: संवर:)

[2] वही १।१

[3] H. Zimmer, Philosophies of India, p.256.

[4] मज्झिमनिकाय, अनुवादक राहुल सांकृत्यायन, भूमिका पृ० (ग)।

को एक कहते हैं। यह एक शाश्वत एवं अविछिन्न प्रक्रिया है जिसमें स्थायी कुछ नहीं है।

बौद्ध दर्शन आत्मा को अस्थायी मानते हुए भी कर्मवाद को घोर निष्ठा रखता है। एक बार एक शिष्य, जिसका सर फटा था, महात्मा बुद्ध के पास आया। शिष्य सर की पीड़ा से अत्यन्त दुखी था। उसको देखकर तथागत ने कहा "हे अर्हत इस ऐसा ही सहन करो ... ... तुम अपने उन कर्मों का फल भोग रहे हो, जिनके कारण तुम्हें दीर्घ काल तक नरक जैसा कष्ट सहन करना पड़ता है।" उपरोक्त कथन से कर्मवाद में बुद्ध की निष्ठा का पता चलता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार हमारा वर्तमान जीवन पिछले जन्म के कारणों का ही परिणाम है। हमारा वर्तमान जीवन हमारे भविष्य जीवन का आधार है। संयुक्तनिकाय के अनुसार हमारे वही कर्मफल देते हैं जो काम द्वेष तथा मोह के साथ किए जाते है।[1] और जब ये तत्व कार्यों के साथ जुड़े हुए नहीं होते तो हमारे कार्य परिणाम उत्पन्न नहीं करते अंगुत्तर निकाय के अनुसार जब कोई पाप - कर्म किसी साधु द्वारा किया जाता है तो उसे इसी संसार मे कुछ दण्ड मिलता है और यदि वही कर्म कोई सामान्य मनुष्य करे तो उसे अत्यन्त कष्टों का सामना करना पड़ता हैं।[2] अंगुत्तर-निकाय में ही महात्मा बुद्ध ने रानी मालिका को उपदेश देते हुए कहा है कि हे मालिका जब कोई महिला अधिक क्रोध, करती है, अपनी इन्द्रियो को वश में नहीं रखती, भिक्षु तथा ब्राह्मणों को दान नहीं देती, दूसरों का लाभ आदर और मान इत्यादि देखकर जलती है तो वह जब इस जीवन को छोड़कर दूसरा जन्म लेती है तो निम्न सामाजिक स्तर निर्धनता और कुरूपता आदि को प्राप्त करती है।[3] कृत कर्मों का प्रभ व दिखाते हुए मिलिन्दपन्ह में नागसेन कहते हैं कि कर्मों मे भिन्नता होने के कारण ही सब मनुष्य एक से नहीं है कुछ अधिक जीवित रहते हैं, कुछ कम, कुछ स्वस्थ, कुछ अस्वस्थ, कुछ सुन्दर, कुछ कुरूप, कुछ बलवान कुछ, कुछ निर्बल, कुछ धनी, कुछ निर्धन, कुछ बुद्धिमान तथा, कुछ मन्द बुद्धि होते है।[4]

बौद्ध दार्शनिकों ने अनात्मवाद तथा कर्मवाद में समन्वय भी स्थापित किया है। इनके अनुसार यद्यपि आत्मा अस्थायी है फिर भी उसे अपने कृत कर्मो का फल भोगना पड़ता है। इस समन्वय को दीपक की लौ का उदाहरण देकर सिद्ध किया गया है। जिस प्रकार दीपक में बिना व्यक्ति क्रम के एक लौ दूसरी लौ को ग्रहण कर लेती है उसी प्रकार आत्म प्रवाह के अन्तर्गत भी एक आत्मा दूसरी आत्मा द्वारा संचित सस्कारो को ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन मे माना गया है कि यद्यपि हमारी आत्मा अनित्य तथा क्षणिक है फिर भी वह अपने द्वारा अर्जित कर्मों को दूसरी आत्मा में पहुँचा देती है।

---

[1] संयुक्तनिकाय, III, ३३।

[2] अगुत्तरनिकाय, III, ९९।

[3] अंगुत्तरनिकाय IV १९७।

[4] Warren's Buddhism in Translation, p. 215.

अन्येतर भारतीय दर्शन की भांति बौद्ध दर्शन में भी यह माना गया है कि इस सांसारिक जरामरण से हमें तभी निवृत्ति मिल सकती है जब हम कृतकर्म की आग से अपने को बचा सकें। महात्मा बुद्ध ने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि केवल वही कर्म हमें बन्धन में डालते हैं जो इच्छा, तृष्णा और वासना के साथ किये जाते हैं बिना तृष्णा के कर्म अच्छा या बुरा किसी प्रकार का फल देने में असमर्थ है।[1] इस प्रकार के कर्मोंसे छुटकारा पाने के लिए बुद्ध ने अष्टांग मार्ग का प्रतिपादन किया। सभी बौद्ध दार्शनिक यह स्वीकार करते है कि सम्मादिटिन, सम्मासंकथ, सम्मावाक, सम्माकम्मन्त, सम्माआजीव, सम्मावायाम, सम्मासीत तथा सम्मासमाधि द्वारा हम अपने को इस सांसारिक जीवन को विभीशिका से बचा सकते हैं। तृष्णा, वेदना तथा अविद्या का समूल नष्ट होना अष्टांग मार्ग से ही सम्भव हैं। इस मार्ग का उचित विधि से अनुसरण ही हमे अपने जीवन के चरम लक्ष्य पर पहुँचा देती है। बौद्ध दर्शन के अनुसार मानव जीवन का चरम लक्ष्य हैं निर्वाण अर्थात् निब्बाण। महात्मा बुद्ध द्वारा प्रतिपादित नीति तथा धर्म का अन्तिम लक्ष्य निर्वाण ही है।

लगभग सभी प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में हमें निर्वाण के स्वरूप के विषय में कुछ न कुछ विवरण प्राप्त होता है। मज्झिमनिकाय, दीर्घनिकाय, संयुक्त निकाय यथा अंगुत्तर-निकाय इत्यादि सभी ग्रन्थों में निब्बाण सम्बन्धी विवरण प्राप्त होता है कुछ अन्येतर विचारकों ने भी बौद्ध दर्शन में प्रतिपादित निब्बाण के स्वरूप को अपने अनुसार देखने का प्रयत्न किया है। यद्यपि बौद्ध दर्शन सम्बन्धी साहित्य के अथाह सागर से निर्वाण जैसी विवादग्रस्त समस्या की समुचित व्याख्या निकलना दुष्कर प्रतीत होता है फिर भी यहां पर बुद्ध द्वारा प्रतिपादित निर्वाण के स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयास आवश्यक है।

संस्कृत साहित्य में निर्वाण शब्द का प्रयोग बुझने या समाप्त होने के अर्थ में किया गया है। शाकुन्तलम में अनिर्वाणों दिवस: का अर्थ हैं कि दिन अभी व्यतीत नहीं हुआ है। अग्नि और दीप के निर्वाण की बात भी महाभारत में आई है निर्वाण काले दीपस्य का आशय द्वीप के बुझ जाने से ही है।

विसुद्धिमग्ग में बुद्धघोष ने निर्वाण शब्द पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि उस स्थिती को निर्वाण इसलिए कहते हैं क्योंकि उसको प्राप्त कर सब प्राणी जिस बन्धन में पड़े हैं उससे छूट जाते हैं।[2] मज्झिमनिकाय में निर्वाण की आग का बुझना जैसा बताया गया है।[3] महात्मा बुद्ध ने इस ग्रन्थ में निर्वाण की तुलना उस बुझती आग से की हैं जो बिना किसी ईंधन के प्राप्त होने से बुझ जाती है। बौद्ध ग्रन्थों से निर्वाण की तुलना दीपक की लौ बुझने से भी की गई है। संयुक्तनिकाय में लोभ, घृणा, क्रोध तथा सब प्रकार के विभ्रमों को अग्नि कहा गया है। जीवन से इनका निकल जाना ही मोक्ष कहा

---

[1] Diologus of Buddha II p. 340.

[2] विसुद्धिमग्ग पृ. २९३।

[3] मज्झिमनिकाय, राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद पृ० २८१।

गया है। निर्वाण में मनुष्य सारे बंधनों से छूट जाता है।[1] कुछ बौद्ध ग्रन्थों में निर्वाण को भवनिरोध की स्थिती भी कहा गया है। प्रसिद्ध ग्रंथ धम्मपद में निर्वाण को परम-सुख के नाम से भी सम्बोधित किया गया है।[2] निर्वाण से अधिक कोई और सुख नहीं है।[3] डा० राधाकृष्णनन ने अपने भारतीय दर्शन नामक ग्रन्थ में यह लिखा है कि बौद्ध दर्शन में निर्वाण का तात्पर्य है शाश्वत् तथा अनन्तत्व से एक हो जाना यद्यपि महात्मा बुद्ध इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं करते।[4] उनका यह भी विचार है कि निर्वाण की स्थिति मनुष्य की बुद्धि से परे होने के कारण नाकारात्मक शब्दो में ही वर्णन की जा सकती है। परन्तु डा० जदुनाथ सिन्हा, डा० राधाकृष्णनन के उपरोक्त विचार से सहमत नहीं हैं उनके अनुसार प्राचीन बौद्ध दर्शन में निर्वाण का उपरोक्त विचारअर्थ निकालना उसके मूल अभिमत का खण्डन करना है।[5] यहाँ पर कहना अनुचित न होगा कि बौद्ध दर्शन के विभिन्न विभागों ने निर्वाण को विभिन्न दृष्टिकोणो से देखन का प्रयत्न किया। किसी ने निर्वाण को समुद्र जैसा गहरा किसी ने नकारात्मक किसी ने आनन्दस्वरूप तथा किसी ने सुखवादियों के सुख जैसा ही बता दिया है। डा० दास गुप्ता ने निर्वाण को दुख निरोध की स्थिती कहा है वे मानते हैं कि हम निर्वाण का सांसारिक अनुभव की दृष्टि से वर्णन नही कर सकते हैं।[6]

हमारे अनुसार निर्वाण सम्बन्धी उपरोक्त सभी दृष्टिकोण महात्मा बुद्ध के मत का सही प्रतिपादन नहीं करते। बुद्ध के जीवन तथा उनके उपदेशो पर दृष्टिपात करने से हमें ज्ञात होता है कि उनकी मुख्य समस्या है मानव जीवन सम्बधी विभिन्न प्रकार के दुख। वे घोर मानवतावादी विचारक थे और उनके सभी उपदेश मानव कल्याण की भावना से ओतप्रोत है। बुद्ध के घोर मानवतावादी होने का प्रमाण यह है कि उन्होंने ऐसी सभी समस्याओं पर विचार करना अस्वीकार कर दिया जिनका मानव कल्याण से सीधा सम्पर्क नहीं है। इस सम्बन्ध में महात्मा बुद्ध तथा प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक सुकरात के विचारो में काफ़ी समानता है। पश्चिमी दर्शन के समकालीन मानवता वाद की जड़ निश्चित रूप से सुकरात के उपदेशों में ही है। भारतीय दर्शन के इतिहास पर दृष्टिपात करने से हमें ज्ञात होता है कि महात्मा बुद्ध जैसा मानवता वादी हमें प्राचीन भारतीय दार्शनिकों में नहीं मिलता। हमारे इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि प्राचीन भारतीय दार्शनिकों में बुद्ध से बड़ा दार्शनिक नहीं है। किन्तु यह सत्य है कि मानवता के दुख से पीड़ित तथा मनुष्य मात्र को दुख से मुक्ति दिलाने का सतत् प्रयत्न जितना बुद्ध में है उतना किसी प्राचीन भारतीय दार्शनिक में नही मिलता। अत: महात्मा बुद्ध के अनुसार निर्वाण का अर्थ दुखों से पूर्ण निवृत्ति पाना ही। दुखों से पूर्ण

---

[1] संयुक्त निकाय, १।११०।

[2] धम्मपद: २०३ (निब्बाणं परं सुखं)

[3] वही, २०२ (नात्थि सन्ति परं सुख)

[4] Indian Philosophy Vol I, p. 450.

[5] History of Indian Philosophy Vol I p. 332.

[6] A History of Indian Philosophy Vol I p. 109.

निवृत्ति पाने पर हमारी क्या स्थिती होती है इसके विषय में बुद्ध ने स्वयं कोई सुनिश्चित उत्तर नहीं दिया और न वे इस झगड़े में पड़ना ही चाहते थे।

यह सर्वमान्य सत्य है कि बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन दोनों मे विश्वबन्धुत्व और विश्वकल्याण जैसे आदर्शों का प्रतिपादन किया गया। दोनों दर्शनों में मनुष्य के नैतिक जीवन को सर्वोपरि मान्यता दी गई है। यद्यपि ये दोनों नास्तिक हैं और ईश्वर जैसी किसी सत्ता में विश्वास नहीं करते फिर भी सत जीवन और आध्यात्मिक अनुभव पर बल देते हैं। इसीलिए कतिपय विचारक इन दर्शनों को नास्तिक कहने मे संकोच करते हैं दोनों दर्शनों में नैतिकता को केवल साधन रूप मे देखा गया है परन्तु नैतिकता के साध्य के स्वरूप के विषय में दोनों में कुछ भिन्नता दिखाई पड़ती है। यहां पर हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि यदि हम बौद्धों के निर्वाण तथा जैनों के मोक्ष की उनकी नैतिकता अथवा सत जीवन का प्रेरक माने तो उनमें से कौन अधिक शक्तिशाली है। हमने देखा कि जैन दर्शन का मोक्ष का तात्पर्य है आत्मा की अपने सच्चे स्वरूप की प्राप्ति (realisation)। आत्मा पर से अज्ञान के आवरण के हट जाने से ही वह अपने स्वरूप की प्राप्ति कर सकती। और उस स्थिति मे उसे अनन्त चतुष्टय अर्थात अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य तथा अनन्त सुख जो उसके स्वरूप में निहित है, की प्राप्ति होती है। उस दशा में सब प्रकार के कर्मों का नितान्त अभाव हो जाने के कारण अनादि बद्ध जीव का मलिन वर्ण प्रमार्णित हो जाता है और विरज दर्पण की भाँति विशुद्ध चेतन स्वरूप हो सम्पूर्ण स्थूल - सूक्ष्म विश्व को अपने में प्रतिबिम्बित करने लगता हैं अतः मोक्ष की अवस्था में जीव सर्वज्ञता को प्राप्त करता है। सांसारिक बन्धनों से मुक्ति पाने पर जीव उसी अवस्था मे सर्वदा विहार करता है।

परन्तु जैसा कि हमने देखा, कि बौद्ध दर्शन में किसी भी नित्य आत्मा को स्वीकार नहीं किया गया। इसी लिए स्वयं महात्मा बुद्ध मोक्ष की स्थिति का निश्चित रूप से वर्णन नहीं कर सके। मुक्त जीव सर्वज्ञता को भी प्राप्त नहीं करता। यद्यपि कुछ विचारकों ने बुद्ध को सर्वज्ञ माना है परन्तु कुछ ऐसे स्थल हैं जहां पर बुद्ध ने अपने को सर्वज्ञ स्वीकार नहीं किया है। मज्झिम निकाय में बच्छगोत्र परिव्राजक जब महात्मा बुद्ध से यह पूछता है कि क्या श्रमण गौतम सर्वज्ञ है? क्या वे निखिल ज्ञान दर्शन का दावा करते हैं? चलते, खड़े, सोते, जागते निरन्तर सदा ज्ञान उपस्थित रहता हैं तब महात्मा बुद्ध ने उसे उत्तर दिया "वत्स जो कोई मुझे ऐसा कहते हैं श्रमण गौतम सर्वज्ञ है, वह मेरे बारे में यथार्थ कहने वाले नहीं हैं। वे असत्य से मेरी निन्दा करते हैं।[1] यही नहीं प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक धर्म कीर्ति ने सर्वज्ञता का निषेध किया है। वे सर्वज्ञता को मोक्ष मार्ग में उपयोगी नहीं मानते हैं।[2] वे बुद्ध को धर्मज्ञ मानने पर बल देते हैं। सब दुखों की निवृत्ति की स्थिती से ही मानव बुद्धि सन्तोष नहीं पाती। हम यह भी पूछ सकते हैं कि दुखों से पूर्ण निवृत्ति हो जाने पर हमारी क्या स्थिति रहती है। इस प्रश्न के उत्तर में अधिकतर बौद्ध दार्शनिक मौन रहना पसन्द करेंगे। यहाँ पर यह कहना

---

[1] मज्झिम निकाय अनुवादक राहुल सांकृत्यायन पृ० २७६।

[2] दार्शनिक त्रैमासिक जनवरी १९६५ पृ० १०।

अनुचित न होगा कि उपरोक्त प्रश्न का उत्तर जैन दार्शनिकों द्वारा दिया गया अधिक प्रभावशाली प्रतीत होता है। उनके अनन्त चतुष्टय और उसी स्थिति में मुक्त जीव का सदा के लिए विहार का विचार निःसन्देह अधिक श्लाघ्य है। सामान्य बुद्धि के लिए ये अधिक रुचिकर है हमारे नैतिक जीवन में एक प्रभावशाली प्रेरक का कार्य करता प्रतीत होता है।

बौद्ध दर्शन में संसार और निर्बाण के बीच कोई भेद नही किया जा सकता।[1] क्योंकि जिस वस्तु की संसार मे सत्ता नही है उसका निर्बाण है निराकरण भी नहीं हो सकता है। इस समस्या पर बौद्ध ग्रन्थों मे बहुत कुछ कहा गया है किन्तु कोई अन्तिम निर्णय नहीं किया जा सका। जैन दर्शन में ऐसा कोई व्याघात उत्पन्न नहीं होता है। कर्म के आवरण से निवृत्ति पाते ही जीव अपने सहज रूप को प्राप्त कर लेता है। वही उसकी भक्ति है। इसे देवत्व प्राप्ति भी कहते है। जैन दर्शन के अनुसार मुक्ति प्राप्त जीव लोकाकाश में देवत्व की स्थिती में सदा रहते हुए बद्ध जीवों को प्रेरणा प्रदान किया करता। इस प्रकार उसकी स्थिति निश्चित है और सार्थक भी।

इसके अतिरिक्त बौद्ध दर्शन की महायान शाखा में सब प्राणियों के निर्बाण प्राप्त कर लेने पर ही एक व्यक्ति की मुक्ति साथक है। व्यक्तिगत आत्मा के प्रश्न को लेकर तो बौद्ध अपने को अनात्मवादी कहते हैं। एक महत आत्मा अवश्य है जो अन्तिम सत् है और वह भी सतत् परिवर्तनशील। वह वेदान्तियो के ब्रह्म के समान शाश्वत् और निर्विकार है। क्लेष संसार में हैं। जब तक संसार के सब प्राणी निर्बाण नहीं प्राप्त कर लेते संसार का क्लेष भी नहीं मिट सकता है। व्यावहारिक रूप में यह असम्भव दिखाई देता है। अत: फिर कहना पड़ता हैं कि जैन दर्शन का मोक्ष सम्बन्धी अभिमत अधिक व्यावहारिक भी है।

---

[1] S .N. Dasgupta: A History of Indian Philosophy.

जैन धर्म के मूलतत्व

विमल चन्द्र जैन

जैन पुराणों के अनुसार एक समय ऐसा भी था जब कि समस्त मानव समाज एक साथ बिना किसी लड़ाई - झगड़े के शान्ति पूर्वक रहता था। प्रत्येक व्यक्ति को वही मिलता था जो वह चाहता था और उसी से सन्तुष्टि अनुभव करता था। उस प्राचीन समय में शासक - शासित, मालिक सेवक और तेरे मेरे में कोई भेद भाव नहीं था। प्रसन्नता की यह सुमधुर अवस्था झंकृत हो उठी जबकि व्यक्ति के मनमें अपनी अलग जमीन आदि रखने और उस पर आधिपत्य जमाने का विचार आया। समाज की एकता भंग हो गयी, अपने जीवन के लिए लड़ाई का युग प्रारम्भ हो गया और उसी समय से यह सारी परेशानियाँ आयीं। यही समय था जबकि उस युग के महान शिक्षकों ने धर्म की शिक्षा दी और निश्चित उच्च आदर्श रखें जिससे कि सांसारिक सुखों तथा स्वार्थों के लिए व्यक्तियों के मध्य लड़ाई समाप्त हो। इस प्रकार जैनवाद के अनुसार धर्म का शुभागमन मनुष्य का जीवन स्वर्ग मे सुधारने के लिए नहीं अपितु पृथ्वी पर शांति लाने, मनुष्यों में सद्भावना जाग्रत करने और मानव में एक आदर्श जीवन की आशा प्रेरणा लाने के लिए हुआ।

संसार में विभिन्न समयों पर, विभिन्न स्थानों पर धर्म के भिन्न भिन्न रूप प्रचलित हुए हैं। यदि इन सबका चतुरता के साथ विच्छेद किया जाय, तब ज्ञात होगा कि धर्म के यह रूप एक ही सत्य और एक ही उद्देश्य रखते हैं। विस्तार में विभिन्नता निहित होन के कारण वही सत्य धर्म के एक रूप में एक ढंग से बताया गया है और दूसरे में दूसरे ढंग से। जैनवाद ने इस सब में समानता लाने का प्रयत्न किया है जिसको कि स्यादवाद या अनेकान्त कहते हैं, अनेकान्त का सिद्धान्त हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित करता है कि संसार में अनेक वस्तुएं व प्राणी रहते है। लेकिन एक समय हम केवल एक के सम्बन्ध में ही वार्तालाप कर सकते हैं। और वार्तालाप उस वस्तु में विशेष अवस्था तक सीमित होना चाहिए। यदि हम एक विशेष दृष्टिकोण को समझ लेते हैं तो अन्तर तथा मतभेद समाप्त हो जाते है। मैं कहता हूँ ...मैं अमर हूँ। दूसरा व्यक्ति कहता है "मैं नाशवान हूँ। देखने व पढ़ने में यह दोनों वाक्य एक दूसरे

के विरुद्ध हैं। क्या आपस मे यह दोनों वाक्य समान हो सकते हैं ? जैनवाद कहता है "हां कृपया दोनों का दृष्टिकोण समझने का प्रयास करो, इससे पहले कि दोनों के विरुद्ध कहो। यहाँ पर तात्पर्य व्यक्ति के जन्म मरण के चक्कर से नहीं है वस्तुओं का रूप बदल सकता है। परन्तु उनका पदार्थ या सार जिसको कि आत्मा कहते है वह सदैव रहता है। कोई वस्तु भी नाशवान नहीं है। जैन धर्म के अनुसार एक व्यक्ति का यह कथन कि वह अमर है आत्मा कि दृष्टि से सत्य है और दूसरे व्यक्ति का यह कथन कि वह अमर नहीं है शरीर के नाशवान होने की दृष्टि से सत्य है इस प्रकार जैनवाद के अनुसार विभिन्नता का कारण केवल दृष्टिकोण का अन्तर ही नहीं है वरन् सब रूपों को समझने का भेद है। उपरोक्त वाक्य एक दूसरे का पूरक है व आपस में सत्य का समर्थन करते है। जैनवाद इसी बात को एक प्रमुख कहानी द्वारा बताता है। सात अन्धे व्यक्ति एक हाथी को समझने गए। प्रत्येक ने हाथी का केवल एक भाग ही अपने हाथों से स्पर्श किया था अतः जब वह एकत्र होकर अपने विचार बनाने लगे तब आपस में लडने लगे। वह व्यक्ति जिसने कि सिर्फ टांग ही स्पर्श की थी बोला कि जानवर बड़े गोलाकार स्तम्भ की भांति था। दूसरा व्यक्ति जिसने कि पूँछ छुई थी वह बोला कि जानवर छड़ी (stick) के समान था। तीसरा व्यक्ति जिसने कि हाथी के कान छुए थे बोला कि उपरोक्त दोनों व्यक्ति झूठ कह रहे थे। वह सौगन्ध से कह सकता है कि हाथी छाज (winnowing basket) के समान था। इस प्रकार वह आपस मे बिना किसी परिणाम पर पहुँचे उस समय तक लड़ते रहे जबतक एक नेत्रवान व्यक्ति ने कहा कि वह सब सही भी थे और वह गलत भी। वह सही थे क्योंकि उन्होने सच्चाई का एक भाग कहा है और वह गलत थे इस लिए चूंकि कए आँशिक सच्चाई के आधार पर वह सम्पूर्ण सत्य की शिला रखना चाहते थे। आंशिक सत्यो को एकत्र करने के पश्चात् पूर्ण हाथी का सही ज्ञान प्राप्त हो सकता है। धार्मिक और दार्शनिक विचारों को समझने में यही ढग व तरीका ज्ञान मार्ग मे एक सुपथप्रर्दशक हो सकता हैं और यही जैनवाद कहता है।

उपरोक्त कहानी से स्पष्ट होता है कि किस प्रकार दो व्यक्तियों में आपस में सत्य के दो रूप बताते हुए विभिन्नता हो सकती है। यदि एक ही शब्द दो दृष्टिकोण व दो अर्थों मे प्रयोग किया जाए तब तो निश्चय ही और अधिक विभिन्नता हो सकती है। यदि एक ही शब्द दो दृष्टिकोण व दो अर्थों में प्रयोग किया जाए तब तो निश्चय ही और अधिक विभिन्नता हो जायेगी। एक कहता है ईश्वर संसार का रचयिता है दूसरा कहता है "ईश्वर संसार का रचयिता नहीं है।" विचारों का यह भेद भगवान का विचार समझकर समाप्त किया जा सकता है। वह व्यक्ति जो कि भगवान को रचयिता कहता है भगवान से उसका तात्पर्य आत्मा से है - जिसका आदर्श शांति और शिव है और जिसको प्रथम व्यक्ति मुक्तात्मा के नाम से पुकारता है।

सम्भवत: ससार में कोई एसी वस्तु हो जो कि सदैव और प्रत्येक स्थान पर उसी रूप में जीवनोपयोगी रहे। परन्तु न जाने क्यों फिर भी समय और स्थान की विभिन्न कथनो की सत्यता तोलते हुए भुला दिया जाता है। उदाहरणार्थ आर्य व्यक्तियों के

इतिहास में ऐसा समय था जबकि पशुओं की बलि देना परिस्थितियों को देखते हुए अनिवार्य था। जैसे रहने के स्थान बढ़ाना, जंगलों को साफ करना और पृथ्वी को खेती योग्य बनाना। इसी प्रकार जब बहुत से अयोग्य व्यक्तियों ने भी एक धन्धा करना प्रारम्भ कर दिया और दूसरा काम जिसमें कि परिश्रम की आवश्यकता थी बहुत कम व्यक्तियों तक ही सीमित रहने लगा तब वर्णाश्रम का नियम आया। वर्णाश्रम का मुख्य लक्ष्य था कि समाज में अनेक आर्य करने के लिए पर्याप्त व्यक्ति प्राप्य हों। इस लिए उचित आवश्यक अवधि के पश्चात् जानवरो को बलि करने की प्रथा व वर्णाश्रम की प्रथा को रखना ठीक नहीं होगा।

गाय बलि करने के लिए इस्लाम को बुरा भला कहने की हमारी इच्छा हो सकती है। परन्तु यदि हम उस समय की अरब परिस्थितियों का अध्ययन करें जबकि देवदूत मोहम्मद ने इन बातों का उपदेश दिया तब यह सब बातें एक योग्य मस्तिष्कवान व्यक्ति की समझ में आ जाती है। उस समय प्रादर्श पूजा की अतीव क्रूर प्रथाएं थीं और यहाँ तक कि मानव बलि का भी प्रचलन था। यदि इस क्रूरता को कम करने के लिए मोहम्मद ने मानव के स्थान पर गौवध को प्रोत्साहित किया तब हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए। इस सम्बन्ध में हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि अरब वासियों के लिए गाय इतनी उपयोगी नही थी जितनी कि वह भारतवासियों के लिए है। ऊँट उनके लिए बहुत उपयोगी था। इसी प्रकार शादी व तलाक के कानून जो कि मोहम्मद साहब ने बताए वह उस समय अत्यन्त लाभकर थे यद्यपि आजकल हमारे लिए उतने उपयोगी नहीं है। प्राचीन समय में अरब में जो लाभकर था वह आज भी और भारत मे उपयोगी हो यह सम्भव नहीं है। हमें समय और स्थान का अन्तर ध्यान में रखना चाहिए।

यह है स्यादवाद या अनेकान्त का सिद्धान्त जो कि जैन धर्म के विचार की आधार शिला हैं। यह चाहता है कि एक विषय से सम्बन्धित सब तथ्य एक साथ, विशेष समय व स्थान को ध्यान में रखकर पढ़ने चाहिए। यदि यह भेद भली प्रकार समझ में आ जायेंगे तब सैद्धान्तिक विभिन्नता और कटुता का लोप हो जायेगा। यही एक ढंग है जिसके द्वारा साधारण एकता और सद्भावना को बढ़ाया जा सकता है। कोई भी कह सकता है यह तो (Common Sense) साधारण ज्ञान की बात है जो कि विचार के प्रत्येक ढंग में लागू हो सकती हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि नियम जबकि इसकी तीव्र आवश्यकता होती है और अगर पृष्टभूमि रहता है भुला दिया जाता है। दुर्भाग्य से साधारण ज्ञान सबसे अधिक है। जैनवाद में नियम सबसे प्रमुख तथा महत्वपूर्ण माना जाता हैं और इसलिए धार्मिक सहनशीलता और मित्रता ही जैन दार्शनिकता का सार है। "Religious toleration and fellowship is the essence of Jaina Philosophy".

जैनवाद का अहिंसा या जीवधारियों को न मारने का सिन्द्धात भी बहुत महत्वपूर्ण होते हुए भी गलत समझा और दर्शाया जाता है। पहले अहिंसा का सिन्द्धात हजारों लाखों मूकहीन तथा निसहाय पशुओं को धर्म के नाम बलि करने के विरुद्ध प्रचारित

किया जाता था। इस सबने जैन साधुओं को सोचने के लिये विवश किया और उनका प्रश्न था "क्या लहू का बहाना आत्मशुद्धि के लिये परमावश्यक है ?" उनकी अन्तर-आत्मा से उत्तर मिला कि रक्त पात आवश्यक नही है और यह सब प्रकार के क्षात्र धर्म, जीवन व पावन व्यवहार के प्रतिकूल हैं। जैनवाद ने मानव को पुन: अपने प्रति व दूसरो के प्रति उसके कर्त्तव्यो के सम्बन्ध मे जागृत करना चाहा। उन्होंने अहिंसा को अच्छा व्यवहार बताते हुये जीवन में उसे कल्याण के लिये श्रेष्ठ बताया। संक्षेप मे इस सब का अर्थ है—जीवन चाहे जिस रूप में हो पवित्र है। अत: किसी के प्रति हिंसा मत करो और इसी को सर्वोच्च धार्मिक सिद्धान्त समझो। एक सज्जन बनो। सज्जन वह है जो हिंसा करने की प्रवृति को संचित नहीं करता है। प्रत्येक अच्छा धर्म मानव जीवन को महत्वपूर्ण समझता है। जैनवाद यही भावना विस्तृत कर जीव के और रूपों में देखना चाहता है जैसे पशु पक्षी व अन्य नन्हे २ प्राणी। परन्तु कोई प्रश्न कर सकता है कि क्या सांसारिक जीवन दूसरों को हानि पहुँचाये बिना पूर्णत: असम्भव है। इस कारण जैनवाद हिंसा पहुँचाने वाले व्यक्ति को मानसिक वृति के अनुसार हिंसा को विभिन्न भागों में विभाजित करता है क्योंकि भाव (Intention) ही पाप का कारण है। यह सोचा जा सकता है कि प्रतिदिन का साधारण जीवन व्यतीत करना जैसे टहलना, कपड़े धोना, खाना बनाना आदि में भी बहुत से हिंसात्मक कार्य हो जाते हैं। खेती और उद्योग के भी बहुत से कामों मे जीवन हानि होती है। अपनी निजी सम्पत्ति व जीवन रक्षा में भी दूसरों के जीवन को हानि पहुँच सकती है। इन सब बातों का ध्यान में रखते हुये जैनवाद तीन प्रकार की हिंसा को आकस्मिक (Accidental) व्यापारिक (Occupational) और रक्षात्मक (Protective) क्योंकि इनसे बचने का अर्थ होगा मानव कर्त्तव्य से पृथक होना) एक गृहस्थ को हिंसा के लिये हिंसा से ऐसी हिंसा से जो कि केवल आनन्द और तमाशे के लिये है और जिसमें कोई उद्देश्य नहीं है उससे बचना है। जब कभी भी ऐसा अवसर आये उसे स्वय से प्रश्न करना चाहिये "क्या इस प्राणी को हिंसा पहुँचाना मेरे लिये आवश्यक है यदि हां तो क्या कम से कम हानि होगी जो कि मेरे कार्य के लिये उचित होगी ? इतनी ही सावधानी ही व्यक्ति को हिंसा से दूर रखेगी।

केवल शारीरिक हानि पहुँचाना ही हिंसा नहीं है वरन् मनसा और कर्मा दोनों प्रकार का नुकसान हिंसा है और इन्हीं दोनों से बचना चाहिए। क्या एक तर्कवान व्यक्ति द्वारा यह समुदायो और राष्ट्रों को निर्बल बनाने का सिद्धान्त कहे जायेंगे ? शस्त्र और युद्ध के आधुनिक युग में इस प्रश्न का उत्तर हां ही में होगा। परन्तु यदि धर्म को पृथ्वी पर शाँति व मानवों मे आपस में प्रेम, सहिष्णुता लाने का अपना उद्देश्य पूरा करना है तो इसको सदैव अपने सर्वोच्च लक्ष्य पर बल डालना चाहिए और बुराई को सदैव बुराई कहना चाहिए चाहे यह कितनी ही न जाने वाली प्रतीत हो। अत: जैनवाद का इस दृष्टिकोण के अनुसार अहिंसा को अच्छे सुमधुर व्यवहार का नियम बनाना चाहता है, यह चाहता है कि व्यक्ति सज्जन बने जिनमें हिंसा की लेशमात्र भी प्रवृति न हो। अनेकान्त को ध्यान मे रखते हुए यदा कदा हिंसा से नही बचा जा सकता, ऐसी अवस्था में यह कम से कम हिंसा करने के लिए कहता है।

जैन धर्म की अन्य प्रतिज्ञायें हैं — सच्चाई चोरी न करना और ब्रह्मचर्य। यह तीनों अहिंसा के साथ इतना सुन्दर व्यवहार निर्मित करते हैं कि यदि इनका ढंग से पालन हो तो (Criminal Procedure Code) की आवश्यकता ही न रहेगी। पांचवीं व अन्तिम आवश्यकता व प्रतिज्ञा है परिग्रह या एक सीमा जिसके अनुसार एक व्यक्ति अधिक से अधिक धन रख सकता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका हैं जैनवाद का उद्देश्य जीवन के झगड़ों को समाप्त करना तथा सामाजिक सन्तुलन बनाये रखना है। इस प्रतिज्ञा के अन्तर्गत एक गृहस्थ अपनी सांसारिक वस्तुओं की सीमा बनाने के लिए बाध्य है जिसका कि वह उल्लंघन नहीं करेगा। जब वह इस सीमा तक पहुँच जायेगा तब या तो अधिक धन अर्जन करने का प्रयत्न नहीं करेगा, लेकिन यदि उसके प्रयत्न के बिना भी अधिक धन आयेगा तो उसको दान कार्यों में जैसे रोगियों की सहायता, शिक्षा देना, भोजन वितरण आदि में व्यय करेगा। इस प्रतिज्ञा का सार स्पष्ट है। एक व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक लोभी तथा स्वार्थी नहीं होना चाहिए। साधारण धन निश्चित है इसलिए दूसरों की भलाई को ध्यान में रखते हुए उसे इतना ही धन लेना चाहिए जितना कि ज्ञानवान मस्तिष्क के अनुसार उसके लिए आवश्यक है। यह सब व्यक्ति व समाज दोनों के लिए लाभकर है। इस प्रतिज्ञा में आर्थिक समानता लाने का प्रयास निहित है। यह इसी का परिणाम है कि बहुत सा धन प्रत्येक वर्ष जन कल्याण के कार्यों में व्यय किया जाता है और बहुत सी दान देने वाली संस्थाएं इसी प्रकार दान दिए गए रूपये से कार्य करती है।

जैनवाद के एक और अन्य सिद्धान्त का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। जैनवाद यह नहीं कहता कि कोई अन्य शक्ति मनुष्य के भाग्य पर शासन कर रही है। इसके विपरीत जैनवाद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने शारीरिक व मानसिक कार्यों से अपने भाग्य का निर्णय करता है। इसको कर्म सिद्धान्त (Karma Theory) कहते हैं। इसके अनुसार प्रयत्न के बिना कुछ भी नहीं हो सकता है और कार्य बिना फल के नहीं रह सकता। यह प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं ही अपनी उन्नति अथवा अवनति के लिए उत्तरदायी बतलाता है। इस प्रकार जैनशास्त्र पुरुषार्थ का पाठ पढ़ाते है। जैन ससार के बनाने या मिटाने वाले की पूजा नहीं करते वरन् उन साधुओं को पूजते है जिन्होंने सच्चाई को जाना है और जो मानवता को उपदेश देते है। इन साधुओं को को वह तीर्थंकर कहते है - अर्थात वह जिन्होंने दूसरों के लिए जीवन - समुद्र पार करना सरल बना दिया।

इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है कि इस प्रकार के धार्मिक ढंग में जातपांत का कोई भेद नहीं है और किसी प्रकार के ढोंग का भी कोई स्थान नहीं है। यदि जैन समुदाय मे इस प्रकार की दुर्बलतायें है तो वह धार्मिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल है और समाज की त्रुटियों व भूलों के कारण है सिद्धान्त व व्यवहार दोनों में जैनवाद हिन्दु और बौद्ध धर्म से काफी मिलता हुआ है। यह अन्य धर्मों जैसे, ईसाई मत तथा इस्लाम से जिनका कि उद्देश्य यही है अर्थात मोक्ष प्राप्ति से भी मिलता है। अनेकांत के रूप में जैनवाद मन, वचन, व कर्म की अहिंसा पर बल देता है इस प्रकार यह मनुष्यों में वसुधैव कुटुम्ब की भावना जाग्रत करना चाहता है।

जैन प्रथा के अनुसार जैन धर्म अति प्राचीन है जो कि समय समय पर लगभग २४ तीर्थंकरो द्वारा प्रचारित किया जा चुका है। इन सबसे अन्तिम भगवान महावीर थे। उन्होंने ऐक राजकुमार के रूप में जन्म लिया। वैशाली राज्य में उनके माता पिता सिद्धार्थ और त्रिशला कुन्डलपुर के राजा रानी थे। परन्तु राजसी ऐश्वर्य महावीर जी को प्रलोभित न कर पाया। उनका मस्तिष्क मानव जीवन की कठिनाइयों से ओत प्रोत था। जीवन की कठिनाइयों और कैसे इनसे छुटकारा हो इस विचार ने उन्हें परेशान कर दिया। इनकी औषधि महल और राज्य में उपलब्ध नही हो सकती थी। इसलिए ३० वर्ष की उम्र में उन्होंने घर छोड़ दिया और अपने आप को शारीरिक मानसिक सन्तुलन लाने में लीन रखा जो कि जीवन और प्रकृति को समझने के लिए अत्यन्तावश्यक है। यह सब उन्होंने २० वर्ष तक किया जिसके अन्त में उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई। उन्होनें कठिनाइयों का कारण व इसका उपाय खोज निकाला। उनकी विचार धारा का उपरोक्त सार उल्लेखनीय हैं। इन सबका उपदेश उन्होंने अपने शेष जीवन के ३० वर्षो तक किया और उनके बहुत से शिष्य भी हो गए। ७२ वर्ष की आयु में पावा मे उनको निर्वाण प्राप्ति हुई। उन्होंने सन्तुलित समुदाय छोड़ा जो कि २५ शताब्दियों से उनके सिद्धान्तों को भारत में फैला रहा है। देश के सांस्कृतिक विकास में इस समुदाय ने पूर्ण सहयोग दिया है और राष्ट्रीय धर्म, दर्शन, कला साहित्य के क्षेत्र मे भी महान कार्य किया है। महावीर जी का जन्म महान था, जीवन महान था जो कि उन्होने व्यतीत किया इन सबसे अधिक महान था सत्य जो कि जैन के रूप में उन्होने मानवता को बताया।

जैन धर्म

प्रेहलाद नारायण खन्ना

अहिंसा परमोधर्म: —अहिंसा का पावन विचार जगत मे क्रियात्मक रूप लाने वाले भगवान महावीर का परम आदर्श था, आप वस्तुत: अहिंसा के मूर्तिमान प्रतीक थे। ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व वैशाली में राजा सिद्धार्थ के यहा भगवान महावीर का जन्म हुआ, इनका पिता के द्वारा रखा नाम वर्धमान था, इनके विवाह के विषय मे दिगम्बर तथा श्वेताम्बर जैन दोनो का मतैक्य नही है इसलिए यह विषय विवादास्पद है।

३० वर्ष की अवस्था मे इन्होने गृहस्थ का परित्याग कर आत्म कल्याण के लिए योग मार्ग को चुना, योग से निर्वाण मिलेगा विचार कर लग गए योग साधना में, सतत् ध्यानस्थ रह कर एकान्त स्थान मे बिना किसी अन्तराय के योग साधना मे रत हो गए। १२ वर्ष तक योगाभ्यास करके आपने केवल ज्ञान प्राप्त किया। तीस वर्ष तक जैन धर्म का प्रचार प्रसार कर अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने कार्तिक कृष्ण अमावस्या को निर्वाण प्राप्त किया।

जिन्होने अपने मन, वाणी और काया को जीत लिया है उन्हें जिन कहते है और जो जिन के अनुयायी हो उन्हे जैन कहते है।

जैन धर्म के प्रथम तीर्थकर ऋषभनाथ और अन्तिम चौबीसवे तीर्थंकर भगवान महावीर हुए। यद्यपि तीर्थंकर अवतार नही होते है फिर भी इन्हें अवतारो के सदृश सम्मान दिया जाता है।

जैन धर्म के मानने वालो के दो मुख्य सम्प्रदाय है एक दिगम्बर दुसरे श्वेताम्बर। दिगम्बर वह है जो कोई वस्त्र नही पहनते और श्वेताम्बर वह हैं जो श्वेत वस्त्र पहनते हे ये दोनो ही मूर्ति पूजक होते है, लगभग ३०० वर्ष पूर्व श्वेताम्बरो मे से एक शाखा और निकली जो मूर्ति पूजक नही होते है इन्हे **स्थानकवासी** कहा जाता है। जैन धर्म का विश्वास है कि यह जगत अनादि और अनन्त है, इस जगत का बनाने वाला कोई नही है। वे **जिन** या **अर्हत** को ही परमात्मा मानते है और यह भी कि प्रत्येक आत्मा परमात्मा हो सकता है जैन दर्शन का सबसे ऊंचा सिद्धान्त अनेकान्त है इसका अर्थ है एक ही वस्तु को अनेक धर्मात्मक देखना, जैसे एक ही वस्तु सत् भी है और असत् भी,

इससे समस्त विरोधों का समन्वय हो जाता है। जैसे कोई यह कहे कि प्रत्येक वस्तु नित्य है वह जीवन और मृत्यु में सम रहता है। और कोई यह कहे कि प्रत्येक वस्तु नित्य ही नहीं, अनित्य भी है, तो वह उसके सयोग में सम रहता है । अस्तु जो अनेकान्त को मानता है, सत्य को अनेक दृष्टिकोणों से देखता हैं वह अपने किसी दुराग्रह को लेकर झगड़ता नहीं है। इसी का नाम है स्याद्वाद या अनेकांत। जैन धर्म में **अहिंसा परमो धर्म:**। अहिंसा पर अत्यधिक जोर दिया गया है और इसकी इतनी सूक्ष्म व्याख्या की गई है जो कार्य रूप में लाना बड़े २ मुनियों को भी कठिन है।

अहिंसा का एक उदाहरण रात्री में भोजन करने का निषेध है और यह इसी लिए है कि रात्री में कोई प्राणी भोजन के साथ न मिल जाय और हिंसा हो जाय।

जैन धर्म में तपस्या का बहुत ऊंचा स्थान है बाह्य तपस्या मे जैन मुनि अद्वितीय होते हैं।

जैन धर्म के अनुसार पाप तथा पुण्य एवं मोक्ष की व्याख्या इस प्रकार है:—
पाप १८ प्रकार का होता है यथा —: हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मोह, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभयाख्यान - चुगली- पर-परिवाद, (दूसरे की निन्दा) रति - अरति (राग - द्वेष) मिथ्या दर्शन और शल्य (मन को छेदने वाली)।
पुण्य — अन्नदान, जलदान, स्थानदान, शैय्यादान, वस्त्रदान, सद्भावदान, सद्वचन-दान, सत्कार्यदान और प्रमाण।
मोक्ष — सभी कर्म बन्धनों से छूट जाना, सम्यक् दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक् चरित्रों से कर्मों का बन्धन शिथिल होता है और जीव बन्ध मुक्त होता है।
कर्म सिद्धान्त — जैन धर्म में कर्म सिद्धान्त पर अत्यधिक विचार किया है यह वह हैं जो आत्मा को असली स्वभाव प्रगट न होने दे उसे ढंक दे। **कर्म का जैन सिद्धान्त के अनुसार वह अर्थ नहीं है जिसे कर्तव्य कर्म कहा** जाता है, इनके अनुसार कर्म नाम के परमाणु होते हैं जो आत्मा की ओर सतत् आकृष्ट होते रहते हैं, और आत्मा के वास्तविक स्वरूप को प्रगट नहीं होने देते।

अस्तु जैन सिद्धान्तानुसार आत्मा को जीतो, इसके लिए कर्म बन्धन से छुटकारा पाना होगा और इसका सरल उपाय है रागद्वेष से अतीत बनो, वीतराग बनो, अहिंसा और अभय, त्याग और तपस्या, अस्तेय और अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य और सदाचार से ही आत्मा को जीता जा सकता है। **आत्मा से आत्मा को जीतो :—**

अप्पाणमेव जुज्झहि किं ते जुज्भेणं बज्भओ,
अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेव ए ॥

अर्थ — हे पुरुष तू आत्मा के साथ युद्ध कर, बाहरी शत्रुओं के साथ क्यों लड़ता है ? आत्मा के द्वारा ही आत्मा को जीतने में सच्चा सुख हैं।

भगवान महावीर ने कहा कि **धर्म सबसे उत्तम मंगल है, धर्म है** अहिंसा, संयम और तप जो धर्मात्मा है, जिसके मन में सो धर्म रहता है उसे देवता, भी नमस्कार करते हैं।

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संजवो तवो।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो॥

भगवान महावीर जी ने अपने उदात्त विचारो को इस प्रकार व्यक्त करते हुए व्यवस्था दी कि — चाहे शत्रु हो चाहे मित्र, चाहे वैरी हो चाहे मीत, सभी जीवों पर सभी प्राणियों पर समभाव रखना, सबको अपने जैसा समझना ही अहिंसा है। जीवन भर किसी भी प्राणी को मन, वचन और काया से न सताना, किसी की हिंसा न करना सचमुच बहुत कठिन हैं।

समया सव्व भूएसु सत्तु मित्तेसु वा जगे।
पाणाइवायविरई जावज्जीवाए दुक्करं॥

संयमी पुरुष इन चीजों का परित्याग कर दे, हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार भोग की लिप्सा और लोभ।

तहेव हिंसं अलियं चोज्जं अबम्भसेवणं।
इच्छाकामि च लोभं च संजओ परिवज्जए॥

सब के भीतर एक ही आत्मा हैं, हमारी ही तरह सबको अपने प्राण प्यारे हैं, ऐसामान कर डर और वैर से छूट कर किसी प्राणी की हिंसा न करे।

अज्झत्थं सव्वओ सव्वं दिस्स पाणे पियायए।
न हणे पाणिणो पाणे भयवेराओ उवरए॥

सच बात भी यदि कड़वी हो, उससे किसी को दुख पहुंचता हो, उससे प्राणियों की हिंसा होती हो, तो वह न बोलना चाहिए, उससे पाप का आगमन होता है।

तहेव फ़रुसा भाषा गुरु भूओवघाइणी।
सच्चा वि सा न वक्तव्यो जओ पावस्स आगमो॥

सुख का साधन बताते हुए कहा है कि, अपनी इन्द्रियों को वश में कर अपनी आत्मा को जीत विषयों को छोड़ तभी तू सुखी होगा :—

इंदियाइं बसे काउं अप्पाणं उवसंहरे।

सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक् चरित्र यह तीन साधन ही मोक्ष के देने वाले है:—
सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणी मोक्ष मार्गः
सभी कर्मो के क्षय होने का नाम मोक्ष है:— कृत्स्न कर्मक्षयो मोक्षः
जैनाचार्यों का मत है कि, सदा शिव, परब्रह्म, सिद्ध, आत्मा, तथागत आदि शब्दों द्वारा उस एक ही परमात्मा का नाम लिया जाता है, शब्द में भेद होने पर भी वह अर्थ की दृष्टि से एक ही है।

सदा शिवः परंब्रह्म सिद्धात्मा तथतेति च शब्दैस्तदुच्यतेन्वार्थादेकमेवैवमादिभीः
मुक्त होता कौन है ? इसका विवेचन इस प्रकार किया गया है।

जहां दुख नहीं है, सुख नहीं है, पीड़ा नहीं है, बाधा नहीं है, मरण नहीं है, जन्म नहीं है, वही निर्वाण है।

णवि दुक्खं णवि सुक्खं णवि पीणा णेव विज्जदे बाहा।
णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होई णिव्वाणं॥

अपनी उत्कृष्ट विचार धारा को जैनाचार्य ने इस प्रकार व्यक्त किया है "हे देव, मैं चाहता हूँ कि मेरी आत्मा सदा प्राणी मात्र के प्रति मैत्री का भाव रखे, गुणियों को देखकर मुझे प्रसन्नता हो, दुखियों को देखकर मेरे मन में करुणा जगे, विपरीत वृत्ति वालों के प्रति मैं उदासीन रहूं।

सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ॥

जैन धर्म के यह पाँच नमस्कार जो कि अनादि निधनमन्त्र कहलाते हैं इस प्रकार है

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं
अरिहंतो को नमस्कार,
सिद्धो को नमस्कार,
आचार्यों को नमस्कार,
उपाध्यायों को नमस्कार,
सर्व साधुओं को नमस्कार (ये पांच परमेष्ठी है)।

जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभ देव थे इनका वर्णन पुराणो में भी आता है इनका पवित्र चरित्र श्री मद्भागवत में कई अध्यायों मे आया है यह मनु वंशी महीपति नाभि तथा महारानी मरुदेवी के पुत्र थे। इनके सौ पुत्रो मे सबसे ज्येष्ठ पुत्र थे महाराज जड़भरत जो अपनी आध्यात्मिकता के कारण लोकोत्तर प्रसिद्ध थे, इन्हीं के पावन नाम के कारण हमारा देश **भारतवर्ष** के नाम से विख्यात है, ऋषभ नाथ जैन धर्म के तीर्थंकर थे इसलिए ही इनकी इतनी मान्यता हो यह नहीं है बरन् ब्राह्मण धर्म में भी यह विष्णु के चौबीस अवतारो में से इनकी गणना की गई है, भगवान ऋषभदेव आदि तीर्थंकर तथा दो तीर्थंकर पार्श्व नाथ तथा महावीर ऐतिहासिक रहे है अन्य तीर्थंकरो के विषय में ऐतिहासिक प्रमाण संदेहास्पद हैं।

जैन धर्म के दिगम्बर सम्प्रदाय का विश्वास है कि स्त्रियों को पुरुष जन्म के ग्रहण के अनन्तर ही मोक्ष प्राप्ति का विधान है।

मुक्ते नकेवल न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बर:।
प्राहुरेषामयं भेदो महान् श्वेताम्बरै: सह ॥

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि जैन धर्म का मूल सिद्धान्तआधार **अहिंसा** है जैनाचार्यों ने सदैव अपने विचारों में अहिंसक को अधिक महत्व दिया है, साथ इनका विशेष आग्रह आचार तथा तपस्या पर रहा हैं जैन महात्माओं का त्याग तपस्या तितीक्षा वस्तुत: अभूतपूर्व होती है, इनकी प्राणी मात्र के प्रति दया की भावना किसी को भी कोई कष्ट न हो यह केवल वाग्विलास मात्र न हो कर सक्रिय जीवन में नित्य व्यावहारिक वस्तु है। जिस समय भारत में हिंसा की प्रवृत्ति चरम सीमा पर थी बात २ में हिंसा, क्रोध, अन्याय, अनाचार, परिग्रह, आदि का प्राबल्य था उस समय जैन सम्प्रदाय ने विकसित होकर उन कुरीतियों को जोर के साथ खन्डन किया और जन साधारण को नया मोड़ दिया और जीवन की जो उस समय घृणित मान्यताएं हो गई

थी उन का मूलोच्छेद किया।

सामान्य रीति से कहा जा सकता है कि जैन न्याय प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम, इन तीन प्रमाणों को ही स्वीकार करता हैं, प्रत्यक्ष की सत्ता सर्वमान्य हैं, अनुमान चार्वाक को अस्वीकृत है, पर जैनाचार्यों ने बड़ी प्रबल युक्तियों के आधार पर लोक-व्यवहार के लिए अनुमान की प्रमाणिकता मानी है, जैन आगम से प्रतिपादित सत्य जैन दर्शन की मूल भित्ति है, पर जैन दर्शन अथवा जैन धर्मावलम्बी ब्राह्मण शास्त्र श्रुति तथा स्मृति की प्रमाणिकता अनेक दोषों का विद्यमान होना बताकर मानने को तैयार नहीं हैं।

[जैन धर्म की एक यह मान्यता कि वह कर्म फल के दाता ईश्वर की सत्ता न मानने की, वह ईश्वर विषयक युक्तियों का तर्क से खण्डन करता है तथा वह ईश्वर के निषेध करने में सविशेष जागरूक बना हुआ है। कर्म की स्वतन्त्रता ईश्वर की अध्यक्षता के अभाव में भी तत्तत् फल देने में स्वयं कारण मानी जा सकती है। इस विषय में जैन दर्शन मीमांसक मत के साथ समता रखता है पर जहां मीमांसा धर्म कर्म के अन्तिम निर्णय के लिए भगवती श्रुति का आश्रय लेती है वहां जैन धर्म उस आश्रय से भी वंचित रह जाता है। मानव हृदय अपनी श्रद्धा तथा भक्ति की विशेष उन्नति के लिए किसी भी साकार का आश्रय चाहता है, जिसकी पूर्ति जैन धर्म ने अपने सिद्धों को ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठित करके पूरी कर दी। अर्हंत की देवत्व कल्पना आर्त उपासकों के लिए जीवन दान देने का कार्य करती है।]

लेखक परिचय

(१) **डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्री** — प्रमुख भारतीय लेखक तथा साहित्यकार कई पुस्तकों के लेखक, विविध विषयों पर लेख कई पत्रिकाओं मे प्रकाशित हो चुके है।

(२) **श्री श्री रंजन सूरिदेव** -- सम्पादक त्रैमासिक 'परिषद पत्रिका' राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

(३) **श्री अगर चन्द जी नाहटा** — प्रमुख जैन विचारक तथा लेखक। आपके लेख जैन दर्शन, धर्म, इत्यादि विषयों पर कई प्रमुख पत्रिकाओं में समय समय पर प्रकाशित हुए हैं।

(४) **डा० प्रद्युम्न कुमार** — प्राध्यापक संस्कृत विभाग, विभूति नारायण डिग्री कालेज, ज्ञानपुर, वाराणसी।

(५) **मुनि नेमिचन्द्र जी** — सुविख्यात जैन साधु विचारक तथा लेखक।

(६) **श्री हृदय नारायण मिश्र (एम० ए० दर्शन एवं मनोविज्ञान)** — प्राध्यापक मनोविज्ञान विभाग, काशीराज महाविद्यालय, अवराई (वाराणसी)।

(७) **डा० मोहन लाल मेहता** — संचालक पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान जैनाश्रम, हिन्दु विश्व विद्यालय, वाराणसीं।

(८) **डा० ब्रिज गोपाल तिवारी** — रीडर दर्शन विभाग, जबलपुर विश्व-विद्यालय जबलपुर।

(९) **डा० हृदय नारायण मिश्र** — प्राध्यापक दर्शन विभाग, डी० ए० वी० कालेज कानपुर, (कानपुर विश्व विद्यालय)।

(१०) **विमल चन्द्र जैन एम० ए० (समाजशास्त्र, अंग्रेजी तथा दर्शन)** — प्राध्यापक अंग्रेजी विभाग रस्तोगी कालेज, मुरादाबाद। भूतपूर्व प्राध्यापक समाजशास्त्र विभाग, दयानन्द महिला विद्यालय मुरादाबाद।

(११) **श्री प्रह्लाद नारायण खन्ना** — धार्मिक तथा दार्शनिक विषयो के मुरादाबाद के सुपरिचित लेखक।

(१२) **डा० भीखन लाल आत्रेय** — अवकाश प्राप्त प्रोफेसर तथा अध्यक्ष दर्शन, मनोविज्ञान तथा भारतीय दर्शन तथा धर्म विभाग, बनारस हिन्दु युनिवर्सिटीं, वाराणसी -- ५।

गवेषणा

दर्शन, मनोविज्ञान, परामनोविद्या

समाजशास्त्र, धर्म

इत्यादि विषयों की

त्रैमासिक पत्रिका

वर्ष—तृतीय | जून १९६६ | अंक— प्रथम

विषय सूची

सम्पादकीय:—

युगधर्म और नैतिकता

ब्रिज गोपाल तिवारी

नैतिकता पर विचार करने वाले अथवा धर्म-तत्त्व की गवेषणा करने वाले के लिये आज का संसार एक महान प्रयोगशाला के समान है। एक ओर बर्ट्रेंड रसल और सार्त्र का कथन है कि वीतनाम पर बमबारी एक बहुत बुरा कुकर्म है, तो दूसरी ओर कुछ विचारक उसे मानव स्वतन्त्रता की रक्षा हेतु एक आवश्यक कार्य का निरूपित करते हैं। इसी प्रकार अरब देशों पर इसरायली आक्रमण, भारतीय दूतावास पर चीनी लाल रक्षकों के आक्रमण, उत्तर प्रदेश के माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के सचिव आदि के हिन्दी-प्रेमी छात्रों द्वारा घिराव आदि का घटनाओं के विषय में आज के विचारक एकमत नहीं हो पाये हैं।

छात्रों, विधायकों और नेताओं के विवाद भिन्न भिन्न क्षेत्रों तथा देश के भिन्न भागों में अब अत्यन्त उग्र रूप धारण कर लिया करते है। इसे देखकर कुछ नेता धार्मिक अथव नैतिक शिक्षा की आवश्यकता पर बल देने लगे है। डाक्टर कन्हैयालाल मानिकलाल मुन्शी कई वर्षों से गीता के उपदेशों के प्रचार पर बल दे रहे हैं। इसी प्रकार हमारे मध्य प्रदेश के वर्तमान शिक्षामन्त्री महोदय नैतिकता के शिक्षण के लिये एक पृथक् पाठ्य-क्रम तथा एक पृथक् विभाग स्थापित करने का यत्न कर रहे हैं।

यह तो सभी जानते हैं कि केवल पुस्तकीय शिक्षण अथवा किताबी ज्ञान, भाषण आदि (Instruction) ही से बालक-बालिकाओं का चरित्र नहीं सुधर सकता है। अत: इस योजना में आदत-सुधारने वाले प्रशिक्षण (Habit-forming and training) पर भी बल देना पड़ेगा। ऐसे प्रशिक्षण के साधन साधारणत: खेल-कूद, बालचरों की क्रियायें व अभ्यास तो हुआ ही करते हैं। साथ ही साथ इस बात पर भी ध्यान रखना पड़ेगा कि शिक्षक का निजी जीवन ऐसा हो, जिससे बालकों को ऊपर उठने की प्रेरणा मिले।

यदि हो सीमित क्षेत्रों में अर्थात् (१) आचार और विचार की असंगति का निवारण तथा आचार और विचार में सामंजस्य की स्थापना और (२) देश भर के

सर्वमान्य नैतिक सिद्धान्तों का संकलन एवं संग्रह — में इस योजना को आंशिक सफलता भी प्राप्त हो जाय तो इसे ही एक महान सफलता माना जा सकेगा। पहला क्षेत्र है आचार और विचार में सामंजस्य स्थापित करने का यत्न टॉमस पेन का कथन है कि अमुक व्यक्ति किस सिद्धान्त अथवा विश्वास को मानता है और किसे नहीं मानता, —इस बात का कोई महत्व उतना नहीं है, जितना कि इस बात का है कि वह जैसा कहता है, वैसा करता भी है या नहीं। वर्तमान काल में अवसरवादिता, क्षणिक लाभ की खोज, अल्प समय, अल्प स्थान में, अल्प कठिनाई के साथ अधिक से अधिक सुख की खोज और सापेक्षिक सत्य की चकाचौंध आदि कारणों से नैतिकता तथा धर्म-वृत्ति का ह्रास और अनैतिकता का बोल बाला हो रहा है। किसी ने ठीक ही कहा है कि मनुष्य पहले मूर्ख बनता है और बाद में वह बदमाश हो जाता है। परीक्षा के समय छात्रों का नकल करना और पकड़े जाने पर छुरा चलाना, टिकट के लिये खड़ी पंक्ति में किसी एक मनचले व्यक्ति का लाइन तोड़कर आगे बढ़ने का यत्न—ऐसी वर्तमान जीवन में अनेक हरकतें हुआ करती हैं। अत: आपस में सिद्धान्तों का भेद होते हुए भी, प्रत्येक दल के नेतागण और प्रत्येक कुटुम्ब के स्वामी शायद इस बात का स्वागत करेंगे कि उनके अनुयायी अथवा सदस्य कम से कम अपने दल अथवा कुटुम्ब द्वारा स्वीकृत रीति-नीतियों व सिद्धान्तों के अनुसार ही चलना सीखें। यदि इतने सीमित क्षेत्र में भी मूर्खता तथा हिंसा की वृत्ति कुछ घट जाय, तो इससे सब का भला होगा।

दूसरा क्षेत्र है सर्वमान्य नैतिक सिद्धान्तों का चयन, संपादन एवं संग्रह। आज के दिन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लोगों में गम्भीर मतभेद हैं। कुछ मतभेद तो अवश्य ऐसे हैं जिनकी समाप्ति व्यावहारिक जीवन के महान संघर्षों अथवा क्रूरतापूर्ण, घातक युद्धों द्वारा ही हो सकेगी। किन्तु ऐसे मतभेदों को छोड़कर अनेक मत, विश्वास और सिद्धान्त ऐसे हैं जिनका समन्वय आवश्यक भी है और संभव भी। भारत में तो अनेक विचारक समन्वय का कार्य बड़ी निपुणता से करते रहे हैं। अकबर ने "दीने इलाही" द्वारा और दारा शिकोह ने प्रसिद्ध पुस्तक "मजमुए बहरीन" (महासागरों का संगम) द्वारा हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों का समन्वय करना चाहा। वर्तमान काल में डाक्टर भगवान दास ने "सब धर्मों की एकता" नामक पुस्तक द्वारा भिन्न भिन्न धर्मों के सर्वमान्य अथवा बहुमान्य सिद्धान्तों का अन्वेषण किया। व्यवहारिक क्षेत्र में भी शताब्दियों तक मुसलमानी तथा अंग्रेजी राज्य में गौरक्षक और गौभक्षक एक साथ रहे। इसी प्रकार चीनी तथा पाकिस्तानी आक्रमणों के समय भारत के भिन्न भिन्न मतों, सम्प्रदायों, प्रान्तों दलों, समुदायों, जातियों आदि के लोग भेद भुलाकर एक हो गए। हाल ही में कई प्रदेशों में, पूंजीपतियों के समर्थकों और साम्यवादियों, आस्तिकों और नास्तिकों, कट्ट , राष्ट्रवादियों और अन्तर्राष्ट्रीयता के समर्थकों ने सम्मिलित होकर मिली जुली सरकारों का निर्माण किया है; और घटनाओं की चुनौती ने साम्यवादी, नास्तिक मंत्रियों को भी सिक्ख गुरुद्वारों और हिन्दू मन्दिरों में आदर और श्रद्धाभाव से पहुँच कर लोगों में शान्ति और भाईचारा स्थापित करने के लिये मजबूर किया गया है। इसी प्रकार बिहार के सूखा ग्रस्त इलाकों और भागों में सभी दलों, धर्मों और सम्प्रदायों के लोग

जनसेवा के महान कार्य में अग्रसर हैं। ऐसी दशा में यह आशा करना व्यर्थ नहीं है कि भिन्न भिन्न समुदायों के सर्वमान्य अथवा बहुमान्य नैतिक सिद्धान्तों का समन्वय हो सकेगा।

यह कार्य असम्भव तो नहीं ; पर कठिन अवश्य है। समन्वय कर्ताओं को युग-धर्म की पुकार पर भी ध्यान देना पड़ेगा। वर्णाश्रम धर्म के प्रेमियों को याद रखना होगा कि आज देश के लाखों हरि जनों ने फ्रांस के क्रान्तिकारियों के प्रसिद्ध नारे "स्वतन्त्रता, समता और बांधत्व" को अपना लिया है ; और वे सवर्ण हिन्दुओं के बराबर का दर्जा स्थापित करने का यत्न कर रहे हैं। समाजवाद की स्थापना अब किसी की कृपा पर अवलम्बित नहीं है। इस प्रजातन्त्र में अब वह श्रमजीवियों के जन्मसिद्ध अधिकारों का अंग बन गया है। अतः नैतिकता के इस नये संग्रह में इस नये युग की प्रेरणाओं और आदर्शों तथा नये समाज की धारणाओं और महत्वकांक्षाओं को उचित स्थान देना पड़ेगा। पुराने वर्णाश्रम धर्म की दुहाई देने से काम न चलेगा। यदि उसे रखना भी पड़े, तो उसका नया अर्थ लगाना पड़ेगा।

एक कठिनाई और भी है। तानाशाही शासन में तो शासक शिक्षक और अभिवाहक— इन तीनों का पारस्परिक सहयोग सम्भव होता है, और इन तीनो के कार्यों में सामंजस्य होने से नैतिकता का शिक्षण भी सुचारु रीति से चल सकता है। पर प्रजातन्त्र में यह कार्य अत्यन्त कठिन हो जाता है। सम्भव है कि शासक साम्यवादी हो शिक्षक गांधींवादी और अभिवाहक गोड़सेवादी। ऐसी दशा में बच्चे के आरम्भिक जीवन में घर के प्रभाव, शाला के प्रभाव और शासन के प्रभाव में संघर्ष हो सकता है, जो नैतिकता के शिक्षण के क्षेत्र को बहुत ही संकुचित और सीमित कर सकता है। अतः कुछ शिक्षा प्रेमी निराशा के भाव में यह कहने लगते हैं कि जबतक समाज और शासन में यथोचित परिवर्तन (क्रान्ति) न हो जाय, तब तक नैतिक शिक्षण के यत्न में समय, शक्ति और धन व्यय करना व्यर्थ है। पर प्रजातन्त्र में जहां एक ओर कठिनाइयां हैं, वहीं दूसरी ओर उन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने वाली शक्तियाँ भी हैं अतः यदि सावधानी से काम लिया जाय, तो हमें आशा है कि इस समस्या का समाधान भी इस देश की दार्शनिक एवं व्यावहारिक क्षमता अवश्य ही ढूंढ निकालेगी।

वेदान्त दर्शन में व्यक्तित्व का स्वरूप

अभय चन्द्र भट्टाचार्य

वेदान्त दर्शन में व्यक्तित्व सम्बन्धी विचारों पर विवेचन करने से पहले व्यक्तित्व की धारणा को स्पष्ट करने के लिए सर्वप्रथम एक छोटी सी कथानक का उल्लेख करेंगे।

एकबार वन में एक गर्भवती व्याघ्रिणी ने जब बकरियों के झुंड पर आक्रमण किया, तो उसी समय व्याघ्र शिशु को जन्म देकर वह मर गई। तत्पश्चात् वह व्याघ्रशावक बकरियों के झुंड में ही रहने लगा और बकरियों की जैसी ध्वनि करना तथा उसी प्रकार का भोजन करना सीख लिया। बहुत दिनो के बाद जब फिर एक व्याघ्र ने उसी झुंड पर आक्रमण किया तो उन बकरियों में एक स्वजातीय व्याघ्र को चरते हुए देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने बकरियों को छोड़कर उसी व्याघ्र को पकड़ लिया। बकरियों के साथ जन्म से रहने के कारण वह बहुत डर गया और बकरियों की तरह 'मैं' 'मैं' स्वर से आर्त्तनाद करने लगा। आक्रमणकारी व्याघ्र ने उसे एक तालाब के पास ले जा कर जल में उसे अपना प्रतिबिम्ब दिखलाया। फिर कहने लगा - देख तुझमें और मुझमें कोई अन्तर नहीं है। बकरियों के झुंड में पलकर तू बकरी जैसा डरता है, वैसी बोली बोलता है और घास पात खाता है। यह कर उसके मुख में मांस भर दिया और और पूछा कि घास अच्छा है या यह मांस, बता ? तब बकरियों के झुंड में पला व्याघ्रशावक की समझ में आ गया कि वास्तव में वह कौन है।[1]

ठीक इसी प्रकार संसार में मनुष्य भी यह नहीं जानता कि उसका वास्तविक व्यक्तित्व क्या है और बकरियों के झुंड में पला व्याघ्र शिशु के समान अपने को असहाय तथा दुर्बल समझता है और रोग, शोक, जन्म, मृत्यु आदि से भयभीत होता है। गुरु की कृपा से जब वह अपने को जान लेता है। तब उसे अनुभव होता है कि वह कितना बड़ा है। वह स्वयं ब्रह्म है या अमृत का पुत्र है।

वेदान्त दर्शन में व्यक्तित्व सम्बन्धी विचारों से हम मुख्यता दो प्रतिद्वन्द्वी मत पाते

---

[1] स्वामी विवेकानन्द — हार्टफोर्ड लेक्चर।

हैं --- एक शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त का मत और दूसरा रामानुज आदि वैष्णव सम्प्रदायों का मत। परन्तु वेदान्त के सभी सम्प्रदायों की उत्पत्ति उपनिषदों से होती है। इसलिऐ उपनिषदो में दी हुई जीव और ब्रह्म सम्बन्धी कुछ सामान्य बातें सबको मान्य हैं। जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध का जहां तक प्रश्न है, विभिन्न वैदान्तिक सम्प्रदायो में मत वैषम्य दृष्टिगोचर होता है। जीवात्मा का स्वरूप क्या है। इसे समझने के लिए सर्व प्रथम यह आवश्यक है कि हम वेदान्त की उस सामान्य मान्यताओं पर दृष्टिपात करें, जिन्हें सभी सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं।

उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय आत्मा है। संहिता से लेकर आरण्यक पर्यन्त जिस ब्रह्म को आत्मा से भिन्न प्रतिपादित किया गया है, वह उपनिषद में उससे अभिन्न हो जाता है। आत्मन् ही सर्वव्यापी है और विश्व के सभी पदार्थ इसी के गर्भ में विलीन हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में बृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है कि:—

> स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमय: प्राणमय
> श्चुक्षुर्मय: क्षोत्रमय: पृथिवीमय आपोमयो वायुमय।
> आकाशमयस्ते जोमयोऽतेजोमय: काममयोऽ काममय:
> क्रोधमयोऽ क्रोधमयो धर्ममयोमय: सर्वमय: इत्यादि।

वेदान्त के अनुसार सर्वोच्च आत्मा ज्ञान का आदि और अन्त दोनों ही हैं। आत्मा वह अन्तिम लक्ष्य है जिसके ज्ञान के बाद अन्य ज्ञान की आवश्यकता नही पड़ती। क्योंकि समस्त ज्ञान का मूलश्रोत आत्मज्ञान ही है। आत्मज्ञान समस्त ज्ञान की पूर्व कल्पना और जीवन का लक्ष्य है। इसके पश्चात् वेदान्त और भी कहता है कि ज्ञानी के लिए जो शक्ति ब्रह्म का रूप लेती है। वही भक्त के लिए साकार ईश्वर के रूप में प्रकट होती है है। ब्रह्म या परमात्मा का ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् ही शाश्वत् आनन्द प्राप्त होता है। वेदान्त के अनुसार इस ज्ञान को हम तभी प्राप्त कर सकते हैं जब हम आत्म शुद्धि के भिन्न भिन्न स्तरों अर्थात् अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, और विज्ञानमय कोषों के माध्यम से क्रमानुसार आगे बढ़ते हैं।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार चूंकि जीव स्वयं ही ब्रह्म या असीम चैतन्य है और चूंकि उस ब्रह्म को छोड़ कर और कुछ भी नहीं है, इसलिए जीव का जो वास्तविक स्वरूप हैं, वही सत्य है और बाकी जो कुछ है, सब मिथ्या है। देवदत्त ही सत्य है, देवदत्त का चलना - फिरना, हँसना - रोना, उठना - बैठना, खाना - पीना सब मिथ्या है। समुद्र ही सत्य है, समुद्र की तरंगें मिथ्या या भ्रम हैं। इस प्रकार जीव के ये अन्नमय, प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय कोष, जिनके कारण जीव में शारीरिक आकार, विभिन्न इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि परिलक्षित होते हैं, व्यक्तित्व के सूचक नहीं हो सकते हैं वास्तविक दृष्टि से उसका व्यक्तित्व इन सबों का न तो योग या समन्वय है, और न उसे इन सबों के परे कहना ही ठीक होगा। सच पूछा जाय तो शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार आदि से जीव के वास्तविक स्वरूप का कुछ भी अंदाज नहीं मिल सकता है। वास्तव में जीव ही नहीं है और जीवों को भिन्न भिन्न सत्ताधारी देखने के परिणाम स्वरूप जो व्यक्तित्व की धारणा हम पोषण करते हैं, और जिसके कारण व्यक्तित्व को

समझने का प्रयास करते है, वह भी परमार्थिक दृष्टि से मिथ्या है। अतएव जीव तथा व्यक्तित्व की यह सारी समस्या ही अद्वैत की दृष्टि से अध्यास के कारण हैं।

पर प्रश्न यह है कि यदि भिन्न भिन्न जीवों का अस्तित्व न भी हो और जिसे हम साधारणत: व्यक्तित्व समझते हैं वह भी भ्रम हो फिर भी जीव जो अन्तिम दृष्टि से ब्रह्म है, उसका स्वरूप क्या है ? इस प्रश्न का महत्व इसलिए और भी बढ़ जाता है कि शंकर जीवन्मुक्ति को मानते हैं।

यूँ देखा जावे तो निर्विकल्प समाधि की अन्तिम स्तर पर जब ब्रह्म ज्ञान होता है तब चूंकि जीव ब्रह्म ही हो जाता है, इसलिए वह अवस्था क्या है, यह कहा नहीं जा सकता, कहने वाला कोई बचा नहीं रहता है। जिस चीज को कहना है उसी में वह एकाकार हो जाता है। जिस प्रकार यह कहा गया है कि नमक का पुतला जब समुद्र नापने को गया तो वह स्वयं समुद्र बन गया। फिर कौन वापस आकर समाचार दे ? परन्तु चूंकि जीव ब्रह्म ही हो जाता है इसलिए जीव का वही स्वरूप होता है जो ब्रह्म का है। ब्रह्म का स्वरूप अनिर्वचनीय है। ब्रह्म के सम्बन्ध में कुछ भी कहना ब्रह्म को सीमित करना होता है। फिर भी शंकर ने अभावात्मक ढंग से ब्रह्म का स्वरूप लक्षण इस प्रकार कहा हैं — ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त का अभाव नही है। अर्थात् ब्रह्म वह है जो असत्य नहीं, अज्ञान नहीं और सानन्त नहीं।

जीवन्मुक्ति की दशा में ब्रह्मज्ञ पुरुष किस प्रकार देह धारण कर जीवित रहता है और उस समय देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार उसमें किस रूप में होते हैं, इसे जानने से भी स्वरूप का कुछ आभास मिल सकता है। देही होने के कारण ब्रह्मज्ञान के बावजूद भी क्षुधा, तृष्णा आदि शारीरिक धर्म उसके शरीर में अवश्य होते हैं परन्तु उनका कोई प्रभाव उस पर नहीं पड़ता क्योंकि उसके लिए शरीर नहीं रहता। विवेक चूड़ामणि में जीवन्मुक्त का वर्णन करते हुए कहा गया हैं कि उस व्यक्ति का भोजन तृष्णा आदि ठीक उसी प्रकार होते हैं जिस प्रकार कोई बालक निद्रित अवस्था में माँ के गोद में बैठकर भोजन करता है। भोजन बनाने में देर होने के कारण बालक सो गया। भोजन बन जाने पर निद्रित बालक को मां शय्या से उठा लाती है और जोर करके भोजन मुख में डाल देती है और बालक भोजन करता हैं। जीवन्मुक्त के लिए भी भोजन पान इसी प्रकार है। वस्तुत: शरीर मन इन्द्रियां अलग अलग काम करती हैं, उनसे जीवन्मुक्त का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। जिस प्रकार रज्जु के जल जाने पर भी उसका आकार रहता है। पर फूंकने पर वह उड़े जाता है।[1] अथवा पारस पत्थर के स्पर्श से जब तलवार सोने की बन जाती है तब उससे कोई तलवार का काम नहीं निकल सकता है। इन दृष्टान्तों से ब्रह्मज्ञ पुरुष के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में हम कुछ धारणा बना सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से अद्वैत वेदान्त का मत स्पष्ट करने का प्रयास किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि अद्वैत वेदान्त में व्यक्तित्व की समस्या कोई महत्व नहीं रखती क्योंकि व्यक्ति (जीवात्मा) की पृथक सत्ता के न होने से व्यक्तित्व का प्रश्न ही उत्पन्न

---

[1] श्री रामकृष्ण वचनामृत — श्रीम।

नहीं होता। परन्तु शंकर के अतिरिक्त दूसरे वैदान्तिक सिद्धान्तों में यह प्रश्न उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना अन्यान्य भारतीय दर्शनों में, क्योंकि ये सभी जीव की अनेकता को स्वीकार करते है। यद्यपि रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य आदि के विभिन्न वैष्णव मत उपलब्ध होते हैं, फिर भी उन सब पर पृथक पृथक विवेचन करना इस छोटे निबन्ध में सम्भव नहीं है। जीवों की अनेकता को ये सभी सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं एवं तात्विक दृष्टि से ईश्वर (वैष्णव ब्रह्म और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं करते हैं) और जीवों के अभेद को भी ये मानते हैं। संक्षेप में ईश्वर और जीवों के बीच विभिन्न प्रकार के भेदाभेद सम्बन्धों से वेदान्त के इन विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों की उत्पत्ति होती है। संक्षेप में यह भी कहा जा सकता है कि न्यूनाधिक ये सभी सम्प्रदाय इस बात को मानते हैं कि जीव का वास्तविक स्वरूप या अस्तित्व उसका वर्तमान स्वरूप नहीं है, जो अज्ञान के कारण उत्पन्न होता है और अन्तिम स्थिति में जीव यद्यपि ब्रह्म या ईश्वर नहीं बन जाता, फिर भी ईश्वर जैसा हो जाता है। इस प्रकार ये मत स्थूल दृष्टि से अन्य भारतीय दर्शन के मतों से अधिक भिन्न नहीं हैं।

वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों के अनुसार जीव के व्यक्तित्व सम्बन्धी ये विभिन्न प्रकार के मत हमें उलझन में डाल देते हैं परन्तु उनसे भी अधिक उलझन में डालती है उनकी विभिन्न साधन प्रणालियां, जिनके पालन करने से मनुष्य अपने स्वरूप को अर्थात वास्तविक व्यक्तित्व को प्राप्त कर सकता हैं। सैद्धान्तिक विरोधों एवं साम्प्रदायिक भेदभाव के कारण एक साधारण व्यक्ति के लिए इसका अनुमान करना नितान्त कठिन हो जाता है कि वास्तविक वैदान्तिक मत का स्वरूप क्या है? इस सम्बन्ध में समन्वय की प्रतिमूर्ति श्री रामकृष्ण का मत जिसका उल्लेख स्वामी यतिस्वरानन्द जी ने किया है, वह एक ओर जहाँ पूर्णतया वेदान्त पर आश्रित हैं, वहाँ दूसरी ओर साम्प्रदायिकता से मुक्त है। व्यवहारिक जीवन में वेदान्त के मार्ग से जिस प्रकार मनुष्य अपने व्यक्तित्व को समन्वित कर सकता है उसकी एक सुन्दर रूपरेखा श्री रामकृष्ण के व्यक्तित्व तथा उपदेशों के आधार पर स्वामी यतिस्वरानन्द जी ने प्रस्तुत किया है।[1] इसके अनुसार व्यक्तित्व को समन्वित करने की प्राथमिक अवस्था में मनुष्य के लिए दोनों एक देशीय आदर्शों से अपने को पृथक रखना तथा मध्यम मार्ग का अनुसरण करना ही आवश्यक है। इन दोनों एकान्तिक या एक देशीय आदेशों में पहला, स्वच्छन्द भोग मार्ग (Self - indulgence) है दूसरा कठोरतम त्याग मार्ग (Self--mortification) के रूप में प्रचलित है। एक ओर मायावाद की दुहाई देकर अपने को भोग चरितार्थ में लिप्त रखने वाले कुछ वेदान्ती दृष्टिगोचर होते हैं, जिनके अनुसार चूंकि यह जगत मिथ्या है। इसलिए ऐन्द्रिक सुख भी मिथ्या हैं फलस्वरूप भोग मार्ग या भोगवाद को ब्रह्मज्ञान के मार्ग में बाधक नहीं कहा जा सकता। दूसरी ओर कठोरतम इन्द्रिय निग्रह का मार्ग भी वेदान्तियों में कम प्रचलित नहीं है। ऐसे वेदान्तियों के अनुसार व्यक्तित्व का पूर्ण विकास तभी सम्भव है जब ऐन्द्रिक सुखों को पूर्णरूपेण त्याग

---

[1] Vedatna for the Western World - Edited by Christopher-Isherwood p 116.

कर कठोर साधना का अभ्यास किया जाय। इनका विश्वास है कि शारीरिक तथा ऐन्द्रिक सभी प्रकार के सुख, साधन मार्ग में बाधक होते हैं।

इस समन्वयात्मक दृष्टि को रखते हुए साधन मार्ग में प्रविष्ट होने से व्यक्तित्व को पूर्णरूप से समन्वित करना आसान होता है। अर्थात संयम के साथ भोग करते हुए नियमानुसार श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन का अभ्यास करना आवश्यक है। इन्द्रिय निग्रह द्वारा कदापि हम षडरिपुओं के चंगुल से छुटकारा नही पा सकते। इसके लिए श्रेष्ठ उपाय यह है कि हम अपनी विषयमुखी वासनाओं तथा प्रवृत्तियों की दिशा को मोड़कर उन्हें ईश्वरमुखी बना दें। श्री रामकृष्ण के अनुसार :—

Direct the passions to God. The impulse of lust should be turned into a desire to have communion with the Divine Spirit Seek the company of the holy, be angry with your anger, feel greedy for Him. If you have the feeling of I and mine, then associate it with God. If you must have pride, then feel proud thinking that you are servant of God, a child of God.[1]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो हम देखते हैं कि श्री रामकृष्ण का उपर्युक्त कथन मनुष्य की विषयामुखी प्रवृत्तियों का दमन न कर उनका उन्नयन (sublimation) कर देता है। इस प्रकार यह मत आधुनिक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को अनुकूल है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मनुष्य की मूल तथा अर्जित प्रेरणाएं स्वाभाविक एवं शक्तिशाली होती हैं। इसलिए उनके दमन से व्यक्तित्व विघटन हो हो जाता है।

समन्वय का अपना एक शारीरिक पहलू हैं, मानसिक पहलू है और साथ ही साथ आध्यात्मिक पहलू भी हैं। उपर्युक्त रूप से समन्वित व्यक्तित्व में 'अहं' या जीव चैतन्य, ब्रह्म चैतन्य के लय में ही लीन हो जाता है और दोनों में जो पृथकता प्रारम्भ में रहती है वह समाप्त हो जाती है। एक समन्वित जीव चैतन्य में मनस तथा शरीर सन्तुलित संगठित, निपुण तथा स्वाभाविक स्थिति में रहते हैं।

सर्वप्रथम व्यक्तित्व के समन्वय या संगठन के लिए हमें अपनी वासनाओं की दिशा को ऐहिकता की ओर घुमाकर के आध्यात्मिकता की अर्थात ईश्वर की दिशा में मोड़ देना चाहिए। दूसरे शब्दों में अपनी वासनाओं का दमन न करके उन्हें ईश्वरमुखी कर देना चाहिए।

परन्तु इतने से ही हमारा व्यक्तित्व पूर्णरूप से समन्वित नही हो जाता है। इस स्तर में ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग या मनोवैज्ञानिक शब्दावली में जिन्हें हम विचार, संवेग और इच्छाशक्ति कहते हैं, उनमें परस्पर समन्वय के लिए प्रयत्न करना चाहिए। व्यक्तित्व समन्वय ? से पहले या साधारण अवस्था में प्रायः हमारा झुकाव या तो ज्ञान मार्ग के प्रति अधिक होता है या भक्ति मार्ग के प्रति या फिर कर्म मार्ग के प्रति। फलस्वरूप उस स्थिति में इन तीनों में समन्वय का कोई प्रश्न ही नहीं रहता। उस समय हमारा व्यक्तित्व असमन्वित रहता है। यह समन्वय तभी सम्भव है जब हम पहले अन्तर्निहित व्यक्तिगत चेतना या अहं पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करें अर्थात

---

[1] Vedanta for the Western world—Edited by Christhpher Isherwood, p. 122.

दूसरे शब्दों में सर्वप्रथम आत्मज्ञान की आवश्यकता है। यह स्थिति अनासक्ति की स्थिति होती है। इस स्थिति में हमारा ध्यान पूर्णरूपेण आन्तरिक हो जाता है। आत्मज्ञान की प्राप्ति के बाद जब हम पुन: बाह्य जगत में लौट आते हैं तो उस स्थिति में हमें ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों मार्गों में पूर्ण समन्वय दृष्टिगोचर होता है तथा बाह्य जगत हमारी आत्मा मे ही लीन हो जाता है। परन्तु यह भी पूर्ण समन्वय की स्थिति नहीं है।

इन दोनो स्तरो के पश्चात एक तृतीय स्तर का भी समागम होता है। और इसी स्तर मे पूर्ण समन्वय सम्भव होता है। आत्मज्ञान की प्राप्ति के पश्चात जब हम जीव चैतन्य को ब्रह्म चैतन्य या ईश्वर चैतन्य के साथ समन्वित कर देते हैं तब व्यक्तित्व का पूर्ण समन्वय होता है। डा० युंग ने अपने The Integration of Personality में इसी कथन को अन्य शैली में व्यक्त किया है," To be in Tao means fulfilment, wholeness, complete realization of the meaning of existence innate in things. Personality is Tao.[1]

अभी तक जितनी भी बातें कही गई है, ये केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही महत्वपूर्ण हैं। यह हम सभी जानते हैं कि प्रत्येक विचार के दो पहलू होते हैं - प्रथम, सैद्धान्तिक और द्वितीय व्यवहारिक इसलिए व्यक्तित्व समन्वय सम्बन्धी उपर्युक्त कथन का भी व्यवहारिक पहलू होना अनिवार्य है।

जब हम किसी विचार को कार्य में परिवर्तित करते हैं तब उसका महत्व अधिक होता है। इसी प्रकार व्यक्तिगत चेतना या अहं के विकास के लिए ईश्वर से प्रार्थना, दैवी सत्ता का ध्यान इत्यादि कर्म सहायक सिद्ध होते हैं। और व्यक्तिगत चेतना के विकास के पश्चात ही हम अपने अन्त: स्थित सार्वभौम चेतना का अनुभव करने में समर्थ हो सकते हैं। यह सार्वभौम चेतना हम सभी में सुप्त रूप में स्थित है। जब हमारी चेतना अनासक्ति की अवस्था से बाह्य जगत में लौट आती हैं और हम मन, शरीर तथा अहं में किसी प्रकार के भेद का अनुभव नहीं करते तब हमारा व्यक्तित्व अद्भुत प्रकार से समन्वित हो जाता है। वास्तव में जीव चैतन्य के सतह में जो सत्ता स्थित रहती है वही सार्वभौम या ब्रह्म चैतन्य कहलाता है।

ब्रह्मज्ञान या व्यक्तित्व के पूर्ण समन्वय के पश्चात ज्ञानी स्वयं में और अन्य सत्ताओं मे किसी प्रकार का भेद नहीं कर पाता और सभी में एक ही आत्मा का अवलोकन करता है वेदान्त दर्शन में यही ज्ञानी का स्वरूप है। गीता में भी इसी का उल्लेख किया गया है।

सर्वभूतस्थमात्मनं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन: ॥

ज्ञान प्राप्ति के पश्चात व्यक्ति पर बाह्य जगत का प्रभाव समाप्त हो जाता है। वह न तो दु:खों से विचलित होता है और न सुख से प्रसन्न ही होता है। फलस्वरूप वह समस्त वस्तुओं को समदृष्टि से देखता है। ऐसा व्यक्ति आसक्ति भय तथा क्रोध से मुक्त होता है। वह सभी भूतों में एक ही ब्रह्म को स्थित पाता है। इसलिए सभी से प्रेम करता है।

---

[1] Quoted from Vedanta for the Western World — Edited by Christopher Isherwood. p.123.

सांख्य दर्शन मीमांसा

–अनुमान प्रमाण तथा अनुमिति प्रमा–[1]

शान्ति प्रकाश आत्रेय

चार्वाक ने एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना है, उसने अनुमान आदि अन्य प्रमाणों का सर्वथा अनंगीकार कर दिया है। इस विषय में साँख्य कहता है कि चार्वाक के अनुमान प्रमाण नहीं मानने पर तो वह किसी वादी के साथ शास्त्रीय विचार करने में प्रवृत्त भी नहीं हो सकता है। जब तक वादी पुरुष के अन्तर्वर्त्ती अज्ञान - सन्देह विपरीत ज्ञान आदि को नही जान पायेंगे तब तक चार्वाक उसके कथन का अभिप्राय न जाने बिना खण्डन किस प्रकार कर सकेंगे ? वे यह कैसे कह सकेंगे कि इस अंश में आप भ्रान्त हैं, संदिग्ध हैं अथवा अप्रतिपन्न हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा पुरुषान्तरगत-अज्ञान सन्देह - विपर्यय आदि नहीं जाने जा सकते हैं तथा अन्य प्रमाणों को वे मानते ही नहीं।

वादी के द्वारा कहे हुवे वाक्य को समझ कर ही उसका उत्तर देना उचित होता है, अन्यथा बिना समझे बूझे उत्तर देने वाले पुरुष की लोग उन्मत्त पुरुष के समान उपेक्षा कर देते हैं। अत: पुरुषान्तरगत अज्ञान - सन्देह विपर्यय आदि को अनुमान के द्वारा अर्थात वक्तृतात्पर्य विशेषात्मक लिंग के द्वारा अथवा वक्ता के वाक्य - विशेषात्मकलिंग के द्वारा ही जाना जा सकता है। इसलिए न चाहते हुए भी अनुमान प्रमाण को मानना अनिवार्य सा हो जाता है। अत: सांख्य अनुमान प्रमाण को मानता है।

---

[1] सांख्य कारिका-५ (त्रिविध मनुमानमाख्यातम् तल्लिङ्गलिङ्गीपूर्वकम्); सांख्य तत्वकौमुदी ५ टीका; सांख्यप्रवचनभाष्य - १।१००; तत्वसमाससूत्रम् - २३ सं(अनुमान टीका); पातंञ्जल योगसूत्र - १।७; व्यासभाष्य - (अनुमेवस्य तुल्य जातीयेष्वनुवृत्तो भिन्न जातीयेभ्यो व्यावृत्त: सम्बन्धो यस्तद्विषया सामान्याव - धारण प्रधानावृत्तिनुरामनम्), योग मनोविज्ञान - डा० शान्ति प्रकाश आत्रेय, अ० ८ अनुमान प्रमाण; योग मनोविज्ञान की रूपरेखा - डा० शा० प्र० आत्रेय -अ० ६ अनुमान प्रमाण; भारतीय तर्कशास्त्र - डा० शा० प्र० आत्रेय, अ० ५; साँ० का० टीका - डा० शा० प्र० आत्रेय-का० ५ टीका।

उपरान्त दूसरी बात का ज्ञान ही अनुमान हुआ। जिसके बल पर प्राय अनुमान करते है, उसे "हेतु" वा "लिंग', वा "साधन" कहते है। जिसका ज्ञान प्राप्त करते है, उसे 'साध्य' वा 'लिंगी' कहते है। जिस स्थान में लिंग द्वारा लिंगी का ज्ञान होता है, वह पक्ष कहा जाता है। लिंग लिंगी के अविनाभाव सम्बन्ध को व्याप्ति कहते है। लिंग व्याप्य होता है, लिंगी व्यापक होता है। अनुमान व्याप्य व्यापक सम्बन्ध पर आधारित है। अर्थात् लिंग लिंगी वा साधन साध्य के सम्बन्ध से प्राप्त प्रमा ज्ञान को अनुमिति ज्ञान कहते हैं। व्याप्ति सम्बन्ध के ऊपर अनुमान आधारित है। लिंग लिंगी के साथ साथ रहने को ही व्याप्ति सम्बन्ध कहते हैं। बिना व्याप्ति सम्बन्ध के अनुमान नहीं किया जा सकता। व्याप्ति दो वस्तुओं के नियत साहचर्य को कहते हैं। दो वस्तुओंका एक साथ नियत रूप से रहना ही व्याप्ति है, किन्तु अगर साहचर्य होते हुए भी नियत रूप से न हो तो वह व्याप्ति नहीं कही जा सकती। नियत रूप से सम्बन्ध न होने को ही व्यभिचार कहते हैं। व्याप्ति को अव्यभिचारित सम्बन्ध कहते हैं। मछली का जल के साथ सम्बन्ध व्यभिचारी सम्बन्ध हुआ, क्योंकि वह कभी कभी बिना जल के भी रह सकती है किन्तु धूम्र अग्नि से अलग कभी नहीं रहता। इसलिए धूम्र और अग्नि मे व्याप्ति सम्बन्ध हुआ अर्थात ऐसा कोई स्थल नहीं जहाँ धुआँ बिना आग के हो। जहा जहां धुआँ है वहां वहां अग्नि है, जैसे रसोई में। जहां जहां अग्नि नही है, वहां वहाँ धुआं भी नहीं है, जैसे तालाब में। धूम्र अग्नि के बिना नहीं रह सकता, इसे ही अविनाभाव सम्बन्ध कहते हैं। धूम्र का अग्नि के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है, इसे ही व्याप्ति कहते हैं। धूम्र व्याप्य और अग्नि व्यापक है। अतः लिंग लिंगी के साथ साथ रहने का पूर्व ज्ञान होना चाहिए तथा यह उपाधिरहित सम्बन्ध होना चाहिए। जैसे जहां जहां धूम्र है वहां वहां अग्नि भी है। यहां हर धूम्र अग्नि का साहचर्य सम्बन्ध व अविनाभाव सम्बन्ध है। किन्तु यह कहना कि जहां जहाँ आग है वहा वहाँ धुआँ है, उपाधिरहित साहचर्य सम्बन्ध नहीं हुआ क्योंकि आग बिना धुएं के भी रह सकती है। जब तक गीला ईंधन नहीं होगा, तब तक अग्नि के साथ धूम्र का सम्बन्ध नहीं होगा। अतः गीले ईंधन का संयोग उपाधि है अतः जब तक उपाधि रहित साहचर्य सम्बन्ध नहीं होगा, तब तक अनुमान प्रमाण नही कहा जा सकता तथा उसके आधार पर प्रमा ज्ञान की प्राप्ति भी नही हो सकती है।

धूम्र अग्नि के व्याप्य व्यापक सम्बन्ध के आधार पर, जो हमे पूर्व काल में रसोई आदि से हो चुका है, हम पर्वत आदि पक्ष में धूम्र हेतु के द्वारा लिंगी (साध्य) अग्नि का ज्ञान प्राप्त करते हैं। यही लिंग - लिंगी के व्याप्ति ज्ञान, और लिंग की पक्ष धर्मता पर आधारित अनुमान प्रमाण कहलाता है। पक्ष धर्मता का अर्थ है लिंग व हेतु का पक्ष में पाया जाना जैसे पर्वत पर धूम्र है। यहां पर्वत पक्ष में धूम्र लिंग मौजूद है, उसी के आधार पर पर्वत पक्ष में साध्य वा लिंगी अग्नि का अनुमान किया जाता है। इसीलिए पक्ष धर्मता का ज्ञान भी व्याप्ति ज्ञान के साथ साथ होना चाहिए।

अनुमान प्रत्यक्ष पर ही आधारित है। जब तक पूर्व में प्रत्यक्ष न हुआ हो, तब

तक अनुमान हो ही नहीं सकता जैसे धूम्र और अग्नि को रसोई में पूर्व मे देखा गया हैं, और उस प्रत्यक्ष के आधार पर ही हम जहां (अग्नि युक्त) धूम्र देखते हैं, वहीं अग्नि का अनुमान कर लेते है। इस प्रकार से अगर प्रत्यक्ष दोषयुक्त होगा तो उस पर आधारित अनुमान भी गलत होगा। प्रत्यक्ष के दोष या तो इन्द्रिय के होते हैं या विषय के या मन के, क्योंकि इन्द्रिय और विषय सन्निकर्ष से उत्पन्न भ्रम रहित ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है अन्यथा नही। यहाँ विषय–दोष इन्द्रिय - दोष तथा मनो दोष के कारण भ्रान्ति हो सकती है।

कारिका में अनुमान का लक्षण कहा है कि "तल्लिग लिंगी पूर्वकम"। यह सांख्य ने अनुमान सामान्य का लक्षण किया है न अनुमान विशेष का। लिंग शब्द का अर्थ है कि लीन अर्थात अप्रत्यक्ष वस्तु को बतलाने वाला व्यांप्यस्वरूप कार्यभूत हेतु और 'लिंगी' शब्द का अर्थ है कि 'लिंग वाला'। अर्थात कार्यभूत जो व्याप्य हेतु वह जिस अपने साध्यरूप व्यापक वस्तु का अनुमिति रूप ज्ञान कराने में लिंग अर्थात हेतु हो, वही लिंग वाला साध्य स्वरूप व्यापक वस्तु 'लिंगी' शब्द से व्यवहृत होता है। अब "लिंग लिंगी पूर्वकम्" का सम्मिलित अर्थ "व्याप्य व्यापक ज्ञान पूर्वक" अर्थात "व्याप्ति ज्ञान पूर्वक" हुआ।

अब प्रश्न यह हुआ लिंग लिंगिपूर्वकम् से परामर्श स्वरूप अनुमान रूप अर्थ की प्राप्ति तो नहीं हो रही है।

इसका उत्तर सांख्य ने दिया कि "लिंगिग्रहणंचावर्त्तनीयम्" अर्थात "लिंगलिंगि-पूर्वकम्" यहां पर 'लिंगि' पद की एकबार आवृत्ति और कर देनी चाहिए। अर्थात लिंगि पद की दो बार आवृत्ति करनी चाहिए जिससे कि दूसरी बार आवृत्त लिंगि पद से "पक्षधर्मता ज्ञान का भी ग्रहण हो जावे। अब लिंग-प्रथम लिंगि - से द्वितीय लिंगी इन सब को मिला कर अनुमानात्मक परामर्शरूप अर्थ निकल आता है कि व्याप्य व्यापक भाव ज्ञान पूर्वक जो पक्ष धर्मता ज्ञान वही अनुमान सामान्य कहलाता है। क्योंकि 'लिंग' का अर्थ व्याप्य हो गया है, 'प्रथम लिंगि' का 'व्यापक' और द्वितीय 'लिंगि' का 'पक्षधर्मता ज्ञान' अर्थ होता है। और इस व्याप्यव्यापक भाव ज्ञान पूर्वक जो पक्ष धर्मता ज्ञान रूप परामर्श का अर्थ यह होता है कि व्याप्ति ज्ञान पूर्वक जो "पक्षधर्मता ज्ञान", और इस परामर्शात्मक अनुमान को सांख्य ने भी अनुमितिरूप ज्ञान के प्रति कारण माना है। सांख्य के यहाँ "पर्वतोवन्हिमान्" यह व्यवसाय स्वरूप अनुमित्यात्मक ज्ञान को बुद्धि वृत्तिरूप माना है। और इसके अनन्तर होने वाले अनुव्यवसायात्मक अर्थात "पर्वतेवान्हिमनोमिनोमि" इस ज्ञान को पौरुषेय बोध स्वरूप माना है। उस "पर्बतोवन्हिमान्" इस अनुमिति रूप बुद्धिवृत्ति का करण सांख्य ने परामर्श को माना है, और अनुमिति रूप बुद्धि वृत्ति के पश्चात होने वाले पूर्वोक्त अनुव्यवसाय रूप पौरुषेय बोध का कारण अनुमिति रूप बुद्धि वृत्तिको स्वीकार किया है। नैयायिकों के समान साँख्य ने भी असाधारण कारण को ही करण माना है और वह कारण साँख्य मत में दो प्रकार का है - उपादान और निमित्त। नैयायिकों से स्वीकृत समवायिकारण तथा असमवायिकारण को सांख्य ने अस्वीकार कर दिया है।

को साक्षात् शब्दों में स्वीकार नहीं किया है कारण कि उनके यहां समवाय को ही किसी भी रूप में नहीं माना है। परन्तु फिर भी यह कहना हमारा गलत न होगा कि नैयायिकों का समवायिकरण और सांख्यों का उपादान कारण दोनों समान कोटि के हैं। इनमें शब्द मात्र का अन्तर है अर्थ का कोई भी अन्तर हमें प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि गुण-गुणी का तथा कार्य और कारण का प्रायः नैयायिकों के यहाँ समवाय सम्बन्ध है, सांख्य ने भी गुण गुणी में तथा कार्य कारण में अभेद होने के नाते उनका तादात्म्य सम्बन्ध माना है, इसलिए समवाय सम्बन्ध के आधार पर आधारभूत वस्तु को उपादान कारण कहते हैं। वेदान्ती लोगों ने भी समवायिकारण को उपादान कारण के रूप में ही स्वीकार किया है। अतः इन्हीं दो कारणों का अस्तित्व उनके यहां भी है। इस अंश में सांख्य और वेदान्ती समान है।

नैयायिक कहता है कि समवायिकारण और उपादानकारण में आर्थिक अन्तर तो है नहीं, हां शाब्दिक अन्तर अवश्य है, परन्तु वह अकिंचित्कर है, अर्थात शाब्दिक अन्तर किसी गणना में ही नहीं है। जितने पर्यायवाचक शब्द हैं वे सब एकार्थवाची हैं। शाब्दिक अन्तर भी यदि कोई महत्व रखता हो तो उनमे पारस्परिक भेद सिद्ध हो जाता, जैसे अग्नि और वन्हि, घट और कलस, दैत्य - दानव, मनुष्य - मानव, ये भी परस्पर भिन्न भिन्न अर्थ वाले प्रतीत होने चाहिए, क्योकि शब्दतः भिन्न भिन्न है किन्तु ऐसा नहीं है। अतः कहना होगा कि शाब्दिक अन्तर कोई अन्तर नहीं है।

पृथ्वी - जल आदि पंच महा भूतों का उपादान कारण सांख्य ने पंचतन्मात्राओं को माना है नैयायिकों ने पंच महाभूतों का समवायिकरण परमाणुओं को माना है यद्यपि तन्मात्राएं परमाणुओं से भी सूक्ष्म हैं, परन्तु अनित्य हैं अतः परमाणुओं से भिन्न हैं। इसीलिए सांख्य ने तन्मात्राओं का भी उपादान कारण अहंकार को माना है।

परन्तु नैयायिकों ने परमाणुओं को ही जगत का कारण मानकर इनका कोई कारण नहीं माना है क्योंकि वे नित्य हैं। अहंकार का उपादान कारण महत्तत्व अर्थात बुद्धि, और महत्तत्व का उपादान कारण प्रकृति है। प्रकृति का कोई भी कारण नहीं है क्योंकि वह नित्य है।

उपादान कारण से तो भिन्न हो परन्तु कारण वह अवश्य होता है उसी को सांख्य ने निमित्त कारण माना है। जैसे घट की उत्पत्ति में सहकारी कारण दण्ड निमित्तिकारण होता है। यह निमित्त कारण ठीक नैयायिकों जैसा ही है। इनमें शब्दतः एवं अर्थतः किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं है। जिन दण्ड - चक्र - आदि को नैयायिकों ने घट के प्रति निमित्त कारण माना है उन्हीं को सांख्य ने भी सांख्य ने अनुमिति के प्रति परामर्श एवं व्याप्ति ज्ञान को निमित्त कारण माना है। और नैयायिकों ने भी उसे निमित्त कारण ही स्वीकार किया है। इस प्रकार निमित्त कारण के विषय में सर्वथामतैक्य हैं।

असमवायिकारण का सांख्य ने तो क्या बल्कि वेदान्ती प्रभृति समस्त दार्शनिकों ने ही सर्वथा अनंगीकार कर दिया है। नैयायिक लोग जिस वस्तु को असमवायिकारण

मानते हैं - जैसे तागों के रूप को कपड़े के रूप के प्रति एवं कपाल के रूप में घट के रूप के प्रति असमवायिकारण मानते है अर्थात कारण के गुणों को कार्य गुणों के प्रति असमवायिकारण मानते हैं। उस विषय में सांख्य का कहना है कि हमारे यहां कार्य कारण भाव उन्हीं दो वस्तुओं का होता है जो परस्पर में अभिन्न होती हैं। जिनका आपस में अभेद (तादात्म्य) देखने में आता है। प्रकृत में कपाल रूप और घट रूप का, एवं तन्तुओं के रूप और पट के रूप का अभेद ही नहीं है। हां कपाल रूप का कपाल के साथ, और घट रूप का घट के साथ ही अभेद है अतः कपाल रूप के प्रति, और घट अपने रूप (घट रूप) के प्रति ही कारण (उपादान कारण) हो सकता है।

दूसरा विचारणीय विषय है कि नैयायिक लोग दो अवयवों के परस्पर के संयोग को भी उस संयोग से उत्पन्न होने वाले कार्य के प्रति असमवायिकारण मानते हैं, जैस दो कपालों के संयोग को घट के प्रति, एवं तागों के पारस्परिक संयोग को कपड़े के प्रति असमवायिकारण मानते हैं। उस विषय में भी सांख्य का कहना है कि दो कपालों का संयोग घट के प्रति कारण नहीं है अपितु दोनों कपाल ही घट के प्रति कारण हैं क्योंकि घट और कपालों का ही तादात्म्य देखने में आता है न कि दोनों कपालों के संयोग और घट का। अतः सांख्य कपालद्वय संयोग और कपाल का, तथा घट और कपाल का ही कार्य कारण भाव स्वीकार करता है न कि घट और कपालद्वय के संयोग का, इस दृष्टि के आधार पर ही सांख्य तथा वेदान्ती प्रभृति दार्शनिक लोग असमवायि - कारण का सर्वथा अनंगीकार करते हैं। असमवायिकारण को एकमात्र नैयायिको के अतिरिक्त अन्य किन्हीं भी दार्शनिकों ने नहीं माना है ऐसा ही हमें प्रतीत होता है।

— स्वार्थानुमान - परार्थानुमान का स्वरूप —

अनुमिति का असाधारण कारण परामर्शस्वरूप अनुमान दो प्रकार का है- स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान। स्वार्थानुमान का साधारण रूप से यही अर्थ होता है कि अपने को स्वयं होने वाली जो 'पवतोवन्हिमान्' यह अनुमिति स्वरूप बुद्धिवृत्ति इसका कारणीभूत जो अनुमान है, वह स्वार्थानुमान कहलाता है। दूसरे को होने वाली अनुमिति स्वरूप बुद्धिवृत्ति के कारणी भूत अनुमान को परार्थानुमान कहते हैं। स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान इन दोनों प्रकार के अनुमानो का अंगीकार सांख्य के यहां भी नैयायिकों के समान ही है अन्तर सिर्फ इतना ही है कि नैयायिक लोग परार्थानुमिति के प्रति (दूसरे को होने वाली अनमिति के प्रति) प्रतिज्ञा से लेकर निगमन पर्यन्त पांच वाक्यों को कारण मानते हैं। न्यायमत में पांच वाक्यों को ही परार्थानुमान माना है।[1] सांख्य ने प्रतिज्ञादि पांच वाक्यों को परार्थानुमान न स्वीकार कर प्रतिज्ञादि तीन वाक्यों को (प्रतिज्ञा - हेतु - उदाहरण अथवा उदाहरण उपनय निगमन) परार्थानुमान माना है। सांख्य परार्थानुमान में केवल तीन ही वाक्यों को मानता है वे चाहे प्रारम्भ के हों अथवा अन्त के हों। इन तीन अवयव वाक्यों के आधार पर ही सांख्य परार्थानुमिति का स्वीकार करता है।

---

[1] स्पष्टीकरण के लिए भारतीय तर्कशास्त्र — डा० शान्ति प्रकाश आत्रेय।

सांख्य ने आदि तथा अन्त के तीन वाक्यों को ही अवयव वाक्य के रूप में माना है। अब प्रश्न यह होता है कि परार्थानुमिति को उत्पन्न करने के लिए तीन प्रकार के अवयव-वाक्यों को जो सांख्य मानता है उनकी आवश्यकता ही क्या है ? क्योंकि परार्थानुमिति प्रकारान्तर से हो जाय तो क्या हानि है ?

इसका उत्तर सांख्य ने दिया कि दूसरे व्यक्ति को किसी भी विषय का अनुमितिरूप ज्ञान परार्थानुमान के ही आधार पर हो सकता है अन्य कोई भी प्रकार उसके लिए नहीं है। जब कोई भी व्यक्ति आकाश मण्डल मे छाये हुए धूम्र को देखकर कहता है कि 'को वन्हिमान्" अर्थात सर्वत्र आकाश मण्डल में व्याप्त उस धूम्र प्रदेश में वन्हि वाला प्रदेश कौन सा है ?

इसका उत्तर प्रतिज्ञावाक्य के आधार पर दिया गया कि "पर्वतों वन्हिमान्" अर्थात पर्वत अग्नि वाला है।

यहां पर फिर प्रश्न खड़ा होता है कि धूम्र तो चारों तरफ सर्वत्र व्याप्त है फिर पर्वत ही अग्नि वाला क्यों है ?

इसका उत्तर हेतु वाक्य से दिया गया कि 'धूम्रात्' अविच्छिन्न मूल वाली धूम्र रेखा का उद्‌गम स्थान पर्वत ही है अर्थात पर्वत के मध्य भाग से ही यह सामने बहुत बड़ी भारी धुएं की रेखा निकल रही है इसलिए यह पर्वत ही धूम्र वाला होने से अग्नि वाला है न कि अन्य प्रदेश।

ऐसी परिस्थिति में वह दूसरा जिज्ञासु व्यक्ति फिर प्रश्न खड़ा करता है कि वहां धूम्र है यह तो हम मानते हैं क्योंकि आंखों से धूम्र को हम देख रहे हैं, परन्तु धूम्र होने से वहां अग्नि भी अवश्य है इस आपकी बात को हम कैसे स्वीकार करे।

इसका उत्तर उदाहरण वाक्य के आधार पर यह दिया गया कि "यत्र यत्र धूम्रस्तत्र तत्र वन्हि अर्थात जहां जहा धूम्र होता है उस प्रदेश में अग्नि अवश्य होती है क्योंकि बिना अग्नि के धूम्रोद्‌गम सर्वथा असम्भव है। अत: यह पर्वत धूम्र वाला होने से अग्नि वाला अवश्य है इस प्रकार इन तीन अवयव वाक्य स्वरूप परार्थानुमान के आधार पर दूसरे जिज्ञासु व्यक्ति को भी अनुमेय वस्तु अग्नि वगैरह का अनुमिति रूप प्रमा ज्ञान कराया जा सकता है।

सांख्य कहता है कि केवल आखिरी के तीन अवयवों को भी लिया जा सकता है। उनके आधार पर भी दूसरे जिज्ञासु व्यक्ति को अनुमिति (परार्थानुमिति) रूप प्रमा ज्ञान हो सकता है। क्योंकि जब सर्वप्रथम उसे उदाहरण वाक्य के द्वारा यह बतलाया जायगा कि "यो यो धूम्रवान् स स वन्हिमान्" जो जो प्रदेश धूम्र वाले हैं वे सब अग्नि वाले भी अवश्य हैं। इसके पश्चात "वन्हिव्याप्यधूम्रवानयम्" वन्हि का व्याप्य जो धूम्र उस धूम्र वाला यह पर्वत है। इस उपनय वाक्य के द्वारा वन्हिव्याप्य धूम्र का जब कि निश्चय हो जाता हैं तो उसके बाद व्याप्य के निश्चय से उसके व्यापक वन्हि का निश्चय निगमन वाक्य के आधार पर हो जाता है कि "वन्हिव्याप्यधूम्रवत्वात् पर्वतो वन्हिमान्" वन्हि के व्याप्याधूम्र वाला होने से पर्वत अग्नि वाला है। इसके अनन्तर उस जिज्ञासु व्यक्ति को

"पर्वतो वन्हिमान्" "पर्वत अग्नि वाला है" यह विशुद्ध अनुमिति रूप प्रमा ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार सांख्य ने परार्थानुमितिरूप प्रमा ज्ञान दूसरे जिज्ञासु व्यक्ति को कराने के लिए तीन ही अवयवों को स्वीकार किया है।

कुछ दार्शनिक लोगों का कहना है कि तीन अवयव वाक्यों की भी क्या आवश्यकता है जबकि दो (प्रतिज्ञा और हेतु) अवयव वाक्यों को मानकर ही अनुमिति-रूप प्रमा ज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है। क्योंकि "को वन्हिमान्" इस जिज्ञासा का निवर्त्तक वाक्य "पर्वतो वन्हिमान्" यह प्रतिज्ञा वाक्य हो जाता है। उसके बाद भी यदि जानने की इच्छा हुई कि "कुत:" अर्थात पर्वत अग्नि वाला कैसे है? तब इस जिज्ञासा के दूर करने के लिए कह दिया कि "धूम्रात्" धूम्र वाला होने से। धूम्र वाला होने के कारण पर्वत अग्नि वाला है। जब इन प्रतिज्ञा और हेतु रूप दो अवयव वाक्यों के आधार पर ही अनुमिति रूप ज्ञान हो जाता है तब तीन अवयव वाक्य मानने की अथवा पाँच अवयव मानने की क्या आवश्यकता है? इन्हीं अवयव वाक्यों को न्याय भी कहते हैं।

कतिपय प्राचीन दार्शनिक लोग दस अवयव मानते हैं — १.-प्रतिज्ञा, २.-हेतु, ३.--उदाहरण, ४.--उपनय, ५.--निगमन, ६.- जिज्ञासा. ७.--संशय, ८.--प्रयोजन, ९.--शक्य प्राप्ति, १०.--तथा संशय व्युदास। इस प्रकार अवयवों की संख्या में पर्याप्त न्युना-धिक्य हुआ, परार्थानुमिति को न्याय अवयव वाक्य साध्य सभी दार्शनिक लोग मानते है- इनमें किसी भी दार्शनिक को आपत्ति नहीं है।

अब यहाँ पर प्रश्न यह होता है कि अनुमान तो बहुत से हैं। जैसे पूर्वत्व, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट इन तीनो प्रकार के अनुमानों में कौन स्वार्थानुमान है और कौन परार्थानु-मान है यह निश्चय कैसे हो सकता है?

इसका उत्तर यह दिया कि जहाँ स्वयं अपने ही लिए अनेमाता पुरुष पक्ष (धर्मी) के अन्दर साध्य के अनुमापक हेतु को देखकर उस अनुमापक हेतु के द्वारा साध्य का निश्चय करना है, उस साध्य निश्चयात्मक बुद्धि वृत्तिरूप अनुमिति के असाधारण कारण परामर्श को स्वार्थानुमान कहते हैं। वह साध्यनिश्चयात्मक बुद्धिवृत्तिरूप अनुमिति (अनुमान) चाहे पूर्ववत् हो, या शेषवत् हो, अथवा सामान्यतयो-दृष्ट हो कोई भी क्यों न हो अपनी संशयनिवृत्ति के लिए किये जाने पर वे सब अनुमान स्वार्थानुमान ही कहलायेंगे। जहां ये सब अनुमान (अनुमिति) किसी दूसरे व्यक्ति की संशयनिवृत्ति रूप प्रयोजन के लिए किए जाते है, उन सब के कारणी भूत प्रतिज्ञा से लेकर उदाहरण पर्यन्त अथवा उदाहरण से लेकर निगमन पर्यन्त तीन अवयव वाक्यों को परार्थानुमान कहते हैं। फलित अर्थ यह निकला कि परामर्श का नाम स्वार्थानुमान है। और प्रारम्भ के तीन अथवा अन्त के तीन अवयव वाक्यों को परार्थानुमान कहते है।

यहाँ पर भी यह प्रश्न खड़ा होता है अनुमिति सर्वत्र प्रमा नहीं होती है, क्योंकि वाष्प (भाप) को धुआं समझ कर उससे होने वाली "पर्वतो वन्हिमान्-धूम्रात्" यह अनुमिति प्रमा कैसे मानी जा सकती है? और जब अनुमिति ही प्रमा नहीं होगी तो अनुमिति का असाधारण कारण परामर्श अनुमान प्रमाण ही कैसे हो सकेगा?

इसका उत्तर यह दिया गया कि कोई एक या दो अनुमिति यदि अप्रमा हो भी गयीं तो क्या इससे सभी अनुमिति अप्रमा हो जायेंगी। जैसे कि २०, २५ या ३० व्यक्तियों के परिवार के अन्दर यदि एक या दो आदमी बदमाश हो जाये तो क्या इससे सारा परिवार ही बदमाश हो जायेगा। अतः जो भी अनुमिति प्रमा होगी उसी अनुमितिरूप प्रमा का करण परामर्श अनुमान प्रमाण बन जायगा, इससे अनुमान का प्रमाण्य भंग होना सर्वथा असम्भव है।

अनुमान के भेद

(१) वीत (२) अवीत।

यह अनुमान सामान्य रूप से दो प्रकार का है - वीत और अवीत। जहां धूम्र होता है वहां अग्नि होती है इस अन्वय सहचार ज्ञान से जायमान साध्यसामानाधिकरण रूप अन्वयव्याप्ति ज्ञान के आधार पर प्रवृत्त होने वाले अनुमान को "वीत" अनुमान कहते हैं। और जहां धूम्र नहीं होता वहां अग्नि भी नहीं होती इस व्यतिरेक सहचार ज्ञान से होने वाली व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान के आधार पर उत्पन्न होने वाले अनुमान को "अवीत" अनुमान कहते हैं। इसी अवीत अनुमान को शेषवत् अनुमान तथा परिशेष अनुमान भी कहते हैं। न्याय भाष्य में इसका निर्वचन इस प्रकार किया गया है कि "प्रसक्तप्रतिषेधे अन्यत्राऽप्रसंगात शिष्यमाणे सम्प्रत्यः परिशेषः" अर्थात जहां जिस वस्तु की प्रसक्ति की सम्भावना हो वहां तो निषेध कर दिया जाय, और सम्भावना से अतिरिक्त अलक्ष्य स्थान में जिस वस्तु की प्रसक्ति ही न होने पावे तब आखीर में छटाई होते होते बचे हुए अधिकरणी भूत पक्षात्मक वस्तु में जो किसी वस्तु की सिद्धि करना, इसे शेषवत् अथवा परिशेषानुमान कहते हैं। जैसे शब्द को जब आकाश का गुण सिद्ध करने जायेंगे तो उस समय सर्व प्रथम यह प्रतिज्ञा आवश्यक है कि "शब्दो द्रव्यसमवेतः" शब्द किसी द्रव्य में अवश्य रहता है।

अब प्रश्न यह होता है कि शब्द किसी द्रव्य में तो अवश्य रहता है परन्तु किस द्रव्य में रहता है।

इसका उत्तर दिया कि शब्द स्पर्श वाले जो पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये चार द्रव्य हैं, इनका गुण नहीं है, क्योंकि शब्द का अग्नि संयोग से परिवर्तन नहीं होता है, और इन चार के रूप, रस आदि विशेष गुण अग्नि संयोग से परिवर्तित हो जाते हैं। शब्द यदि इन चार द्रव्यों के अन्दर रहने वाला विशेषगुण होता तो वह भी अग्नि के संयोग होने से बदल जाता परन्तु शब्द अग्नि संयोग से बदलने वाला नहीं है इसलिए इन चार द्रव्यों का वह गुण भी नहीं है। उदाहरण के लिए एक आम को ले लिया जाय, आम के साथ सूर्य का संयोग धीरे धीरे हो कर आम के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इन चारों को बदल देता है। पहले आम हरा है तो बाद में पीला हो जाता है पहिले खट्टा होता है तो बाद में मीठा हो जाता है। इत्यादि रूप से सब बदल जाता है।

अब प्रश्न यह होता है कि शब्द को दिशा - काल एवं मन इन तीन द्रव्यों में रहने वाला ही गुण क्यों न मान लिया जाय ?

इसका उत्तर दिया कि शब्द इन तीन द्रव्यों में रहने वाला भी गुण नहीं है। कारण कि शब्द विशेष गुण है, और इन तीन द्रव्यों में कोई भी विशेष गुण नहीं रहता है। अब प्रश्न यह होता है कि फिर शब्द को बुद्धि का ही गुण क्यों न मान लिया जाय ? इसका उत्तर मिला कि बुद्धि का विशेष गुण भी शब्द नहीं है। क्योंकि शब्द का बाह्य इन्द्रियों से ग्रहण होता है। यदि बुद्धि का गुण शब्द होता तो आभ्यान्तर इन्द्रिय मन से ही शब्द का प्रत्यक्ष होना चाहिए था क्योंकि बुद्धि के सब गुण ज्ञान, इच्छा, सुख, दुख आदि आभ्यान्तर इन्द्रिय ग्राह्य हैं। इस शेषवत् अनुमान का शेषोव्यतिरेक व्याप्तिस्तद्वत् अनुमान केवल व्यतिरेकीत्यथ: इस व्युत्पत्ति के आधार पर केवल व्यतिरेकी कहा है। जिसका हम अच्छी प्रकार प्रतिपादन केवल व्यतिरेकी अनुमान के निरूपण के अवसर पर करेंगे। अत: अब इस प्रकार के विकल्पों की छटाई होते होते शब्द का आश्रय नवम् द्रव्य आकाश ही अवशिष्ट रह जाता है। जिससे कि उसी के आश्रित तथा उसी का गुण शब्द सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार से उपर्युक्त कथन के अनुसार इस अनुमान के द्वारा जहां जिस वस्तु की सम्भावना हो सकती है, उन सब स्थलों पर निषेध हो जाने पर छांटते छांटते बचे हुए स्थल पर ही उसका होना सिद्ध हो जाता है।

शेषवत् अनुमान को कुछ दार्शनिको ने दूसरे प्रकार से भी कहा है। उनके अनुसार शेषवत् अनुमान उसे भी कह सकते हैं जिसमें कार्य से कारण का अनुमान किया जाये। जैसे नदी में अत्यधिक मटीले जल को देखकर ऊपर हुई वर्षा का अनुमान। प्रात: उठने पर आंगन के भीगे हुए होने पर रात्री की वर्षा का अनुमान।

वीत अनुमान के भेद

(१) पूर्ववत् (२) सामान्यतोदृष्ट।

वीत अनुमान दो प्रकार का होता है, पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट। पूर्वतत् का अर्थ है कि पूर्व काल में जैसा अनुभव हो चुका हो ठीक उसी के समान उसके आधार पर होने वाला अनुमान ही पूर्वतत् अनुमान है। जैसे कि हम पहिले रसोई घर में धूम्र को जब जब देखते हैं तो अग्नि को भी साथ ही साथ देखते हैं, इससे हमें उन दोनों के बीच नियत साहचर्य अर्थात् नियम से साथ साथ में रहना रूप जो व्याप्ति—उस व्याप्ति रूप सम्बन्ध का निश्चय हो जाता है। इसके अतिरिक्त फिर जब हम पर्वत आदि स्थानों में केवल उस अग्नि वाले धूम्र को देख पाते हैं तो वहां उस धूम्र से अग्नि का अनुमान कर लेते हैं। वही धूम्र से होने वाला अग्नि का अनुमान "पूर्ववत्" अनुमान है। यह लिंग - लिंगी के साहचर्य सम्बन्ध पर आधारित पक्ष में लिंग के द्वारा लिंगी का ज्ञान प्रदान करता है।

अथवा पूर्ववत् का यह भी अर्थ हो सकता है कि — पूर्वम् = अन्वयव्याप्ति:, तद्वत् = उस वाला। सब के पूर्व में होने वाली जो अन्वयव्याप्ति, उस अन्वयव्याप्तिमात्र के ज्ञान से होने वाला जो अनुमान (केवलान्वयी अनुमान) उसी अनुमान को पूर्ववत् अनुमान कहते हैं। जैसे घट पट अभिधेय (कथन के योग्य) है अर्थात् घट का मैं अच्छी प्रकार निर्वचन कर सकता हूं, अर्थात् घट को मैं अच्छी प्रकार बतला सकता हूं कि यही

घट है। क्योंकि यह प्रमेय (यथार्थ ज्ञान का विषय) जिस वस्तु का जिस व्यक्ति को प्रमा ज्ञान नहीं होता है उस वस्तु का वह व्यक्ति किसी भी रूप से निर्वचन नहीं कर सकता है कि यह वही वस्तु है, इत्यादि।

पूर्ववत् अनुमान को दूसरे प्रकार से भी समझाया जा सकता है। पूर्ववत् का अर्थ है पूर्व के समान. कार्य से कारण पूर्व होता है। इसीलिए कुछ विद्वानो के अनुसार कारण से कार्य का अनुमान करना पूर्ववत् अनुमान कहलाता है जैसे आकाश में मेघों को देखकर वृष्टि का अनुमान कर लेना।

सामान्यतोदृष्ट

जिन विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण तथा पूर्ववत् अनुमान के द्वारा नही होता, उन अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान सामान्यतोदृष्ट अनुमान के द्वारा होता है। यह अनुमान वहां होता है जहां पर इसका विषय ऐसा सामान्य पदार्थ होता है, जिसका विशिष्ट पहले न देखा गया हो। इसमे लिंग लिंगी के व्याप्ति सम्बन्ध का प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु उन पदार्थों के साथ हेतु की समानता होती है, जिनका साध्य (लिंगी) के साथ निश्चित तथा नियत सम्बन्ध हैं। इसमें न तो कारणात्मक लिंग के द्वारा ही साध्य का निश्चय होता है और न कार्यात्मक लिंग के द्वारा ही अपितु सामान्य रूप से ही निश्चय होता है।

जहां साध्य और साधन ये दोनों कार्य कारण भाव से युक्त हो कर न देखे जावें वही सामान्यतोदृष्ट अनुमान होता है। जैसे "तन्मात्रा: - अभिमानवद् - द्रव्याहंकारो-पादानकानि - अभिमानकार्यत्वेसतिद्रव्यत्वात् यन्नैवंतन्नैवं यथा पूरुषा:" अर्थात् तन्मात्राओं का अभिमान वाला द्रव्य अहंकार उपादान कारण है क्योंकि वे अभिमान से जायमान हैं तथा द्रव्य हैं। जो अभिमान से जायमान एवं द्रव्य नहीं हैं उसका अभिमान वाला द्रव्य (अहंकार) कारण भी नहीं है जैसे सांख्य का पुरुष। इसी प्रकार पशु के सींगों को देखकर जो पशुत्व का अनुमान पशु में हम करते हैं वह भी सामान्यतोदृष्ट अनुमान ही है। अनुमान का प्रकार यह है कि — "अय - पशु: - शृंगित्वात्" अर्थात् यह पशु है - सींगों वाला होने से। यहां पर शृंगित्व (सींग) रूप लिंग के द्वारा पशुत्व का अनुमान किया जाता है। पशुत्व रूप साध्य का और शृंगित्वरूप लिंग का आपस में कोई कार्य कारण भाव नहीं है। इसी प्रकार "रूपादिविज्ञानं - सकरणकम् - क्रियात्वात् छिदिक्रियावत्"। जिन जिन क्रियावों के विषय में हम अनुभव करते हैं तो उनके विषय में हमारा अनुभव इसी लक्ष्य पर पहुँचा कि उन उन क्रियावों का कोई करण अवश्य है। जैसे कि छेदनात्मक क्रिया (काटना) को सम्पन्न करने के लिए जिस समय कोई व्यक्ति प्रयत्नशील होता है उस समय सबसे पहला प्रयत्न उसका छेदन क्रिया को सम्पन्न करने वाले करण कुठार के लिए ही होता है, क्योंकि वह देखता है कि बिना कुठार (कुल्हाड़े) के छेदन नही हो सकता है। इसी प्रकार रूप का ज्ञान -- शब्द का ज्ञान -- गन्ध का ज्ञान तथा स्पर्श का ज्ञान ये सब विभिन्न ज्ञानात्मिका क्रियाएं भी किसी साधन भूत प्रथक प्रथक करण से सम्पन्न होने वाली है जो इनका साधन भूत करण है उसी को हम इन्द्रिय कहते हैं क्योंकि इन्द्रियात्मक साधन के अतिरिक्त किसी दूसरे

साधन से इसे ज्ञानात्मक क्रिया को सम्पन्न होते हुए हम नहीं देख पाते हैं। अतः हमारा चरम दृष्टिकोण इसी लक्ष्य पर पहुँचता है कि इन समस्त ज्ञान रूप क्रियावों का साधन भूत करण इन्द्रियाँ ही हैं। उन ज्ञान स्वरूप क्रियावों को सम्पन्न करने वाली इन्द्रियां भी अलग अलग हैं। जैसे — चाक्षुष - ज्ञान रूप क्रिया का करण चक्षु इन्द्रिय, और शब्द ज्ञानात्मक क्रिया का सम्पादक करण श्रोत्र इन्द्रिय, इसी रूप से सब करण स्वरूप इन्द्रियों को प्रथक प्रथक ज्ञान स्वरूप क्रियाओं का साधनभूत करण जानना चाहिए। इस सामान्यतोदृष्ट अनुमान का विशेष महत्व ईश्वर कृष्ण ने "सामान्यतस्तुदृष्टात् अतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्" इस छठी कारिका के द्वारा वर्णित किया है। और उस महत्व की विशेषता का संवर्धन षडदर्शनों के आचार्य श्री वाचस्पति मिश्र ने अपनी तत्वकौमुदी टीका में किया है "तु शब्दः प्रत्यक्ष - पूर्ववद्भय विशिनष्टि" इत्यादि ग्रन्थ से इस प्रकार उस छठी कारिका में तु शब्द से प्रत्यक्ष और पूर्ववत् अनुमान की व्यावृत्ति करते हुए शेषवत् अनुमान से भी ऊंचा महत्व सामान्यतोदृष्ट अनुमान को दिया गया है। हम उसके आधार पर यह कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष तथा तीनों प्रकार के अनुमान इन चारों में सर्वोत्तम महत्व शाली प्रमाण सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। वैसे तो अपने अपने क्षेत्र के अन्दर सब प्रमाणों का अलग अलग महत्व है यह एक दूसरी बात है।

सामान्यतोदृष्ट अनुमान की दूसरी व्याख्या अन्वयव्याप्ति - व्यतिरेक व्याप्ति के आधार पर की है। इन्हीं दोनों व्याप्तियों के आधार पर इसे अन्वयव्यतिरेकी अनुमान कहा है, जिसका स्पष्टीकरण हम अन्वयव्यतिरेकी अनुमान के निरूपणावसर पर करेंगे।

केवलान्वयी अनुमान

पहिले कहे गए तीन प्रकार के अनुमानों में पूर्ववत् अनुमान को केवलान्वयी अनुमान माना है। वैसे तो पूर्ववत् के प्रायः सर्वत्र दो अर्थ किए जाते हैं, जिन दोनों अर्थों को हम भी पूर्ववत् अनुमान के प्रकरण में पहिले दिखला चुके हैं। उन दो प्रकार के अर्थों में एक अर्थ यह भी है कि "पूर्वम् = अन्वयव्याप्ति : तद्वत् केवलान्वयीत्यर्थः" अर्थात् पूर्व नाम है अन्वयव्याप्ति का कारण कि दोनों प्रकार की व्याप्तियों में पहिले अन्वयव्याप्ति का ही निरूपण किया गया है। उस अन्वयव्याप्ति वाले पूर्ववत् अनुमान को ही केवलान्वयी अनुमान कहते हैं। अभिप्राय यह है कि साध्य और हेतु का व्याप्तिरूप सम्बन्ध माना है वह व्याप्ति दो प्रकार की मानी गयी है — अन्वयव्याप्ति तथा व्यतिरेक व्याप्ति। साध्य की अन्वय व्याप्ति से विशिष्ट जो हेतु - उस हेतु वाले अनुमान को केवलान्वयी अनुमान कहते हैं। और साध्य व्यतिरेकी व्याप्ति जहां हेतु में रहे - उस हेतु वाले अनुमान को केवलव्यतिरेकी अनुमान कहते हैं। एवं साध्य की अन्वयव्याप्ति तथा व्यतिरेक व्याप्ति इन दोनों व्याप्तियों से विषिष्ट हेतु वाले अनुमान को अन्वय - व्यतिरेकी अनुमान कहते है।

केवलान्वयी अनुमान का उदाहरण दिया गया है कि "घटोऽभिधेयः ज्ञेयत्वात्" घट-अभिधेय (अभिधान = कथन के योग्य) है - ज्ञेय (ज्ञान का विषय) होने से।

जो वस्तु हमारे ज्ञान का विषय है वह कथन के योग्य अवश्य है अर्थात जिस वस्तु को हम अच्छी प्रकार जानते है उस वस्तु के विषय में अवश्य हम कह सकते हैं कि हम उस वस्तु को इस प्रकार से जानते हैं इत्यादि। अब यहां अभिधेयत्वरूप साध्य की तथा ज्ञेयत्वरूप हेतु की व्यतिरेक व्याप्ति ही नहीं बनती है, क्योंकि व्यतिरेक नाम अभाव का है अर्थात् अभावों की जो व्याप्ति यह व्यतिरेकव्याप्ति शब्द का अर्थ होता है, सो यहां प्रकृत में अभिधेयत्वरूप साध्य का कहीं अभाव नहीं मिलता है क्योंकि समस्त जगत् एवं जगदन्तर्गत समस्त वस्तुएं जबकि अभिधेय हैं तब तो उन सबमें अभिधेयत्व धर्म ही रहता है न कि उसका अभाव। इसी प्रकार ज्ञेयत्व का भी मामला है। ज्ञेयत्व नाम ज्ञान विषयता है, सो यह ज्ञान विषयता रूप ज्ञेयत्व भी सर्वत्र रहता है क्योंकि संसार में कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिसे कोई न जानता हो, इस प्रकार सभी पदार्थ ज्ञान के विषय हैं अत: उन सब मे ज्ञान विषयता रूप ज्ञेयत्व धर्म मौजूद होने के नाते उसका अभाव भी कहीं नहीं मिलता है। इसीलिए घटोऽभिधेय: प्रमेयत्वात् यहां पर भी अभिधेयत्वरूप साध्य की ज्ञेयत्वरूप हेतु में व्यतिरेक व्याप्ति नहीं कही जा सकती है।

केवलव्यतिरेकी अनुमान

पूर्ववत् वगैरह तीन प्रकार के अनुमानों में शेषवत् अनुमान को केवल व्यतिरेकी बतलाया है। शेषवत् शब्द का अर्थ है - शेष: — व्यतिरेकव्याप्ति: तद्वत्, केवल व्यतिरेकीत्यर्थ: शेष नाम व्यतिरेक व्याप्ति का है — उस व्यतिरेक व्याप्ति वाले अनुमान को केवल व्यतिरेकी अनुमान कहते है। अन्वयव्याप्ति के शेष (पश्चात् = बाद) में व्यतिरेक व्याप्ति का निरूपण किया गया है इस लिए व्यतिरेक व्याप्ति को 'शेष' शब्द से कहा गया है। इसका उदाहरण है —"आत्मा अपरिणामी निर्धर्मकत्वात्" आत्मा (सांख्य का पुरुष) - अपरिणामी (उत्पन्न न होने वाला) है - निर्धर्मक होने से। यहां पर अपरिणामित्व रूप साध्य की तथा निर्धर्मकत्व रूप हेतु की नियत साहचर्य अर्थात् नियम से साथ में रहना रूप अन्वयव्याप्ति किसी भी दृष्टान्त में देखने में नहीं आती है अत: यहां पर साध्य और हेतु के अभाव को ही व्याप्ति कहना होगा, अर्थात् जहाँ पर अपरिणामित्वरूप साध्य नहीं है वहाँ पर निर्धर्मकत्वरूप हेतु भी नहीं है जैसे प्रकृति एवं महत्तत्व आदि मे। इसी साध्य और हेतु के अभाव की व्याप्ति को व्यतिरेक व्याप्ति कहते हैं। व्यतिरेक व्याप्ति का लक्षण स्वरूप है कि — साध्य के अभाव का व्यापक जो हेतु का अभाव - उसका प्रतियोगी होना जैसे पर्वतोवन्हिमान् धूम्रात् यहाँ पर वन्हिरूप साध्य के अभाव का अर्थात् वन्ह्यभाव का व्यापक धूम्ररूप हेतु का अभाव है। क्योंकि जहां वन्हि नही है वहाँ पर धूम्र भी नहीं रहता है। जैसे तालाब मे, और उस धूम्र हेतु के अभाव का प्रतियोगी स्वयं धूम्र है। प्रतियोगी नाम सम्बन्धित होने का है। सो धूम्राभाव से धूम्र ही स्वयं सम्बन्धित है जैसे घट अपने अभाव घटभाव से, पट अपने अभाव पटाभाव से स्वयं ही सम्बन्धित रहते हैं। इसी प्रकार प्रकृत अनुमान में भी अपरिणामित्वरूप साध्य के अभाव का व्यापक निर्धर्मकत्वरूपसाध्य का अभाव है और उस निर्धर्मकत्व के अभाव का प्रतियोगी स्वयं निर्धर्मकत्व है। इस प्रकार "आत्मा अपरिणामी निर्धर्मकत्वात्" यह शेषवत् अनुमान केवल व्यतिरेकी अनुमान कहा जाता है।

कहीं शेषवत् इसका शेष: कार्य - तद्वत् इस व्याख्या के आधार पर शेषवत् का अर्थ कार्यलिंगक भी किया जाता है अर्थात् जहां पर कार्य रूप लिंग के द्वारा कारण का अनुमान होता है वह शेषवत् अनुमान कहलाता है। ऐसा कुछ आचार्यों का मत है। जैसे नदी के मलिन एवं वेगयुक्त जल प्रवाह को देखकर ऊपर हुई वृष्टि का अनुमान होता है। उस अनुमान में प्रवाह कार्य क्षेत्र है और वृष्टि कारण है।

अन्वयव्यतिरेकी अनुमान

पूर्वोक्त तीन प्रकार के अनुमानों में से सामान्यतोदृष्ट अनुमान को अन्वयव्यतिरेकी अनुमान कहा है। अन्वयव्यतिरेकी अनुमान उसे कहते हैं जो कि अनुमान अन्वयव्याप्ति एवं व्यतिरेकव्याप्ति इन दोनों व्याप्तियों से विशिष्ट हेतु वाला हो। जैसे "पर्वतो वन्हिमान् धूम्रात्" यहां पर धूम्र हेतु वन्हिरूप साध्य की नियम से साथ में रहना रूप जो अन्वयव्याप्ति उससे भी विशिष्ट है रसोई घर में आदि स्थानों में और जहां वन्हि नहीं है वहां धूम्र भी नहीं है इस व्यतिरेक व्याप्ति से विशिष्ट है धूम्र तालाब आदि स्थानों में। इस प्रकाह अन्वयव्याप्ति तथा व्यतिरेकी व्याप्ति दोनों व्याप्तियों से विशिष्ट होने के नाते। धूम्र हेतु वाला सामान्यतोदृष्ट अनुमान अन्वयव्यतिरेकी अनुमान कहलाता है।

वीत तथा अवीत अनुमान की दूसरी व्याख्या

कतिपय विद्वानों का ऐसा भी कहना है कि अनुमान दो प्रकार का है — वीत तथा अवीत। उनमें वीत अनुमान दो प्रकार का है — दृष्ट स्वलक्षणसामान्य विषय और अदृष्ट स्वलक्षण सामान्य विषय। जिस वस्तु के स्वरूप का सहचार ज्ञान काल में ही कहीं पर प्रत्यक्ष किया जा चुका हो उसे 'दृष्ट स्वलक्षण सामान्य विषय' अनुमान कहते हैं। 'दृष्ट स्वलक्षणसामान्य विषय इस शब्द का अर्थ होता है कि विषय = जिस विषय (वस्तु) का। सामान्य = साधारण रूप से। स्वलक्षण = स्वरूप। दृष्ट = देखा जा चुका हो। जैसे वन्हि का स्वरूप रसोई घर में और वन्हि के सहचार ज्ञान काल में बहुत बार देखा जा चुका है, इसीलिए ये धूम्र के द्वारा होने वाला अग्नि का अनुमान (पर्वतो-वन्हिमान्) "दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषय" कहलाता है। इसी अनुमान को कुछ आचार्य लोगों के मतानुसार पूर्ववत् अनुमान कहते हैं। इस प्रकार पूर्ववत् अनुमान और दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषय अनुमान इन दोनों में शाब्दिक अन्तर है जो कि कल्पना जाल के आधार पर ही एकमात्र खड़ा किया गया है।

अदृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयानुमान

दूसरा वीत अनुमान अदृष्ट स्वलक्षणसामान्यविषय कहलाता है। जैसे पृथ्वी आदि पांच महाभूत गन्ध आदि पांच सूक्ष्म तन्मात्राओं से उत्पन्न होने वाले हैं:— अपने अस्तित्व से सम्पन्न होते हुए प्रत्यक्ष के विषय होने से यह अनुमान अदृष्टस्वलक्षणसामान्यविषया-नुमान है। इसी अनुमान के आधार पर सूक्ष्मतन्मात्राओं की सिद्धि होती है। इसी अनुमान को कुछ आचार्य लोग सामान्योतदृष्ट अनुमान कहते हैं।

अवीतानुमान शेषवत् अनुमान कहलाता है। उस शेषवत् अनुमान को इस व्याख्या के अनुसार केवल व्यतिरेकी अनुमान ही कहा जा सकता है न कि कार्यलिंगक अनुमान।

(१) वह गधा है— (प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि वह कान वाला है— (हेतु)

इस स्थल पर हेतु दोषपूर्ण है, क्योंकि हेतु कान का साध्य गधे के साथ ही सम्बन्ध नहीं है। उसका गधे के साथ ऐकान्तिक सम्बन्ध न होकर अन्य पशुओं के साथ भी संबन्ध है ऐसा होने से वह अनैकान्तिक हो गया। इसी हेत्वाभास को सव्यभिचार हेत्वाभास कहते हैं। इसी प्रकार अगर हम कहें कि शब्द नित्य है क्योंकि हम उसे छू नहीं सकते, तो यहा पर हेतुक कुछ अन्य पदार्थों के साथ व्यतिरेक सम्बन्ध बन जाता है। जैसे मेज़-कुर्सी, किताबादि छुई जा सकती हैं इसलिए नित्य नहीं हैं। और आत्मा का भी स्पर्श नहीं किया जा सकता, जो नित्य है। यह अन्वय का उदाहरण हो जाता है। किन्तु इसके विपरीत उदाहरण भी हमको प्राप्त होते हैं, जैसे ज्ञान का स्पर्श न होने पर भी वह अनित्य हैं। यहाँ पर हेतु 'न स्पर्श होना' साध्य के साथ तो रहता है, किन्तु साध्य के अभाव मे भी रहता है, इसलिए वह अनैकान्तिक अर्थात् व्यभिचारी हेत्वाभास हुआ।

सव्यभिचार हेत्वाभास के प्रकार

सव्यभिचार हेत्वाभास तीन प्रकार का होता है:—

(अ) साधारण।

(ब) असाधारण।

(स) अनुपसंहारी।

(अ) साधारण

जो हेतु साध्य वस्तु के अभाव के स्थान में भी उपस्थित रहे, उसे साधारण हेत्वाभास कहते हैं जो हेतु सपक्ष और विपक्ष दोनों स्थलों पर पाया जाता है अर्थात् साध्य के उपस्थित रहने पर साध्य के साथ रहता है, तथा साध्य के अभाव में भी विद्यमान रहता है; जैसे उदाहरण के तौर से — "पर्वतो अग्निमान् प्रमेयत्वात्" इति "प्रमेयत्वस्य वह्नि-अभाववति ह्रदे विद्यमानत्वात्" अर्थात् पर्वत पर अग्नि है, क्योंकि वह ज्ञान का विषय है। अग्नि के अभाव में भी प्रमेयत्व (ज्ञान का विषय) जो लिंग है रहता है, जैसे तालाब में। ज्ञान के विषय तो अग्नि वाले तथा अग्निरहित दोनों ही हैं। अर्थात् रसोई एंजिन आदि। जहाँ अग्नि रहती है वे भी ज्ञान के विषय हैं, और अग्निरहित जलाशय आदि भी ज्ञान के विषय हैं — फिर इस प्रमेयत्व के आधार पर हम साध्य अग्नि की उपस्थिति का किस प्रकार से अनुमान कर सकते हैं जबकि उसकी अनुपस्थिति का भी अनुमान साथ ही साथ हो सकता है। अतः यह अयथार्थ हेतु हुआ; क्योंकि यहां हेतु साध्य के अभाव में भी पाया जाता है, अर्थात् सपक्ष और विपक्ष दोनों में हेतु पाया जाता है, इसलिए इसको साधारण व्यभिचारी हेत्वाभास कहते हैं। इसे एक और उदाहरण के द्वारा समझाया जाता है —

(१) रणजीत ठाकुर है। (प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि जनेऊ पहने है। (हेतु)

जनेऊ जो यहाँ हेतु है, जिसके द्वारा ठाकुरत्व की सिद्धि की जा रही है, उसे

केवल ठाकुर ही ग्रहण नहीं करते, बल्कि ब्राह्मण तथा वैश्य भी करते हैं। इसलिए हेतु के व्यभिचारी होने से साध्य की निश्चित रूप से सिद्धि नहीं होती।

(ब) असाधारण

यह साधारणहेतु का विपरीत है, जो कि सपक्ष और विपक्ष किसी में नहीं रहता, यह केवल पक्ष मे ही रहता है। यथार्थ हेतु का विपक्ष में न रहना तो आवश्यक गुण है, किन्तु इस सव्यभिचार हेतु का दोष यह है कि इसका सपक्ष मे भी पूर्ण रूप से अभाव रहता है। सपक्ष का उदाहरण इसमे नहीं प्राप्त होता; क्योंकि यह असाधारण हेतु के पक्ष के अतिरिक्त किसी मे नहीं रहता। उदाहरण के रूप में शब्द नित्य है, क्योंकि सुना जाता है। इस दृष्टान्त में सुने जाने का गुण केवल शब्द मे ही है; अन्य किसी मे नहीं है। इसलिए सपक्ष का कोई भी उदाहरण प्राप्त नहीं होता जो जो भी नित्य है — जैसे आत्मा आदि उनमे सुने जाने का गुण नहीं है, इसलिए नित्यत्व और सुने जाने के गुण का व्याप्ति सम्बन्ध नहीं होता। क्योंकि शब्द का तो दृष्टान्त दिया ही नहीं जा सकता। उसमें ही तो साध्य को सिद्ध करना है। इसी प्रकार से अन्य उदाहरणों के द्वारा भी समझाया जा सकता है। पृथ्वी नित्य है, क्योंकि गन्ध वाली है। गन्ध वाली होने के हेतु उसमे नित्यत्व सिद्ध किया जाता है। इसका उदाहरण हमे कोई और नहीं मिलता, क्योंकि अन्य जितने नित्य पदार्थ है वे कोई गन्ध वाले नहीं है। गन्ध तो केवल पृथ्वी का ही गुण है। पक्ष के सिवाय हेतु के कहीं अन्य स्थल पर न होने के कारण हमको सपक्ष का कोई उदाहरण प्राप्त नहीं होता। इसलिए इसे असाधारण सव्यभिचार हेत्वाभास कहते है।

(स) अनुपसंहारी

अनुपसंहारी हेतु उसे कहते हैं जो अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार के दृष्टान्तो से रहित हो।

उदाहरण के रूप मे —

(१) सभी वस्तुये अनित्य हैं— (प्रतिज्ञा)

(२) प्रमेय होने के कारण— (हेतु)

सभी वस्तुओ मे सब कुछ आ जाने से हमको सपक्ष और विपक्ष का कोई उदाहरण प्राप्त नहीं होता। जब पक्ष में ही सब वस्तुये आ जाती है, पक्ष मे भिन्न दृष्टान्त कैसे प्राप्त हो सकता है? जब पक्ष से भिन्न स्थान कोई है ही नहीं तो फिर हेतु और साध्य का पक्ष से भिन्न स्थान पर एक साथ रहना कैसे दिखलाया जा सकता है। पक्ष से भिन्न तो कोई उदाहरण मिलता ही नहीं। पक्ष स्वयं अपना उदाहरण नहीं हो सकता। इस तरह से हमको अन्वय का दृष्टान्त प्राप्त नहीं होता। ठीक इसी प्रकार से हम यह भी नहीं कह सकते कि जो प्रमेय नहीं है, वे अनित्य भी नहीं है। अर्थात् व्यतिरेक व्याप्ति का भी दृष्टान्त नहीं प्राप्त होता। इसे ही अनुपसंहारी सव्यभिचार हेत्वाभास कहते है।

(२) विरुद्ध

विरुद्ध—साध्य के विपरीत को सिद्ध करने वाले हेतु को विरुद्ध हेतु समझना चाहिये। अर्थात् जिस हेतु के द्वारा साध्य की असिद्धि होती हो, उसे विरुद्ध हेतु कहते हैं।

जिस हेतु के साथ उसके साध्य का अभाव हो, वह हेतु विरुद्ध हेतु कहलाता है। जिस हेतु के द्वारा साध्य के विपरीत सिद्ध हो, उसे विरुद्ध कहते हैं।

उदाहरण

(१) शब्द नित्य है—(प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि वह कृत है—(हेतु)

इसमें कृत (उत्पन्न) होना हेतु है, और नित्य होना साध्य है। उत्पन्न होना जो कि यहाँ पर हेतु है, वह कभी नित्यत्व के साथ नहीं रहता, बल्कि उसके विरोधी अनित्यत्व के ही साथ निश्चित रूप मे रहता है। जो पैदा होता हैं उसका नाश निश्चित है इस प्रकार का अयथार्थ हेतु सपक्ष में नहीं रहता, किन्तु उसके विपरीत विपक्ष मे रहता है। विरुद्ध हेतु साधारण सव्यभिचार हेतु से भिन्न है, क्योंकि विरुद्ध हेतु सपक्ष मे कभी नहीं रहता, किन्तु साधारण सव्यभिचार हेतु हमेशा सपक्ष में भी रहता है। असाधारण सव्यभिचार हेतु से विरुद्ध इसीलिये भिन्न है, कि यह विपक्ष में भी रहता है, किन्तु असाधारण सव्यभिचार हेतु नहीं रहता। सव्यभिचार हेतु मे तो केवल यही दोष है, कि वह साध्य के साथ भी तथा अन्यत्र भी पाया जाता है। किन्तु विरुद्ध हेतु स्वयं में विरोधी होता है, जैसे अगर हम यह कहें कि "देवदत्त विद्वान है, क्योंकि वह मनुष्य है" इसमें पूर्णतया शुद्ध व्याप्ति सम्बन्ध नहीं बैठता, अर्थात् विद्वत्ता और मनुष्यता का पूर्णरूप से सही-सही व्याप्ति-सम्बन्ध नही बैठता। यहाँ पर हेतु में दोष होने से सव्यभिचार हेतु हुआ। किन्तु अगर हम यह कहें कि जल शीतल है क्योंकि अग्नि पर रखा था, यह विरुद्ध हेतु है। इसी प्रकार से फूलचन्द चलने वाला है क्योंकि उसमें चलने की सामर्थ्य नहीं है।

(३) सत्प्रतिपक्ष (प्रकरण सम)

सत्प्रतिपक्षः—इसमें साध्य को सिद्ध करने वाले हेतु के साथ-साथ ही साध्य के अभाव को भी सिद्ध करने वाला दूसरा हेतु होता है, जिसकी प्रबलता व शक्ति किसी भी प्रकार से कम नहीं होती। यहाँ साध्य को सिद्ध करने वाला हेतु सत्प्रतिपक्ष हेतु कहलाता है। इसमे दोनों हेतु समान शक्ति वाले होते हैं। अर्थात् पक्ष के समान बल वाला प्रतिपक्ष भी विद्यमान रहता है, जो साध्य के अभाव को सिद्ध करता है। विरुद्ध हेतु साध्य का अभाव ही सिद्ध करता है। सत्प्रतिपक्ष हेतु साध्य के भाव को तो सिद्ध करता ही है किन्तु उसके साथ साथ दूसरा समान बल वाला, साध्य के अभाव को सिद्ध करने वाला, हेतु भी वर्तमान रहता है। जहाँ एक विशिष्ट हेतु वाले अनुमान के निगमन के विपरीत सिद्ध करने वाला अनुमान हो सकता है, उस स्थल पर पहला हेतु सत्प्रतिपक्ष कहा जाता है। ये दोनों ही अनुमान समान बल वाले होते हैं। जिस हेतु के मुकाबले में एक दूसरा ऐसा हेतु विद्यमान हो जो कि उसके साध्य के अभाव को सिद्ध करता है, उसे सत्प्रतिपक्ष कहते है। उदाहरणार्थ—

(१) शब्द नित्य है—(प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि सुनने योग्य है जैसे शब्दत्व—(हेत)

इसके विपरीत दूसरा अनुमान यह हो सकता है, शब्द अनित्य है, क्योंकि उत्पन्न

हुआ है जैसे घट, पट आदि।

इस प्रकार से जहाँ हम दूसरा इस प्रकार का हेतु पाते है जो पहले हेतु के द्वारा प्राप्त निष्कर्ष के विपरीत निष्कर्ष प्रदान करता है वहाँ पहले हेतु को हम सत्प्रतिपक्ष हेतु कहते है।

सत्प्रतिपक्ष हेतु और विरुद्ध हेतु म अन्तर है। जिस साध्य की सिद्धि हम करने जा रहे हैं, विरुद्ध हेतु उसके विपरीत को सिद्ध करता है। सत्प्रतिपक्ष हेतु मे अन्य हेतु के द्वारा साध्य के विपरीत अनुमान किया जाता है।

(४) असिद्ध हेतु

असिद्ध हेतु—परामर्श में असिद्धि दोष होने से असिद्ध हेतु होता है। "अर्थात् व्याप्तिसहित पक्षधर्मता का ज्ञान ही परामर्श है।

परामर्श के अंग

परामर्श को सम्पन्न करने वाले तीन प्रकार होते हैं:—

(१) पक्षता।

(२) पक्षधर्मता।

(३) व्याप्ति।

इन तीनों में से किसी की भी असिद्धि के कारण असिद्ध हेत्वाभास होता है।

असिद्ध हेत्वाभास

असिद्ध हेत्वाभास तीन प्रकार का होता है:—

(१) आश्रयासिद्ध।

(२) स्वरूपासिद्ध।

(३) व्याप्यत्वासिद्ध।

(१) आश्रयासिद्ध

आश्रयासिद्ध:—"यस्य हेतोराश्रयो नावगम्यते स: आश्रयासिद्ध:" अर्थात् जिस हेतु का आश्रय ही सिद्ध न हो, वहाँ आश्रयासिद्ध हेत्वाभास होता है। जिस अनुमान में पक्ष का अस्तित्व ही असिद्ध होता है, वह आश्रयासिद्ध कहलाता है। हेतु के द्वारा पक्ष में ही साध्य की स्थापना की जाती है। पक्ष में ही हेतु रहता है, और पक्ष में ही साध्य का विद्यमान रहना सिद्ध किया जाता है। अगर स्वयं पक्ष ही का अस्तित्व न हो तो फिर हेतु का ज्ञान वहाँ कैसा? और हेतु के ज्ञान के होने पर भी साध्य की सिद्धि नही हो सकती क्योंकि पक्ष है ही नहीं। यथार्थ हेतु को पक्ष में आवश्यक रूप से रहना चाहिये। हेतु के आवश्यक रूप से पक्ष में रहने को ही पक्षधर्मता कहते हैं, किन्तु जब स्वयं पक्ष ही सर्वथा असत् है तो फिर पक्षधर्मता ही कैसे हो सकती है। अर्थात् हेतु पक्ष के न रहने पर कैसे रहेगा? पक्ष की असत्ता, यथार्थ निष्कर्ष प्रदान करने वाले यथार्थ हेतु से रहित होगी। इस प्रकार से इसका अर्थ यह होता है कि हेतु के आश्रय पक्ष ही की जब सत्ता नहीं है, तो यथार्थ हेतु की भी सम्भावना नही है।

उदाहरण रूप से:—

(१) आकाश-कुसुम सुगन्ध वाला है—(प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि वह फूल है— (हेतु)

(३) जो-जो पृथ्वी का फूल होता है, वह-वह सुगन्धित होता है। जैसे गुलाब आदि--(उदाहरण)

यहां हेतु है फूल और पक्ष है आकाश कुसुम। जब आकाश कुसुम का होना ही असम्भव है, तब फ़िर साध्य और साधन का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। आकाश कुसुम तो होता ही नहीं। अत: जिस हेतु के द्वारा यहाँ साध्य की सिद्धि करने जा रहे हैं, वह हेतु आश्रयसिद्ध है क्योंकि यहाँ पर पक्ष, आश्रय, ही असिद्ध है, तो उसमें हेतु का रहना पूर्णतया काल्पनिक हुआ। ऐसे हेतु को आश्रयसिद्ध कहते हैं।

(२) स्वरूपासिद्ध

स्वरूपासिद्ध—"यस्य हेतोराश्रयो नावगम्यते स: स्वरूपासिद्ध:" अर्थात् जहाँ पक्ष में हेतु का अभाव होता है, वहां स्वरूपासिद्ध होता है। स्वरूपासिद्ध हेतु तब होता है, जबकि हेतु इस प्रकार का हो जो पक्ष में नहीं रह सकता। यह पक्ष में हेतु के नहीं पाये जाने पर ही होता है। पक्ष के यथार्थ होते हुए भी हेतु का स्वरूप ऐसा हो जो उसमें नहीं रह सके। यहाँ पक्षधर्मता में दोष आ जाता है। पक्षधर्मता में हेतु पक्ष में रहता है, किन्तु यहाँ पक्ष में हेतु का रहना असम्भव है।

उदाहरण के रूप से:—

(१) तालाब अग्निमय है— (प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि वह धूम्रमय है— (हेतु)

(३) जहां-जहां धूम्र होता है, वहां-वहाँ अग्नि होती है, जैसे रसोई घरमें। (उदाहरण)

इस दृष्टान्त में हेतु 'धूम्र' के द्वारा हमें निगमन नहीं प्राप्त हो सकता, क्योंकि धूम्र स्वय ही तालाब में विद्यमान नहीं रहता। हेतु स्वयं यथार्थ होते हुए भी अगर वह पक्ष में मौजूद नहीं हैं, तो साध्य की स्थापना नहीं कर सकता। अत: साध्य की स्थापना के लिए पक्षधर्मत्व अति आवश्यक है।

(३) व्याप्यत्वासिद्ध

व्याप्यत्वासिद्ध—उपाधि युक्त हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध कहते है। व्याप्ति सम्बन्ध के बिना अनुमान नहीं किया जा सकता अर्थात् व्याप्ति अनुमान का आवश्यक अंग है। जहां पर व्याप्ति सम्बन्ध दोषपूर्ण होगा, वहां पर अनुमान भी दोष पूर्ण हो जायेगा। ऐसे अनुमान को व्याप्यत्वासिद्ध कहते हैं।

व्याप्यत्वासिद्ध के भेद

व्याप्ति में दो प्रकार के दोष उपस्थित हो सकते हैं—

(१) व्याप्तिसिद्धि के प्रमाण का अभाव।

(२) व्याप्ति का उपाधि युक्त होना।

(१) व्याप्तिसिद्धि के प्रमाण का अभाव

व्याप्तिसिद्धि के प्रमाण का अभाव—व्याप्ति अनुमान का एक आवश्यक और निश्चित अंग है। व्याप्ति की सिद्धि के लिए दृष्टान्त अति आवश्यक है। दृष्टान्त के द्वारा ही हम व्याप्ति को व्यक्त करते हैं। दृष्टान्त ऐसा होना चाहिए जो वादी और

प्रतिवादी दोनों को मान्य हो। जैसे:—

(१) पर्वत अग्निमान् है—(प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि धूमयुक्त है— (हेतु)

(३) जो-जो धूम्रयुक्त होता है, वह वह अग्नि वाला होता है, जैसे रसोईघर—उदाहरण

इस अनुमान में ऐसा दृष्टान्त दिया गया है जिसको वादी और प्रतिवादी दोनों ही मानते है, क्योंकि रसोई घर मे धूम्र और अग्नि के साथ साथ रहने को कोई भी अस्वीकार नही कर सकता। ऐसे ही दृष्टान्तों पर व्याप्ति को आधारित होना चाहिये। इसके विपरीत अगर कोई इस प्रकार का दृष्टान्त न प्राप्त हो, जिसके द्वारा व्याप्ति निश्चित की जा सके, तो ऐसी व्याप्ति पर किया गया अनुमान भी असिद्ध ही रहेगा।

उदाहरणार्थ:—

(१) शब्द क्षणिक है—(प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि वह सत्तावान है—(हेतु)

(३) जो जो सत्तावान हैं, वे सब क्षणिक हैं, जैसे बादल—(उदाहरण)

यहां पर सत्तावान् और क्षणिकता को सिद्ध करने वाला दृष्टान्त ठीक नही है, क्योंकि उसमें इन दोनों का रहना सबको मान्य नहीं हो सकता। कोई भी सत्तावान् वस्तु क्षणिक नहीं है, क्योंकि वे एक क्षण से अधिक रहने वाली होती है। इस स्थल पर वादी तथा प्रतिवादी दोनों को मान्य दृष्टान्त प्राप्त न होने से व्याप्ति दोषपूर्ण हो जाती है, इसलिये यहां पर व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास होता है।

उपाधियुक्त हेतु के कारण

उपाधियुक्त हेतु के कारण: जिस अनुमान में उपाधियुक्त व्याप्ति होती है; उस अनुमान में व्याप्यत्वासिद्धि हेत्वाभास हो जाता है। उपाधि उसे कहते हैं जो साध्य का व्यापक हो, किन्तु साधन का व्यापक न हो। साध्य के अधिकरण में रहने वाले अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी होना, साध्य का व्यापक होना है, और साधन के साथ उपाधि का अभाव होना, साधन का अव्यापक होना कहा जाता है। उदाहरण के रूप से -

(१) पर्वत धूमवान् है—(प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि अग्नि वाला है - (हेतु)

(३) जो-जो अग्निवान् होते हैं, वे धूमवान होते हैं, जैसे रसोईघर—(उदाहरण)

अग्नि के साथ-साथ सर्वथा धूम नहीं रहता, यह तो केवल भीगी लकड़ी के संयोग से ही रहता है। जब तक भीगी लकड़ी नहीं होगी, तब तक अग्नि धूमवान नहीं हो सकती। अत: अग्नि धूम को सिद्ध करने के लिये भीगी लकड़ी के संयोग की आवश्यकता होती है; इसे ही उपाधि कहते हैं, जिसका धूम के साथ आवश्यक रूप से रहना होता है, लेकिन अग्नि के साथ इसका आवश्यक रूप से रहना नहीं होता इसलिये जहां-जहां आग है, वहीं-वहीं धूम है यह व्याप्ति उपाधियुक्त व्याप्ति हुई। ऐसी उपाधियुक्त व्याप्ति के द्वारा साध्य की सिद्धि नही हो सकती। ऐसे स्थल पर जहां पर सोपाधिक हेतु होता है, वह अनुमान दोषपूर्ण हो जाता है। ऐसे स्थल पर व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास होता है। इसका दूसरा उदाहरण भी नीचे दिया जाता है:—

(१) नारायण सिंह विद्वान है (प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि वह काशी मे रहता है—(हेतु)

(३) जो-जो काशी में रहते हैं, सो-सो विद्वान होते हैं, जैसे गोपीनाथ कविराज—(उदाहरण)

यहाँ भी व्याप्ति उपाधि युक्त है; क्योंकि काशी में रहने मात्र से कोई विद्वान नहीं हो जाता। जो परिश्रम से अध्ययन करेगा वही विद्वान होगा। यहाँ "परिश्रम से अध्ययन करना" रूप उपाधि युक्त व्याप्ति है। अत: यहाँ पर व्याप्यात्वासिद्ध हेत्वाभास हुआ।

बाधित हेतु

बाधित हेतु—जहाँ पक्ष में साध्य की सिद्धि अन्य प्रबल प्रमाण के द्वारा बाधित हो जाती हो वह हेतु बाधित हेतु कहलाता है। अर्थात् पक्ष में साध्य के न होते हुये भी जब हेतु के द्वारा साध्य की सिद्धि की जाती है, तो ऐसे स्थल में बाधित हेत्वाभास होता हैं। यहाँ पर अनुमान के द्वारा पक्ष में ऐसे साध्य की स्थापना की जाती है, जो प्रबल प्रमाणों के द्वारा पक्ष में बाधित है। ऐसे स्थलों से अविद्यमान वस्तु की सत्ता की स्थापना करने के कारण हेतु दोषपूर्ण होता है; जिसके फलस्वरूप वह अनुमान भी दोष पूर्ण हो जाता है, जैसे—

(१) अग्नि शीतल है—(प्रतिज्ञा)

इस प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिये जो भी हेतु दिया जायेगा, वही हेत दूषित हो जायेगा, क्योकि अग्नि पक्ष में शीतलता साध्य का होना, प्रबल प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। प्रत्यक्ष के द्वारा सभी यह जानते हैं कि अग्नि उष्ण होती है और वह कभी भी शीतल नहीं होती। अनुमान तो उस स्थल पर किया जाता है, जहाँ पर प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञान नही प्राप्त होता, किन्तु जब प्रत्यक्ष के द्वारा हमको यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो रहा है, और फिर हम उसको अनुमान के द्वारा विपरीत सिद्ध करना चाहें, तो वहाँ पर बाधित हेत्वाभास होगा।

बाधित हेतु, सत्प्रतिपक्ष से भिन्न है, क्योंकि बाधित हेत्वाभास में तो साध्य अन्य प्रबल प्रमाण के द्वारा असिद्ध होता है, किन्तु सत्प्रतिपक्ष में इस प्रकार से साध्य का कोई बाध नहीं होता, किन्तु उसमें दूसरे समान बल वाले हेतु के द्वारा साध्य को विपरीत सिद्ध किया जाता है; किन्तु जब उन दोनों में से कोई अधिक बल वाला हो जाता है तो उस स्थल पर सत्प्रतिपक्ष हेतु बाधित हेत्वाभास में परिवर्तित हो जाता है। (क्रमश:)

पाश्चात्य दर्शन के ऐतिहासिक निष्कर्ष

नारायण विष्णु जोशी

अभी तक हमने प्राचीन ग्रीक दर्शन की मीमांसा की। उससे हमने यह निष्कर्ष निकाला कि जो सत्ता दर्शनशास्त्र का मूलाधार है उसकी उपलब्धि ज्ञान की किसी भी पद्धति से कदापि नहीं हो सकती। उसके लिये हमें सत्तात्मक दृष्टिकोण को ही अपनाना होगा।

पाश्चात्य दर्शन के आधुनिक युग में हम इसी सत्य की निषेधात्मक प्रतीति होती है। जिन आधुनिक दार्शनिकों ने सत्तात्मक दृष्टिकोण से मुंह मोड़कर ज्ञानात्मक दृष्टिकोण को ही दर्शनशास्त्र का आधार माना है उन्हें "एक एवं अनेक" की समस्या को हल करने में पद पद पर अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। जब बार-बार अनेक मनीषी दार्शनिकों के प्रयास इस प्रकार बेकार साबित हुये तब पुनश्च समकालीन दार्शनिकों को प्राचीन ग्रीक दर्शन में अभिव्यक्त सत्तात्मक दृष्टिकोण का ही अवलंब करना पड़ा। यदि इस बात को हम ध्यान में रक्खें तो न केवल पाश्चात्यों के आधुनिक एवं समकालीन दर्शन के इतिहास को समझने में ही हमें सुविधा होगी किन्तु उसके द्वारा समस्त दार्शनिक चिन्ता का, फ़िर वह कहीं की भी हो, यथार्थ मूल्यांकन करने में बड़ी सहायता पहुँचेगी

आइये, अब हम प्राचीन ग्रीक युग से आधुनिक युग की ओर मुड़ें। वैसे तो इस युग का प्रारम्भ बारहवीं शताब्दी के अंत से ही, जबकि ज्ञान का पुनर्जागरण (Renaissance) हुआ तब से माना जाता है, तथापि उसका सम्पूर्ण आविर्भाव फ्रेंच दार्शनिक रेने देकार्त (१५९६—१६५०) के विचार-मंथन में मिलता है।

देकार्त के समय दर्शन की परिस्थिति बहुत ही अनुकम्पनीय थी। ख्रिश्चन धर्म की प्रस्थापना से ही दर्शन को धर्म का दास बना दिया गया था। ख्रिश्चन धर्म के आधार ग्रन्थ बायबल में कुछ ऐसी मान्यतायें निहित थीं कि जिनका प्रत्यक्ष अनुभव से सुतरां सम्बन्ध नहीं था। यह बात सत्य है कि बायबल की आध्यात्मिक जीवन विषयक मान्य-

[गवेषणा वर्ष २ अंक १ पेज ६६-७२ से आगे]

ताएं अपनी अपनी सूक्ष्मता एवं अतींद्रियता के कारण बहुत लम्बे अरसे तक अछूती रहीं तथापि बाह्य जगत विषयक मान्यताओं की स्थिति बारहवीं शताब्दी के लगभग वैज्ञानिक अनुसन्धानो के कारण डाँवाडोल हो गई। उदाहरणार्थ बायबल के अनुसार पृथ्वी एक स्थिर गोल है और बाकी सारे गोल, जिनमें सूर्य का भी अंतर्भाव किया गया है, चल है और वे पृथ्वी के आसपास घूमते हैं। सर्वप्रथम, कोपर्निकस् ने खगोलों की गति का समीचीन अध्ययन कर यह बता दिया कि बायबल की यह धारणा सरासर गलत है। बायबल की एक और मान्यता थी। वह यह कि परमेश्वर ने समस्त बिश्व की उत्पत्ति केवल एक सप्ताह के अंदर ही की। जब लिओनार्डो डा० विंची ने आल्पस पर्वत की अधित्यकाओं पर गहरी बर्फ की तह के नीचे गड़े हुये कुछ अज्ञात पशुओं के कंकाल देखे तब उसने इस धारणा को भी गलत साबित कर यह बताया कि जीव सृष्टि की उत्पत्ति और विकास क्रमशः हुआ है और उसके लिये करोड़ों वर्ष लगे होंगे। आगे चलकर डार्विन ने अपने विकासवाद नामक सिद्धांत द्वारा लिओनार्डो की बात को अनेक अकाट्य प्रमाण देकर निःसदिग्ध सत्य का रूप दे दिया। इस प्रकार ज्यों ज्यों बायबल में ग्रथित स्थापनाओं का दिवालियापन साबित होने लगा त्यों त्यों उसकी सत्यता के विषय में लोगों के मन में दुविधा होने लगी। वे सोचने लगे कि धर्मग्रन्थ सत्य का आधार नहीं माने जा सकते। सत्य की संप्राप्ति के लिये विशेषतः वैज्ञानिक पद्धति का ही अवलब करना नितान्त आवश्यक है।

देकार्त ने जब यह जाना तब उसको धार्मिक अंधश्रद्धा से अभिभूत तत्कालीन तत्वज्ञान पर तरस आने लगा। जो तत्वज्ञान अंधा हो उससे हमारे मन को भला कैसे सन्तोष हो सकता है ? तत्वज्ञान तो निःसदिग्ध, विशद और सुस्पष्ट होना चाहिये। देकार्त के अनुसार, इस प्रकार के ज्ञान का आदर्श हमें यूक्लीड की भूमिति में मिलता है। कुछ ऐसी मूलभूत परिकल्पनाओं से जोकि निःसंदिग्ध, विशद एवं सुस्पष्ट हों हम तर्क की निगमन प्रक्रिया (Deductive reasoning) के द्वारा ऐसी अन्य परिकल्पनाओं को ढूंढ़ सकते है जोकि उनमें अंतर्हित हों तथा जिनके सत्य के विषय में हमें कोई सन्देह नहीं हो सकता। अपने सत्यों की निःसंदिग्धता के हेतु तत्वज्ञान को भी भूमिति की इसी पद्धति का अवलम्ब करना नितान्त आवश्यक है। अपने तत्वज्ञान विषयक चिंतनों में देकार्त ने यही उचित समझा कि तत्वज्ञान की पद्धति वही हैं जो कि भूमिति की है। (Discourse on method Pt. II) भूमिति की पद्धति को अमल में लाने के लिये हमें चार बातें ध्यान में रखनी होंगी:—

१. हम कदापि ऐसी बात पर विश्वास न करें जोकि विशद, सुस्पष्ट एवं सर्व संशयों के परे न हो अपने विचारों को हमें किसी पूर्व ग्रह एवं गलत धारणाओं से दूषित नहीं होने देना चाहिये।

२. किसी भी समस्या को हल करने के लिये जहाँ तक हो सके उसको विभिन्न अंगों में बाँटकर विश्लेषण करना चाहिये।

३. हमें अपने विचारों की गतिविधि पर इस प्रकार नियन्त्रण करना चाहिये कि सरल से सरल विषयों से प्रारम्भ कर हम क्रमशः जटिल की ओर बढ़ते चले जायें। इसी

प्रक्रिया के दौरान् में हमें अपने विचारों में इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित कर देना चाहिये कि पूर्ववर्ती विचार का दूसरा अनुवर्त्ती बन जाय।

४. अंत में अपनी विचार कक्षा के अदर हमें निःशेषरूप से सारे विषयों का अंतर्भाव कर देना चाहिये। (वही)

अपनी पद्धति के इस स्पष्टीकरण से देकार्ते के मन का भाव एकदम प्रकट हो जाता है। यदि दर्शन की समस्या को हल करने के लिये भूमिति की पद्धति ही का आश्रय लेना पड़े तो दर्शन भी ज्ञानात्मक दृष्टिकोण के अंदर समाविष्ट हो जाता है। इस का यही अर्थ है कि सत्ता ज्ञान की अनुगामिनी है। दर्शन में ज्ञानमीमांसा के प्राबल्य से क्या दुष्परिणाम होते हैं उन्हें अब हम भलीभांति जानते है। हमें अब केवल यही देखना है कि देकार्ते के दर्शन में उनका प्रादुर्भाव कैसे हुआ।

भूमिति की पद्धति के अनुसार डेकार्ते अपने अनुभव के प्रत्येक विषय को संदेह की दृष्टि से देखता है। किसे मालूम कि जो वस्तु मुझे सत्य प्रतीत हो रही हा वह आभास-मात्र ही हो? क्या स्वप्न में हम जिन दृश्यों को देखते हैं वे प्रत्यक्ष देखे हुये दृश्यों से किसी प्रकार कम होते हैं? तो फ़िर प्रत्यक्ष पर ही हमें क्यों अधिक विश्वास रखना चाहिये? देकार्ते के अनुसार, न केवल संवेद्य विषय ही संदेहात्मक है किन्तु भौतिक विज्ञान, ज्योतिष, आयुर्वेदादि विज्ञानों की स्थापनाएं भी कम संदेहात्मक नहीं हैं। यहाँ तक कि गणित शास्त्र भी इस सर्वव्यापी संदेह से अछूना नहीं रह सकता।

तब फिर क्या रह जाता हैं? यदि अनुभव का प्रत्येक विषय संदेहग्रस्त है तो इस का यही अर्थ हुआ कि सत्य है ही नही। ठीक यहीं डूबते हुए को जिस प्रकार तिनके का सहारा मिल जाय उस प्रकार देकार्ते को एक विशद एवं सुस्पष्ट सत्य की अनुभूति हुई। यह सत्य कौन सा है? इस विषय में देकार्ते कहता है कि यदि यह मान लिया जाय कि हमारे अनुभव के समस्त विषय संदेहात्मक हैं तो क्या जो संदेहकर्ता है वह भी संदेहात्मक है? नहीं। कदापि नहीं। मैं सोचता हूँ अतः मैं हूं। (Cogito ergo sum) संदेह करने वाले का अस्तित्व संदेहातीत है।

संदेह के उफनते हुये सागर में यह स्थापना ही वह दृढ़ चट्टान है जो कि देकार्ते के अनुसार तत्वज्ञान का अडिग आधार बनाई जा सकती है। इस स्थापना को मूलाधार मानकर हम उससे संलग्न अथवा संनिहित अन्य स्थापनाओं की ओर बढ़ सकते है। इस विषय में देकार्ते का ही अनुगमन करना उचित होगा।

यदि हम मानलें कि "मैं सोचता हूं अतः मैं हूँ" यह एक विशद एवं सुस्पष्ट विधान है अतः स्वयं प्रकाश सत्य है तो उस पर विचार करने पर यह पता चलेगा कि उसमें का "सोचने वाला मैं" एक परिमित शक्तिवाला द्रव्य है। जिसे हम अपना अहं मानते हैं वह देकार्ते के अनुसार हमारे विचार, भावना तथा इच्छाशक्ति की तह मे एकात्म आध्यात्मिक अधिष्ठान अथवा द्रव्य (Spiritual substance) के रूप में विद्यमान है। किन्तु उसकी शक्ति परिमित होती है। अतः स्वाभाविकतः हमारे मनमें यह विचार पैदा होता है कि आखिरकार इस अहं का कारण क्या है? परिमित होने के कारण यह अहं स्वयंभू तो निश्चित नहीं है? तो फिर इसका उत्पत्ति कारण निश्चित एक ऐसी

अपरिमित ईश्वरीय शक्ति होनी चाहिये जो स्वयंभू हो, परिपूर्ण हो, दोषरहित हो। यह विचार देकार्ते की पहली स्थापना से जुड़ा है। अत: वह भी उसीके अनुसार नितान्त सुस्पष्ट एवं स्वयं प्रकाश सत्य माना जा सकता है।

देकार्ते की दूसरी स्थापना को ईश्वर का अस्तित्व विषयक प्रमाण (Ontological proof) माना गया है। उसकी आधार भूत कल्पना यह है कि यदि कोई विचार सुस्पष्ट तथा तर्क की दृष्टि से आवश्यक हो तो उस विचार के अनुरूप अस्तित्व का होना अनिवार्य है। उदाहरणार्थं, भूमिति में जब हम यह सिद्ध करते है कि किसी त्रिभुज के तीन कोण मिलकर दो समकोण के बराबर होते है तब हम भले ही इस बात का प्रत्यक्ष से मिलान न करें तो भी उसकी सत्यता के विषय में हमारे मन में कोई सदेह नहीं होता। ठीक उसी तरह जब ईश्वर विषयक कल्पना तर्कसंगत हो गई तो उसके अस्तित्व के विषय में भी हमें कोई सदेह नहीं होना चाहिये।

(Discourse on Method, Pt. IV)

अब यदि हम यह मान ले कि ईश्वर अपरिमित शक्ति से सम्पन्न परिपूर्ण तथा स्वयभू आध्यात्मिक अधिष्ठान हैं तो उससे एक और तर्कसगत अनुमान निकाला जा सकता है। यदि ईश्वर परिपूर्ण है और यदि वह मेरी आत्मा का उत्पत्ति कारण है तो निश्चित ही वह मेरे शरीर से साथ साथ ही समस्त बाह्य जड़ जगत् का भी उत्पत्ति कारण माना जा सकता है। यह सच है कि प्रारम्भ में देकार्ते ने बाह्य जगत् को मिथ्या माना था। कि मानव की प्रज्ञा समूचे सत्य का आकलन करने में असमर्थ होती है। अत: उसके अज्ञान के कारण कई बातें अन्ततोगत्वा झूठी साबित होती हैं। किन्तु चूंकि परमेश्वर की प्रज्ञा परिपूर्ण होने के नाते अज्ञान से अभिभूत नहीं है अत: उसमें सत्य का सम्पूर्णरूप से आविभाव होता है पुन: हम भले ही बाह्य जगत् के विषय में भ्रांतिमूलक धारणा बना लें किन्तु यह तर्क कि जिस ईश्वर ने इसे बनाया वह केवल हमे धोखा देने के लिए ही बनाया परमेश्वर की कल्पना से सुसंगत नहीं है ईश्वर परकारुणिक एवं दयामय है। उसके मनमें परिमित आत्माओं को धोखा देने की इच्छा का होना सर्वथा अकल्पनीय है। इस प्रकार ईश्वर की परिकल्पना के आधार पर देकार्ते बाह्य जगत् के अस्तित्व को मान लेता है।

इस प्रकार देकार्ते ने हमारे सामने तीन सत्य प्रस्थापित किये; १. परिमित आत्मा; २. अपरिमित शक्ति सम्पन्न एवं परिपूर्ण परमेश्वर; तथा ३. परिमित जड़ जगत्।

देकार्ते के दर्शन का मूल्यांकन :— जिन तीन दार्शनिक सत्यों की देकार्ते ने प्रस्थापना की है उनका यथार्थ रूप जानने के लिए उनकी अरिस्टॉटल द्वारा प्रस्तुत किये गये व्यक्तित्व के चार कारणों से तुलना करना अवश्यक है। हम देख चुके हैं कि व्यक्तित्व की व्याख्या करने के लिए अरिस्टॉटल ने चार कारणों की ओर हमारा ध्यान खींचा था। वे कारण हैं (१) उपादान कारण; (२) परिकल्पना कारण; (३) पर्यवसान कारण तथा (४) उत्पत्ति कारण। देकार्ते के तीन सत्य यानी परिमित जड़ जगत्, परिमित आत्मा एवं अपरिमित परिपूर्ण परमेश्वर अपने वास्तविक रूप में क्रमश: अरिस्टॉटल के उपादान कारण, परिकल्पना कारण एवं पर्यवसान कारण के ही भिन्न पर्याय हैं। उनमें केवल यही भेद है कि अरिस्टॉटल के तीन कारण एक दूसरे

नहीं किये जा सकते क्योंकि वे ज्ञान की क्रिया में अन्तर्हित विशेष (Particular) एवं सामान्य (Universal) के ही समान हैं। सामान्य का अस्तित्व विशेष से पृथक नहीं माना जा सकता। विशेष का सम्यक् आकलन करने के लिए ही हम सामान्य का उपयोग करते है। जब कोई अपनी उंगली से बताकर यह पूछता है; वह क्या है ? तब मैं उत्तर देता हूँ; वह टेबिल है। इस उत्तर से यदि प्रश्नकर्त्ता का समाधान हो जाय तो उसका अर्थ यही हुआ कि मैंने उसके द्वारा निर्दिष्ट विशेष में सामान्य परिकल्पना का समन्वय कर दिया और इस प्रकार उसको विशेष यथार्थ का ज्ञान कराने में सहायता पहुंचाई। यद्यपि यह सच है कि प्रश्न कर्त्ता ने विशेष की ओर ही इन्गित किया था और मैंने अपने उत्तर में सामान्य की ओर संकेत किया हो तब भी हम दोनों के सामने स्थित सवेद्य वस्तु मे विशेष और सामान्य एकत्रित ही समन्वित होते हैं।

जो बात उपादान एवं परिकल्पना कारणों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में कही जा सकती है वही इन दो कारणों का पर्यवसान कारण से जो सम्बन्ध है उसके विषय मे भी चरितार्थ है। परिकल्पना की सामान्यता में अथवा व्याप्ति में एक प्रकार का श्रेणीक्रम होता है। यथा, टेबल से फर्नीचर अधिक व्यापक है, फर्नीचर से जड़वस्तु अधिक व्यापक, जड वस्तु से वस्तु अधिक व्यापक है। यदि हम इसी क्रम के अनुसार आगे बढ़ते चले जायें तो अंत में हम ऐसी परिकल्पना तक पहुँच जायेंगे कि जो अपनी व्यापकता में अन्यतम होगी। यही अंतिम परिकल्पना अरिस्टॉटल का पर्यवसान कारण के द्वारा हम अपने अनुभव में सुव्यवस्था ला सकते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि उपादान, परिकल्पना एवं पर्यवसान कारणों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुत: अरिस्टॉटल ने इसी बात पर काफी जोर दिया था। किन्तु देकार्ते ने ठीक इसी बात को नज़रन्दाज़ कर दिया। ज्ञान में जो विशेष, सामान्य एवं अंतिम परिकल्पना एकत्र मिल जाते है उनके सम्बन्धों का विच्छेद कर देकार्ते ने उनमें जबरदस्त खाई निर्माण कर दी। देकार्ते के अनुसार, परिमित आत्मा का परिमित बाह्य जड़ता से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। यह मानते हुए कि वास्तविक अनुभव में शरीर एवं आत्मा के बीच पारस्परिक आदान प्रदान हर घड़ी चलता रहता है। तब भी देकार्ते के अनुसार उनका सम्बन्ध अप्रत्यक्ष है। आत्मा का सम्बन्ध परमात्मा से जोड़कर फिर देकार्ते ने परमात्मा के माध्यम से बाह्य जड़ जगत् की ओर संक्रमण किया। प्रत्यक्ष को अप्रत्यक्ष बना कर अपनी समस्या को अधिक जटिल बनाने वाले महाभाग को क्या कहा जाय ?

देकार्ते के दर्शन में और भी एक बात का अभाव तीव्रता से खटकता है। अरिस्टॉटल ने उपर्युक्त तीन कारणों के अतिरिक्त एक चौथा कारण भी बताया है। वह है उत्पत्ति कारण। यह कारण अन्य तीन कारणों से एकदम भिन्न है। उपादान, परिकल्पना तथा पर्यवसान कारण हमें सदैव ससीम (Finite) को कक्षा दो में रखते हैं। उनका उपयोग केवल बुद्धिगम्य ज्ञान का नियंत्रण करने के हेतु ही होता है। असीम (Infinite) तत्व का आकलन करने में वे नितान्त असमर्थ हैं। क्योंकि इनमें से प्रत्येक कारण सापेक्ष है। उपादान कारण का परिकल्पना कारण के बिना कोई महत्व ही नहीं है। इस सापेक्षता के कारण ही इन कारणों में से कोई भी स्वयंभू कारण नहीं बन सकता।

किन्तु उत्पत्ति कारण की बात कुछ और है। वह कारण हमें ससीम जगत् से परे ले जाता है और उस असीम सत्ता का बोध कराता है कि जिससे समस्त ससीम जगत् की उत्पत्ति होती है। बुद्धिगम्य ज्ञान से इस कारण का कदापि आकलन नहीं हो सकता। वह तो प्रत्यक्षानुभव (intuition) अथवा भावना [Feeling] से ही जाना जाता है। उत्पत्ति कारण को मान कर अरिस्टॉटल ने दर्शन शास्त्र को ज्ञान मीमांसा से एकदम अलग कर दिया था और उसकी स्वायत्तता को मान लिया था।

देकार्त ने अरिस्टॉटल की इस महत्वपूर्ण सूझ को भी ठुकरा दिया। उत्पत्ति कारण को देकार्त के दर्शन में कहीं भी स्वतन्त्र स्थान नहीं दिया गया है। देकार्त परमेश्वर ही को परिमित आत्मा एवं परिमित जड़ जगत् का उत्पत्ति कारण मानता है। किन्तु यह कार्य कारण सम्बन्ध वैचारिक क्षेत्र ही में लागू पड़ता है। सत्ता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। जैसा कि हम पहले बता चुके है, देकार्त के ईश्वर के अस्तित्व विषयक प्रमाण से यह स्पष्ट है कि सत्ता को तर्क की अनुगामिनी मानता है। अर्थात् उसके अनुसार दर्शन शास्त्र सम्पूर्णतया ज्ञान मीमांसा पर ही अवलम्बित है। ज्ञान मीमांसा के दृष्टिकोण में तथा सत्तात्मक दृष्टिकोण में मौलिक भेद है। ज्ञान मीमाँसा की सारी पद्धति समन्वयात्मक होती है। ज्ञान के द्वारा हम अपने अनुभव के अन्तर्गत सवेद्य विषयों का, जो कि हमारे सामने उपस्थित होते हैं अर्थात् जिनके अस्तित्व के विषय में हम पूर्णतया आश्वस्त होते हैं, सुसंगठन एवं यथार्थ समन्वय करते है ताकि जो विषय पहले अनाकलनीय होता है वह ज्ञान मीमांसा की पद्धति द्वारा हमारी समझ में आ जाता है। किन्तु दार्शनिक का दृष्टिकोण एकदम भिन्न होता है। वह तो उस सत्तात्मक तत्व को ढूँढना चाहता है जो ससीम अनुभव के अन्तर्गत सृष्ट पदार्थों की उत्पत्ति का अथवा अस्तित्व का कारण हो। निश्चित ही ऐसा तत्व सृजन शील होगा। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि दार्शनिक का उद्देश्य तभी साध्य हो सकता है जबकि वह सृजनशील सत्तात्मक अरूपता का बोध करा दे। सत्तात्मक अरूपता की सृजनशीलता प्रत्येक सृष्ट व्यक्ति में मिल सकती है। किन्तु उसका आकलन समन्वयात्मक ज्ञान पद्धति द्वारा सम्भव नहीं। उसके लिए भावनात्मक तादात्म्य की आवश्यकता होती है। सहानुभूति, प्रेम आदि इसी सत्तात्मक भावना के विविध रूप हैं। इस भावना के द्वारा ही हमें अपने व्यक्तित्व को निर्माण करने वाली गूढ़ हेतु सत्ता का अनुभव होता है। तभी हमें इस बात का बोध होने लगता है कि किस प्रकार एक अरूप सत्ता अनेक रूपों में अपने आपको अभिव्यक्त कर देती है।

सत्तात्मक दृष्टिकोण का सर्वथा अभाव ही वह कारण है कि जिससे देकार्त के दर्शन में दो प्रकार के द्वैतों (dualisms) का प्रादुर्भाव हुआ है। एक द्वैत है परिमित द्रव्यों के बीच। देकार्त की परिमित आत्मा का परिमित जड़ता से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। ज्ञान के लिये यह आवश्यक है कि जड़ता का हमारी आध्यात्मिक शक्तियों द्वारा समन्वय हो। किन्तु इन दोनों को परस्पर भिन्न एवं विरोधी सत्ता प्रदान कर उनमें देकार्त ने जबर्दस्त खाई निर्माण करदी और इस प्रकार ज्ञान की समुचित व्याख्या करने के बजाय ज्ञान की सम्भावना का ही नाश कर दिया।

देकार्त के दर्शन का दूसरा द्वैत है अपरिमित ईश्वर तथा परिमित द्रव्यों के बीच।

देकार्ते ने अपरिमित ईश्वर ही को परिमित द्रव्यों का उत्पत्ति कारण माना है। किन्तु जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, यह उत्पत्ति केवल विचारों की परिधि ही में काम करती है। उसका अस्तित्व से यदि कोई नाता है तो वह बहुत ही दूरान्वय से। किसी विषय को जान लेने में विचारों से निश्चित हमें सहायता मिलती है। किंतु, यह कहना कि विषयों का ज्ञान उन पदार्थों की उत्पत्ति का भी कारण होता है तो यह धारणा नितांत भ्रामक है। जब मैं यह जान लेता हूं कि मेरे सामने स्थित विषय टेबल है तो क्या मेरे जान लेने मात्र से मैं उस टेबल को उत्पन्न भी कर लेता हूं? कदापि नहीं। देकार्ते ने ठीक यहीं हमें बरगलाया है। चूंकि देकार्ते आधुनिक दर्शन का जनक है अत: उसके गलत मार्ग दर्शन के परिणाम बहुत गम्भीर हुये हैं। अनेक उलझनें निर्माण कर उसने आगामी पीढ़ियों की, तत्वचिंता प्रगति में भारी रुकावटें पैदा की हैं। अगले लेख में हम यही बतलाने की कोशिश करेंगे कि देकार्ते के अनुयायियों को किस प्रकार अनेक संकटों ने आ घेरा जिस कारण "एक तथा अनेक" की दार्शनिक समस्या को ठीक ठीक हल करना उनके लिये प्राय: असम्भव हो गया।

क्रमश:

ईश्वर और आधुनिक वैज्ञानिक मनोवृत्ति

बसन्त कुमार लाल

I

इस लेख का उद्देश्य प्राचीन और आधुनिक ईश्वर-विचारों का विश्लेषण नहीं। इस लेख का सम्बन्ध "आज" से है—इस प्रश्न से है कि क्या आज ईश्वर के लिए हमारे विचार और जीवन में कोई स्थान रह गया है या नहीं? यह प्रश्न इसलिये उठ जाता है कि शायद विज्ञान के इस युग में मनुष्य को किसी सहारे की आवश्यकता नही रही है, उसे शायद यह विश्वास हो चला है कि वह पूर्णतया आत्मनिर्भर हो सकता हैं, शायद उसे यह भी विश्वास हो चला है कि वह स्वयं विश्व की विशालता और जटिलता की व्याख्या प्राकृतिक और मानवीय ढंगों से कर सकता है। शायद उसे यह समझ आई है कि 'ईश्वर' उस समय की खोज है जब वह अपनी शक्ति से परिचितन था और शायद यह खोज उसकी भूल थी। इसी संदर्भ में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के महत्व और वास्तविकता को ध्यान में रखकर यह प्रश्न उठाया जा रहा है कि, क्या ईश्वर का आज भी हमारे जीवन और विचार में कोई स्थान है?

यहाँ ईश्वर शब्द का प्रयोग ईश्वरवाद के 'ईश्वर' के अर्थ में हो रहा है, ईश्वर शब्द का प्रयोग उस सत्ता-भाव के लिए हो रहा है जिसे विश्व का सृष्टिकर्त्ता माना गया है—और जो सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञानी, शुभ, पूर्ण, शाश्वत और व्यक्तित्व पूर्ण समझा जाता है।

'आधुनिक वैज्ञानिक मनोवृत्ति' से मेरा एक विशेष तात्पर्य है। इन दिनों साधारण मनुष्य का भी बौद्धिक स्तर कुछ ऊंचा है। विज्ञान की जटिलताओं को हम न समझें, किन्तु कुछ मौलिक वैज्ञानिक सिद्धान्त इतने सरल और बोधगम्य हो गये हैं कि हमारा चिन्तन और हमारे हर कार्य उनसे प्रभावित हैं। विज्ञान ने साधारण अनुभव को बहुत समृद्ध कर दिया है। परिणाम यह है कि आज का मनुष्य हर बात की पुष्टि अनुभव तार्किक युक्तियों और वैज्ञानिक प्रमाणों के द्वारा चाहता है। आज प्रमाणिकता का

मापदण्ड विज्ञान है तो 'आधुनिक वैज्ञानिकमनोवृत्ति' का अर्थ आज का वह साधारण दृष्टिकोण है जिसका आधार अनुभव और विज्ञान है। इसी दृष्टिकोण के फलस्वरूप आज का मनुष्य अपने बहुत से अन्धविश्वासों को तोड़ चुका है और आज उसे बिना परीक्षा के कुछ भी स्वीकार करने में हिचक होती है।

II

ईश्वर के पक्ष में निम्नलिखित स्थापनायें दी जा सकती हैं: -

(१) ईश्वर है।

(२) ईश्वर के अस्तित्व को स्थापित किया जा सकता है।

(३) ईश्वर है, किन्तु वह अज्ञात और अज्ञेय है।

(४) ईश्वर पर विश्वास किया जा सकता है।

(५) ईश्वर पर मुझे विश्वास है।

अब यह देखा जाय है कि इनमें कौन आज के वैज्ञानिक मनोवृत्ति को ग्राह्य हो सकता है।

(१) ईश्वर है :—साधारणतः इस वाक्य का आधार धर्मशास्त्रों को माना जाता है और ऐसा विश्वास है कि धर्म शास्त्रों का आधार किसी दैविक संदेश में है। ईश्वरवादी धर्म-दर्शनों के अनुसार ऐसे सन्देश किसी व्यक्ति विशेष को मिलते हैं—इस उद्देश्य से कि वह इन्हें जन-साधारण तक पहुँचा सकेगी स्पष्ट है ऐसे कथन आनुनिक अनुभवों से असंगत है। आज तो यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या ईश्वर उस अर्थ में है जिस अर्थ मे हमारे सामने एक मेज है? आज अस्तित्व का कोई दूसरा अर्थ नहीं लिया जाता। किन्तु यदि ईश्वर के अस्तित्व का यह अर्थ हो तो ईश्वर स्थान और काल में बंध जाता है और इन्द्रिय-सम्पर्क का वस्तु बन जाता है, अर्थात् ईश्वर ईश्वर नहीं रहता और यदि अस्तित्व को इस अर्थ में न समझते तो आधुनिक वैज्ञानिक मनोवृत्ति का यह प्रश्न होगा—कि आखिर इस वाक्य—ईश्वर है—का क्या अर्थ है? इसी प्रकार के तर्क को 'तार्किक भाववाद' और 'तार्किक अनुभववाद' ने उठाया और परवान चढ़ाया। ये सिद्धान्त विज्ञान से इतने प्रभावित हैं कि इसके कुछ समर्थक दर्शन में भी विज्ञान के समान निश्चित और नियम-निष्ठ पद्धति और भाषा की बात करते हैं। और, इन सिद्धान्तों के निष्कर्ष क्या हैं? इनके निष्कर्ष हैं कि वाक्य 'ईश्वर है' अर्थहीन है। केवल वे ही वाक्य अर्थपूर्ण हो सकते हैं जिनकी साक्षात् या परोक्ष अनुभव परीक्षा हो सके — या कम से कम जिनकी अनुभव-परीक्षा की सम्भावना हो। ईश्वर है—इस वाक्य में यह सम्भावना भी नहीं, इसलिये यह अर्थहीन है। तार्किक भाववाद कोई पुर्णतया दोष रहित सिद्धान्त नहीं, इसकी अपनी कमजोरियां है, किन्तु इस वाक्य (ईश्वर है) के विरुद्ध इनकी जो आपत्तिया हैं, उनके समक्ष इस वाक्य की स्थापना कठिन ही नहीं, असम्भव दिखाई देती है। उसी प्रसंग में यह भी कहा जा सकता है कि अनुभव जो वैज्ञानिक मनोवृत्ति का आधार है, इस वाक्य के पक्ष में नहीं।

(२) ईश्वर के अस्तित्व को स्थापित किया जा सकता है:—धर्म शास्त्र के इतिहास में ईश्वर के अस्तित्व के लिये अनेक तर्क मिलते हैं। किन्तु उसी इतिहास

से यह भी प्राय: स्पष्ट है कि समय के साथ इनका महत्व भी घटता गया है. यहां तक कि वर्तमान काल में इन्हें कोई महत्व नहीं। सच पूछा जाय तो इन तर्कों के विरुद्ध दिये कांट के प्रबल आरोपों के बाद किसी ने इन तर्कों को दुहराने की चेष्टा नहीं की। यदि किसी ने कुछ कहा भी तो उसका महत्व केवल ऐतिहासिक और विवरणात्मक रहा न कि तात्विक। हमारी आधुनिक मनोवृत्ति हर पदार्थ के लिए ठोस अनुभव जन्य प्रमाण चाहती है, और इन सभी तर्कों की कुछ ऐसी मान्यतायें हैं जो इस मनोवृत्ति को स्वीकार नहीं। विज्ञान उन्हीं पदार्थों के अस्तित्व को स्वीकार करता है—जिन्हें प्रयोग के द्वारा सिद्ध किया जा सकता है, और ईश्वर पर प्रयोग नहीं किया जा सकता।

ईश्वर के पक्ष में दिये गये तर्कों में एक को कुछ विशेष मान्यता दी गयी है क्योंकि ऐसा कहा गया है कि वह तर्क तथ्यों के अनुभव पर आधारित है और इस कारण उसका खण्डन अवैज्ञानिक है कहा गया है कि यदि किसी वस्तु का अस्तित्व ढंग से स्थापित नहीं किया जा सके, तो परोक्ष ढंग से उसके कुछ संकेतों और लक्षणो के आधार पर, स्थापित किया जा सकता है इसी आधार पर हमें अन्य पुरुषों के अस्तित्व का ज्ञान होता है। हमें आत्म चेतना है, अपनी हरकतों और चेष्टाओं की चेतना है अब अपने ही जैसे कुछ अन्य हरकतों और व्यवहारों का हमें अनुभव होता है, हम देखते हैं कि इन व्यवहारों के कारण हम नहीं। तो हम अनुमान करते हैं कि हमारे जैसे अन्य पुरुष भी हैं। उसी प्रकार हमें चेतना है कि हम में निर्माण की शक्ति है। हम कुछ ऐसे पदार्थों का निर्माण करते हैं जिनमें व्यवस्था और संगठन है और जिसके पीछे कुछ उद्देश्य हैं। अब हम विश्व में भी ऐसे अनेक पदार्थ पाते है जिनमें व्यवस्था है, संगठन है और जिसके कार्य नियमबद्ध है, और हम यह भी देखते है कि इन पदार्थों के निर्माता हम नहीं हैं ये पदार्थ हमारे द्वारा निर्मित पदार्थों से अधिक सुव्यवस्थित और संगठित हैं। तो हमें अनुमान करना पड़ता है कि इनके पीछे कोई बुद्धि है जो हमारी बुद्धि से श्रेष्ठ है।

यों तो इस युक्ति की भी बड़ी तीव्र आलोचना हुई है. फिर भी, इस तर्क को मान्यता दी जाती है क्योंकि यह कुछ अंशों में अनुभव पर आधारित है। किन्तु इस तर्क के समर्थकों से हमारी अनुभववादी बुद्धि एक ही प्रश्न पूछती है 'कोई बुद्धि' और 'सर्वशक्तिमान सर्वज्ञानी ईश्वर' क्या दोनों समान उक्तियाँ हैं ? इस तर्क से यह तो स्थापित हो जाता है कि इन सुगठित, सुव्यवस्थित पदार्थों के पीछे कोई बुद्धि है। किन्तु इस वाक्य 'कोई बुद्धि है' से दूसरे वाक्य 'वह बुद्धि, एक ईश्वर की है' तक पहुँचने का तार्किक आधार क्या है ? यदि 'ईश्वर हैं'—इस वाक्य का अर्थ होता कि विश्व के कुछ पदार्थों में (या सभी पदार्थों में भी) संगठन और व्यवस्था है तो यह वाक्य अनुभव-वाक्य होता और उसके सत्य-असत्य की परीक्षा हो सकती थी। किन्तु, यदि इस युक्ति का उद्देश्य किसी परम सत्ताधारी व्यक्ति के अस्तित्व की स्थापना है तो यह उद्देश्य इस युक्ति से पूर्ण नहीं हो पाती।

(३) ईश्वर है, किन्तु वह अज्ञात और अज्ञेय है:—हमारा वैज्ञानिक दृष्टिकोण इस अज्ञेयवादी वाक्य की स्थापना पर भी संदेह करता है और इसके दो

कारण हैं। एक तो यह कि हमारी वैज्ञानिक शिक्षा हर ज्ञान का ही नहीं, हर विश्वास का भी आधार ढूंढती है। तो, इस वाक्य के समर्थकों से पूछा जा सकता है कि यदि ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान नहीं हो सकता तो उसके अस्तित्व को स्वीकार करने का आधार क्या है। इनके तर्क में एक स्पष्ट विरोधाभास है—यदि यह विश्वास है तो उसका कोई आधार है, और यदि कोई आधार मिल जाता है तो ईश्वर को कम से कम 'अज्ञेय' तो नहीं ही कहा जा सकता। दूसरी बात, अज्ञेयवादियों का तर्क एक प्रकार से ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार ही करता है। 'ईश्वर अज्ञात और अज्ञेय है' और 'ईश्वर नहीं है'—इन दोनों वाक्यों मे कोई विशेष अन्तर नहीं। इसी बात को वीजडम ने एक छोड़े हुये उद्यान और माली की उपमा से समझाया है और यह दिखलाया है कि इन दोनों वाक्यो में तथ्य का कोई अन्तर नहीं।[1] यदि ईश्वर को केवल 'अज्ञात' कहा जाता तो उसका अर्थ होता कि ईश्वर के ज्ञान की सम्भावना शायद भविष्य में हो, और तब यह बात पूर्णतया अवैज्ञानिक नही होती; हाँ यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि आखिर अज्ञात के विषय में बात करने की कौन सी आवश्यकता आ गई। किन्तु, ईश्वर को 'अज्ञेय' कह कर तो वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझौते के लिये कोई अवसर ही नहीं छोड़ा जा रहा है।

(४) **ईश्वर पर विश्वास किया जा सकता है :**— यह वाक्य ईश्वर की वस्तुनिष्ठता की रक्षा की अन्तिम चेष्टा है। इस वाक्य का आधार ईश्वर-भाव की उपयोगिता है, और इसकी उपयोगिता जन-साधारण के विश्वास और भावनाओं से सिद्ध होती है। यों तो व्यवहार-वाद का दर्शन उपयोगिता को ही प्रामाणिकता का सब से प्रमुख मापदण्ड मानता है, किन्तु 'वादों' के झगड़े से तटस्थ होकर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि यदि कोई भाव या विचार उपयोगी है तो उस पर विश्वास किया जा सकता है। विषवत, कर्क, मकर आदि भौगोलिक रेखायें भूमण्डल पर अंकित वास्तविक रेखायें नहीं, फ़िर भी उन पर विश्वास किया जाता है क्योंकि उनके आधार पर निकाले निष्कर्ष भौगोलिक प्रकरण में उपयोगी सिद्ध होते हैं। उसी प्रकार ईश्वर भाव का भी उपयोग है। ईश्वर-भाव का महत्व कम से कम दो रूपों में तो है ही, और उन दो रूपों में उसकी व्यवहारिकता तथा यथार्थता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसकी उपयोगिता एक तो सामान्य परिस्थिति में अधिकांश लोगों के जीवन मे है और उसी प्रकार इसकी दूसरी और महत्वपूर्ण व्यवहारिकता है। अधिकांश लोगों के जीवन के उन विशेष और असामान्य अवसरों पर जब वे निःसहाय और हतोत्साह हो जाते हैं, जब उन्हें कोई आधार नही दीखता और किसी सहारे की आवश्यकता रहती है।

सामान्य परिस्थितियों में भी बहुतों को ईश्वर-भाव की चेतना रहती है। यह भाव उनकी धार्मिक भावनाओं को सन्तुष्ट करता है और एक प्रकार से उन्हें एक बल देता है। साधारण मनुष्य को श्रद्धा और भक्ति के विषय रूप में एक व्यक्ति विशेष की आवश्यकता प्रतीत होती है। सबों के साथ शायद ऐसा न भी हो—किन्तु अधिकांश मनुष्यों को यह प्रतीति है। उनके जीवन में ईश्वर-भाव का महत्व है। किन्तु, ईश्वर-भाव

[1] देखिये जॉन वीजडम का प्रसिद्ध लेख 'Gods'.

की इससे बहुत ही प्रबल और तीव्र चेतना जीवन के कुछ विशेष अवसरों पर होती है। उदाहरणत: उस बूढे माँ बाप की मानसिक अवस्था की कल्पना करें जिनका एकमात्र पुत्र मृत्यु शय्या पर पड़ा है। उस अवसर पर भी उसे एक आशा की किरण है—और वह है ईश्वर भाव। अत्यन्त दुख के क्षणों मे ईश्वर भाव आशा, सहनशीलता और बल देता है। और फिर, यह विचार कि सब कुछ एक सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञानी सत्ता के इशारे पर हो रहा है दुख की अनिवार्यता की समझ उत्पन्न करता है, और, इस सत्ता के परम्-शुभ-स्वरूप में विश्वास दुख से समझौता करने मे सहायता देता है—यही महत्व है ईश्वर-भाव का और ईश्वर-भाव की इसी उपयोगिता के कारण लोग यह कह सकते है कि ईश्वर मे विश्वास किया जा सकता है।

किन्तु, यह उक्ति भी आज के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को ग्राह्य नही हो सकती है। ईश्वर के सम्बन्ध मे दी गई इस उक्ति के पीछे भावना प्रधान है। यह ठीक है कि आज के मानव के जीवन मे भी भावना का स्थान है और यह स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है; किन्तु विज्ञान के प्रभाव मे वह इस परिणाम पर पहुँचा है कि भावनाये भी अन्धी नही। अन्धी भावनायें तो जन्मजात जीव-प्रवृत्तियो (Instinct) के समान है। मानवीय भावनाओ और विवेक मे विरोध नही, अपितु सहयोग है। मनुष्य की भावनाये भी वैज्ञानिक और विवेकपूर्ण दृष्टिकोण से प्रभावित है। यही कारण है कि जहाँ धर्म की गाथाये उसकी भावनाओं को जगा नही पाती, वहाँ वैज्ञानिक चमत्कारो की काल्पनिक कहानियाँ भी उसकी भावनाओ को जागरूक कर देती है। धर्म के उपदेशो के प्रति वह उदासीन भले ही हो, 'स्पूटनीक' और 'रौकेट' की बातों को सुनने के लिये वह सदा उत्सुक और तत्पर है। किन्तु क्या केवल इसी कारण यह वाक्य आधुनिक वैज्ञानिक मनोवृत्ति को स्वीकार नही ? ऐसा नही है क्योकि आज भी बहुत से लोग है जिनकी धार्मिक भावनाये सजग ही नही, सबल भी हैं।

बात यह है कि इस वाक्य की यथार्थता को स्वीकार करने में एक तार्किक कठिनाई है। इसके समर्थकों के अनुसार ईश्वर पर विश्वास किया जा सकता है क्योकि ईश्वर-भाव की उपयोगिता धार्मिक भावनाओ की सन्तुष्टि मे है। किन्तु, यदि भावनाओं की बात है तो व्यक्ति प्रधान है। भावनायें सामान्य नही होतीं, उनकी जाति नही होती। तो, भावनाओं पर आधारित कोई युक्ति किसी वस्तु या भाव की वस्तु निष्ठता सिद्ध नही कर सकती। 'ईश्वर पर विश्वास किया जा सकता है'—यह एक निरपेक्ष विषयगत स्थापना है। इस वाक्य की स्थापना के लिये प्रथमत: तो सामान्य विश्वास के आधार और उपादानो का ज्ञान आवश्यक है, और फिर यह दिखलाना भी आवश्यक है कि इस वाक्य को विश्वास के पीछे भी वही उपादान और आधार है। यह ठीक है कि विश्वास र ज्ञान मे अन्तर है, किन्तु हमारी वैज्ञानिक मनोवृत्ति उन्ही बातो पर विश्वास कर सकती है जिन्हें मानकर जो अनुमान किये जाये या निष्कर्ष निकाले जाये, वे तथ्यों के समरूप हो। इसी दृष्टिकोण पर विषवत् आदि रेखाओं पर विश्वास किया जाता है। विषवत रेखा को मानकर, उनके आधार पर, जो निष्कर्ष निकाले गये हैं वे तथ्य और अनुभव से पूर्णतया संगत हैं। किन्तु ईश्वर भाव के आधार पर उस प्रकार के वैज्ञानिक

तथ्य सम्बन्धी निष्कर्ष भी नहीं निकाले जा सकते। फलतः आज के वैज्ञानिक मस्तिष्क को "ईश्वर में विश्वास किया जा सकता है"—इस वाक्य को स्वीकार करने में भी हिचक होती है।

(४) **ईश्वर पर मुझे विश्वास है**:—ऊपर कही गई बातों से यह प्रायः स्पष्ट है कि यदि विश्वास की बात निरपेक्ष और विषयगत रूप में न हो, यदि विश्वास व्यक्ति से सम्बन्धित हो और आत्मगत हो, तो शायद यह वैज्ञानिक मनोवृत्ति के प्रतिकूल न हो। सच पूछा जाय तो धार्मिक चेतना का सम्बन्ध समुदाय से नहीं, व्यक्ति से है। यही कारण है कि सभी विकसित धर्म जो सार्वभौम होने का दावा करते हैं, व्यक्ति को प्रधानता देते हैं। विश्व के सभी धर्म जिन्हें उचित रूप में सार्वभौम कहा जा सकता है, सार्वभौम इस कारण हैं कि संस्थाओं पर आधारित धर्मों के विपरीत वे अपनी सीमा को एक विशेष परिधि में बाँध कर नहीं रखते, बल्कि हर सीमा को तोड़ने की चेष्टा करते हैं। ऐसा सम्भव बस इसी कारण हो पाता है कि धर्म के दरवाजे हर व्यक्ति के लिये खुल जाते हैं। तो वैयक्तिक धार्मिक चेतना पर जोर देना धर्म को सीमित करना नहीं, बल्कि धर्म की सीमाओं को हटा उसे विस्तृत कर सार्वभौम और व्यापक बना देना है।

और, इसमें तार्किक लाभ भी है। व्यक्ति पर जोर देने से विषमता और मतभेद के लिये भी स्थान नहीं रह पाता। यदि मैं कहता हूँ कि मुझे ईश्वर में विश्वास है तो यह मेरा व्यक्तिगत विश्वास है, मेरी आन्तरिकता की अनुभूति है। न कोई इसका खण्डन कर सकता है न समर्थन। मतभेदों का स्थान तो अब आता है जब मैं अपनी वैयक्तिक धारणाओं को 'अन्तर' से हटा बाह्य और सामान्य बनाने की चेष्टा करता हूँ। यहाँ यह कहा जा सकता है कि यदि इसी प्रकार 'व्यक्ति की आन्तरिकता' ने ईश्वर के लिये स्थान बनाना है, तब तो दो व्यक्तियों का परस्पर बात करना भी असम्भव हो जायगा। मैं कहता हूँ 'मुझे ईश्वर में विश्वास है', कोई अन्य कहता है, 'मुझे ईश्वर में विश्वास नहीं'। दोनों अपने अपने स्थान पर ठीक हैं, और कोई विचार विनिमय के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। ऐसी आपत्ति इस स्थल पर उठायी जा सकती है, किन्तु इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि एक बात तो सर्वमान्य है कि 'व्यक्ति' के विरुद्ध उसे कुछ स्वीकार करा लेना असम्भव है। यदि व्यक्ति यह मानने को तैयार नहीं कि ईश्वर है, तो हम किसी प्रकार भी उसे समझा नहीं सकते, व्यक्ति की आन्तरिकता से टकराना सहज नहीं। फिर भी विचार विनिमय असम्भव नहीं। आन्तरिक विश्वास की अभिव्यक्ति भाषा में होती है और भाषा वैयक्तिक नहीं होती तो अपने विश्वास को प्रकट करने में सामान्य भाव का सहारा लेना होता है ऐसे भाव विचार का उपयोग होता है जो अन्य को भी समझ आये। परिणाम यह होता है कि यदि आन्तरिकता को भुला हम भाषा तक ही सीमित हो जाते हैं तो हमें मतभेदों और तार्किक कठिनाइयों को तो सामना करना ही पड़ता हैं, इस विश्वास की कोई प्रमाणिकता भी नहीं मिलती। मिले भी कैसे ? प्रमाणिकता भाषा में तो नहीं, किसी बाह्य व्यक्त रूप में नहीं, आन्तरिकता से है।

एक और आपत्ति उठायी जा सकती है। यदि आन्तरिकता ही ईश्वर में विश्वास का आधार है तो उस प्रकार तो कोई व्यक्ति किसी विश्वास की बात कर सकता है।

मुझे विश्वास है कि ईश्वर है, मुझे विश्वास है कि भूतप्रेत हैं, मुझे विश्वास है कि पृथ्वी वाराह के दाँत पर टिकी है, मुझे विश्वास है कि सूर्य हवा में उड़ता आग का एक गोला है, मुझे विश्वास है कि सामने की दीवार जिसे लोग उजली कह रहे हैं पीली है, मुझे विश्वास है कि मनुष्य के आठ पैर होते हैं—ये सभी वाक्य एक ही प्रकार से मान्य हो जाते हैं क्योंकि इन सभी वाक्यों का आधार व्यक्ति का आन्तरिक विश्वास है। आपत्ति रुचिकर है, किन्तु यहाँ एक साथ बहुत सी बातों पर ध्यान नहीं दिया जा रहा।

एक तो जब विश्वास के साथ आन्तरिकता का प्रश्न उठाया जा रहा है, तो यह मान लिया जाता है कि हर व्यक्ति मूलत: ईमानदार है। यदि कोई जानबूझ कर किसी विचित्र विषय के सम्बन्ध में भी कहता है कि ऐसा उसे विश्वास है, तो कोई कुछ नहीं कह सकता। किन्तु साधारणत: विश्वास की बौद्धिकता की भी मात्रा होती है। मुझे विश्वास है कि भूतप्रेत हैं और मुझे विश्वास है कि मनुष्य के आठ पैर होते है इन दोनों वाक्यों में अन्तर है। जो व्यक्ति कहता है कि मुझे विश्वास है कि यह दीवार जिसे उजली कह रहे है पीली है उसे लोग अन्धा या पागल कहेंगे।। अब दूसरा प्रश्न उठता है —जो व्यक्ति कहता है कि मुझे ईश्वर में विश्वास है क्या उसे लोग अन्धा या पागल नहीं कह सकते ? यदि नहीं, तो इस वाक्य और पहले व्यक्ति के वाक्य के अन्तर का क्या आधार है ? यों तो उसके लिये कोई सार्वभौम और निश्चित नियम नहीं दिया जा सकता, फिर भी इन दोनों प्रकार के वाक्यों में अन्तर किया जा सकता है।

प्रथमत: तो यह कहा जा सकता है कि यदि किसी विश्वास की आन्तरिकता में सच्चाई है, तो उस विश्वास की अभिव्यक्ति होगी कार्यो में और व्यवहारों में, और उसी के द्वारा विश्वास की बौद्धिकता का पता चलेगा। यदि किसी व्यक्ति को सचमुच विश्वास है कि उजली दीवार पीली है तो शीघ्र ही उसके कार्यों से उसके विकृत मस्तिष्क का अन्दाज लग जायगा क्योंकि उसके कार्य वैज्ञानिक दृष्टिकोण से साधारण न होंगे। जिस व्यक्ति को यह सचमुच विश्वास है कि ईश्वर है उसके कार्य साधारण ढग से वैज्ञानिक दृष्टिकोण से संगत होंगे — केवल उन क्षणों में भी जब विज्ञान से उसे साहस नहीं मिल रहा, वह अपने जीवन में बल और आशा का संचार कर सकेगा। यह बात और स्पष्ट हो जाती है जब हम दूसरी बात को देखते हैं। मुझे विश्वास है कि दीवार जिसे लोग उजली कह रहे हैं पीली है—यह वाक्य विज्ञान के क्षेत्र के बाहर नहीं , वैज्ञानिक ढंग से इस विकृत विश्वास के कारणों को ढूंढा जा सकता है। मुझे विश्वास है कि ईश्वर है—इस वाक्य में उस प्रकार वैज्ञनिक पद्धति का उपयोग नहीं किया जा सकता। यह वाक्य उसके परे है। यह परे होना एक दृष्टिकोण से इस वाक्य की कमजोरी हो सकती है , किन्तु एक दृष्टिकोण से यह उसका बल है। इस वाक्य के सम्बन्ध में विज्ञान का अज्ञान ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस वाक्य का समझौता करा देता है। यदि इस वाक्य क्षेत्र भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत होता तो विश्वास की बौद्धिकता की वैज्ञानिक जांच हो गयी होती।

इसी तर्क से वैज्ञानिक मनोवृत्ति और वाक्य ईश्वर में मुझे विश्वास है कि परस्पर संगत होने का एक और प्रमुख कारण मिल जाता है। इसे स्वीकार करने

में कोई भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि ईश्वर की स्थापना उस प्रणाली से नहीं हो सकती जिसमें वैज्ञानिक तथ्यों की स्थापना होती है। वैज्ञानिक पद्धति के लिए निरीक्षण और प्रयोग आवश्यक हैं, और ईश्वर पर ये दोनों नहीं लगाये जा सकते। तो कोई ऐसी विधी की आवश्यकता है जो पूर्णतया वैज्ञानिक न होते हुए भी वैज्ञानिक प्रणाली के अनुरूप हो, कम से कम वैज्ञानिक पद्धति से उसका समझौता हो चुका हो। किन्तु ऐसी पद्धति क्या हो सकती है ?

जहाँ तक ज्ञान का प्रश्न है मानव ने एक हद तक विश्व पर विजय पा ली है। उसे यह आत्म विश्वास हो चला है कि विश्व की हर जटिलता का ज्ञान उसे मिल सकता है। फिर भी वह अपने आप को नहीं जान पाया है। वह नक्षत्रों की गतिविधि पर निर्णय दे सकता है; किन्तु वह अपनी ही क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के सम्बन्ध में अंजान है। वह इतना तो समझ पाता है कि मनुष्य का मूल स्वरूप वह नहीं जो दिखाई देता है, मनुष्य की वास्तविकता धरातल पर नहीं, उसकी गहराई में है—उसकी आन्तरिकता में है। यही कारण है कि व्यक्ति और व्यक्ति में अन्तर है, और यही कारण है कि व्यक्ति के आचरण और व्यवहार में 'व्यक्तिगत भेद' के लिए स्थान रखना ही पड़ता है। यही कारण है कि जहाँ पशुओं में प्रधानता जाति गुण की है, मनुष्यों में वैयक्तिक गुणों की। अब, यदि ईश्वर के लिये कोई स्थान हो सकता है तो वह व्यक्ति की आन्तरिकता में ही हो सकता है। यों तो हर विश्वास का सम्बन्ध आन्तरिकता से है, किन्तु यदि विश्वास को व्यक्ति से परे जा सामान्य रूप देना है तो उस विश्वास का आधार वैज्ञानिक पद्धति से, प्रयोग और निरीक्षण के द्वारा, ढूँढना होगा। किसी भी बाह्य अस्तित्व में विश्वास करने के लिये तो यह आवश्यक ही है। किन्तु ईश्वर के साथ यह सम्भव नहीं। तो वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ऐसे विश्वास के बाह्य रूप पर विश्वास करना सम्भव नहीं दीखता। ऐसे ही भाव-विचार और पदार्थों के सम्बन्ध मे आन्तरिकता की प्रधानता हो जाती है।

ईश्वर पर मुझे विश्वास है—इस वाक्य को स्वीकार करने से ही ईश्वर के सम्बन्ध में दी गयी सारी उक्तियाँ — ईश्वर के सभी गुण और लक्षण तक एक अर्थ मे यथार्थ हो जाते हैं और ईश्वर से सम्बन्धित तत्वों का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विरोध समाप्त हो जाता है यदि मैं अपने विश्वास की बात करता हूँ तो मैं यह भी कह सकता हूँ कि मुझे विश्वास है कि ईश्वर का बाह्य अस्तित्व है या मुझे विश्वास है कि हमारा ईश्वर, पूर्ण, नित्य सर्वशक्तिमान सृष्टिकर्त्ता है। 'मुझे विश्वास है —यह वाक्यांश मानो एक जादू की छड़ी है; इस वाक्यांश के जुट जाने से वैसे वाक्य भी जो वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित नहीं, वैज्ञानिक दृष्टिकोण की ओर से कोई विरोध नहीं पाते।

मुझे 'ईश्वर में विश्वास है'—इस उक्ति को धर्म और धार्मिक चेतना की उपयोगिता और व्यावहारिकता से भी पूर्ण समझौता है। यह सम्भव है कि ऐसा विश्वास किसी व्यक्ति को अत्यन्त दुःख के समय में भी बल दे दे और आत्मा भी, यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति अपने इस वैयक्तिक विश्वास के आधार पर अपने पूर्ण जीवन को ढाल दे। इस प्रकार इस युक्ति से आधुनिक वैज्ञानिक मनोवृत्ति का विरोध नहीं हो सकता।

III

इस निष्कर्ष के समर्थन में कुछ विचारकों के मत का उल्लेख रुचिकर होगा—वह भी विशेषत: इस कारण कि ये विचारक या तो स्वयं वैज्ञानिक है या विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रभावित है। तीन ऐसे मतों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है। ये तीनों विचारक एकमत नहीं, अपितु इनकी बातें एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। इनके विचार उस निष्कर्ष का समर्थन भी नहीं करते जो लेख के खण्ड खण्ड में स्थापित किया गया है। फिर भी, यदि इन तीनों के विचारों के कुछ महत्वपूर्ण अंग को लेकर उनके संगठन की चेष्टा की जाय, तो कुछ उसी प्रकार के निष्कर्ष निकल आयेंगे जिनकी स्थापना इस लेख का उद्देश्य है।

अलबर्ट आइन्सटीन के विचार 'ईश्वर' के प्रति उदार नहीं। वे तो यहाँ तक कहते है कि धर्म और विज्ञान के झगड़े का केन्द्र बिन्दु है—व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर का भाव उनके अनुसार इस भाव के त्याग में ही धर्म का कल्याण है। इस स्थान पर वे बाह्य अस्तित्व और आन्तरिकता में अन्तर भी नहीं करते। साधारणत: इन बातों के आधार पर कहा जा सकता है कि इतने बड़े वैज्ञानिक के अनुसार ईश्वर के लिये हमारे विचार मे कोई स्थान नहीं। किन्तु, ध्यान से विचार करने पर यह प्राय: स्पष्ट हो जाता हैं कि आइन्स्टीन का विरोध व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर के भाव से है। उनके इस विरोध का कारण जैसाकि वे स्वयं स्वीकार करते है, यह हैं कि इसी विश्वास के कारण बहुत से अन्ध-विश्वासों का जन्म हुआ है। इसी भाव की सहायता से धर्म के ठेकेदार मनुष्य को भय दिखला या लोभ दे मनुष्य को भुलाकर रखने में सफल हो सके और उस पर अपना आधिपत्य रखा। यही कारण हैं कि आईन्स्टीन 'व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर' के स्थान पर धर्म का विषय उन परम शुभ और बौद्धिक उद्देश्यों की अनुभूति और प्राप्ति मानते हैं जिनसे जीवन का बौद्धिक स्तर ऊचा उठता है - जैसे सत्य, शिव और सुन्दर के प्रति विवेकपूर्ण अनुराग। वे मानते है कि विज्ञान इस धार्मिक अनुभूति को स्पष्ट करने में सहायता करता है। इस प्रकार आइन्स्टीन धर्म या धार्मिक चेतना की वास्तविकता का अपहरण नहीं करते, वे बस इतना मानते है कि धार्मिक-चेतना का विषय ईश्वर-भाव नहीं हो सकता। ईश्वर-भाव उनकी वैज्ञानिक मनोवृत्ति को ग्राह्य नहीं।

यह सब ठीक है, किन्तु यह भी ठीक है कि आइन्स्टीन का विरोध एक सच्चे वैज्ञानिक के समान इस वस्तुनिष्ठ वाक्य 'ईश्वर है' से है। 'मुझे ईश्वर में विश्वास है' इस वाक्य पर वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने स्पष्ट विचार नहीं किया। किन्तु, इतना तो वे भी मानते हैं कि ईश्वर में विश्वास बहुत से व्यक्तियों को आशा और बल देता हैं और अपनी सरलता के कारण यह भाव बहुतों के लिये किसी न किसी रूप में बोधगम्य भी है। वे स्पष्ट कहते हैं, "No body certainly will deny that the idea of the existence of an omnipotent, just and omnibeneficient pesonal God is able to accord to men solace, help and guidance; also, by virtue of its simplicity the concept is accessible to the most undeveloped mind."[1] यह ठीक है कि

---

[1] Einstein Albert : Science and Religion (a lecture on Science, Philosophy and religion in a conference 1941) tation from Bronstein sehaluseiv edi Approaches to the Philosophy of Religion Englewood, Prentice Hall In 1965—p. 70

उनके अनुसार इतने से ही ईश्वर भाव की न बौद्धिकता ही सिद्ध होती है और न औचित्य ही सिद्ध होता, किन्तु इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि उनके अनुसार भी ईश्वर कोई विषयगत सत्ता भले ही न हो, कुछ मनुष्यों के वैयक्तिक जीवन और विश्वास का विषय तो हो ही सकता है।

सन्टायना ने इस विषय पर बहुत विचार किया है धर्म और बौद्धिक जीवन पर विचार करते हुए वे कहते हैं कि इन दोनों मे बहुत अर्थों में समानता और भेद रहते हुये भी यह स्पष्ट है कि जब धर्म बौद्धिक उद्देश्यों की प्राप्ति करने की चेष्टा करता है तो उसके विचित्र परिणाम होते हैं। बात यह है कि जीवन के वास्तविक दुःख और कष्ट के निरोध के लिये धर्म जो मार्ग देता है वह काल्पनिक है। साँसारिक कष्टों का वास्तविक निवारण वास्तविक ढंगों से होता है-- धर्म के ढंग से नहीं। परिणाम यह होता है कि प्रारम्भ में तो मनुष्य धार्मिक उक्तियों की नवीनता से प्रभावित हो उसी पर अपनी सारी आशा लगा बैठता है, किन्तु समय के साथ उसकी आँखे खुलती हैं, वह वास्तविकता को देख पाता है और उसे धार्मिक ढंगों की निस्सारता और काल्पनिकता की समझ हो आती है। तो, सन्टायना के अनुसार धर्म की विफलता का कारण धर्म का वास्तविक रोगों के लिये काल्पनिक निदान देना है।

सन्टायना के अनुसार ऐसा इस कारण होता है कि धर्म बौद्धिक उद्देश्यों की पूर्ति कल्पना के माध्यम द्वारा करना चाहता है। यदि सन्टायना यहीं पर रुक जाते तो यह मान लेना पड़ता कि उनके अनुसार ईश्वर-भाव बस कल्पना की एक सृष्टि है और इसकी वास्तविक उद्देश्यों की सिद्धि में कोई उपयोगिता नहीं है। किन्तु, सन्टायना इस स्थान पर नहीं रुकते। वे ईश्वर-भाव और धर्म को महत्व देते हैं। उनका कहना है कि कल्पना के माध्यम पर चलने से धर्म की उपयोगिता नष्ट नहीं होती। कल्पना और काल्पनिक जीवन का अपना महत्व है। यह जीवन को सबल बनाता है और उसे एक मूल्य देता है। अपनी बात को सिद्ध करने के लिये सन्टायना काव्य का उदाहरण देते हैं। काव्य का क्या महत्व है? काव्य भी जीवन के लिये उस प्रकार उपयोगी नहीं जैसे क्षुधा-तृप्ति के लिये भोजन या रोग के लिये दवा। फिर भी, इसका अपना महत्व है, यह मनुष्य के जीवन में रस की सृष्टि करता है, उसे कुछ क्षणों के लिये कल्पना के संसार में ले जाता है और उसे उन क्षणों में चिन्ता और कष्ट से मुक्ति दिला देता है। काव्य संसार में प्रवेश कर कुछ देर के लिये मनुष्य अपने दुख क्लेश को भुला शुद्ध आनन्द की प्राप्ति करता है। सन्टायना कहते हैं कि जीवन में धर्म का भी वही उपयोग है जो काव्य का। धर्म का माध्यम भी कल्पना है, धर्म का लक्ष्य भी कल्पना की सहायता से वास्तविक कष्टों को भुला आनन्द प्राप्त करना है। उनके अनुसार, धर्म का लक्ष्य वास्तविक तत्वों का स्वरूप निर्धारित करना या वास्तविक सत्यों की स्थापना करना नहीं, कल्पना को जगा देना है और काल्पनिक शक्ति को विकसित करना है, और तब यह काव्य के समान ही नहीं—काव्य से बहुत ही अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है। यही कारण है कि पैगम्बर और धर्म प्रचारक-जैसे ईसा मसीह और मुहम्मद जिनके धर्म का प्रचार और विस्तार आग के समान हुआ— अपने धर्म के प्रचार में तर्क और युक्ति से सहारा नहीं

लेते, बल्कि कहानियों से सहारा लेते थे। अपनी बातों को वे छोटी छोटी शिक्षाप्रद कहानियों में बाँध देते थे जिनमे सुनने वालों की कल्पना जागरूक हो जाती थी।

तो, सन्टायना के अनुसार हमारी वैज्ञानिक मनोवृत्ति और धार्मिक मनोवृत्ति में अन्तर है। वैज्ञानिक मनोवृत्ति का स्तर बौद्धिक है, धार्मिक मनोवृत्ति का काल्पनिक। इस कारण यदि काल्पनिक मनोवृत्ति अपनी बातों को वास्तविक मानने लगे तो यह भूल होगी। सन्टायना कहते हैं, "Religion remains an imaginative achievement, a symbolic representation of moral reality which may have a most important function in vitalising the mind and in transmitting by way of parables, the lesson of experience. But it becomes at the same time a continuous incidental deception, and this deception in proportion as at streneously denied to be such, can work infinite form in the world and in the conscience."[1] तो, ईश्वर-भाव वास्तविक नहीं हो सकता क्योंकि यह विवेकपूर्ण युक्तियों पर स्थापित नहीं किया जा सकता। किन्तु यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि ईश्वर भाव का आधार कल्पना है, तो धर्म जीवन के एक आवश्यक माँग की पूर्ति करेगा और वैज्ञानिक मनोवृत्ति भी इसका अनुमोदन करेगी। अब ईश्वर के सभी विवरण वैज्ञानिक मनोवृत्ति को स्वीकृत होंगे क्योंकि उसे यह ज्ञात है कि इन विवरणों का महत्व इनकी वास्तविकता सिद्ध करने में नहीं, बल्कि व्यक्ति के जीवन को सरस, सुखद और सबल बनाने में है—उसे कुछ क्षण के लिये दुख और चिंता से मुक्ति दिलाने और आनन्द प्राप्त कराने में हैं।

इस स्थल पर व्हाइटहेड के विचार भी उल्लेखनीय है। उनके अनुसार धर्म सामान्य सत्यों का वह सिद्धान्त है जिसकी यदि चेतना हो, जिसमे यदि विश्वास हो और जिसे यदि शुद्ध रूप में धारण करने की चेष्टा हो तो व्यक्ति का जीवन और चरित्र नया ही रूप ले लेता है। धर्म की परिभाषा देते हुये वे कहते हैं, "A Religion on its doctrinal side, can thus be defined as a system of general truth which have the effect of transforming character when they are sincerely held and vividly apprehended."[2] यही कारण है कि धर्म आन्तरिक विश्वास पर आधारित है, और यही कारण है कि व्हाइटहेड धर्म को व्यक्ति पर—उसके एकाकीपन और आन्तरिकता पर—सीमित कर देते है। उनके अनुसार धर्म की वास्तविकता व्यक्ति की आन्तरिकता में है, धर्म के जाति और सामाजिक रूप तो उसके बाह्य और शतही रूप हैं इसी कारण सन्टायना कहते हैं, "Religion is what the individual does with his own solitariness"[3] जो व्यक्ति एकाकी नहीं हो सकता, जो कुछ क्षणों के लिये भी अपने में

---

[1] Santayana George. The life of Reson (Reason in Relagion) Constable and Co Ltd. 1905 P. 12.

[2] Whithead A N Religion in the Making (Lowell Lectures) 1926 Cambridge University Press 1930—p.5

[3] Ibid—p6.

सिमट नहीं सकता, जो अपनी आन्तरिकता को जगा नहीं सकता, उसे धार्मिक चेतना नहीं आ सकती।

व्हाइटहेड के अनुसार ईश्वर-भाव के सम्बन्ध में धर्म की अनुभूति व्यक्ति की आंतरिकता में तीन अवस्थाओं में विकसित हो अग्रसर होती है। प्रथमतः उसे सब कुछ शून्य सा दीखता है उसे किसी सत्ता-भाव की चेतना नहीं होती। यह शून्य-भाव ईश्वर' (God the void) की स्थिति है। विचार का क्रम आगे बढ़ता है और अब व्यक्ति को अपनी आन्तरिकता में सब कुछ अपने विरुद्ध दिखाई देता है। उसे स्वयं और अन्य के विरोध का भान होता है और वह अन्य को अपना विपक्षी समझ लेता है। इस दूसरी अवस्था में आन्तरिकता 'विपक्षी-ईश्वर' (God the enemy) के भाव पर पहुँच जाती है। किन्तु धीरे धीरे स्वयं और अन्य का यह विरोध नष्ट हो जाता है, व्यक्ति अन्य से आत्मीयता स्थापित कर लेता है और वे ही शक्तियाँ जिन्हें वह विपक्षी समझता था, सखा रूप में दिखाई देती है। यह तीसरी अवस्था 'सखा-रूप-ईश्वर' (God the Companion) की है।

व्हाइटहेड गणित और विज्ञान से प्रभावित है, उनके दर्शन का केन्द्र भी अनुभव है। फिर भी, व्यक्ति की आन्तरिकता में उन्हें धर्म और ईश्वर के लिये स्थान मिल जाता है। वे जानते हैं कि यदि संस्था और सम्प्रदाय पर आधारित धर्मों के समान ईश्वर के बाह्य अस्तित्व की बात हो तो आधुनिक वैज्ञानिक मनोवृत्ति को सन्तुष्ट करना असम्भव होगा, किन्तु ईश्वर को यदि व्यक्ति के एकाकी अन्तर में स्थान मिल जाय तो वैज्ञानिक मनोवृत्ति को कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

IV

इस प्रकार इन विभिन्न विचारकों के मतों से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि आज भी ईश्वर के लिये स्थान है, किन्तु वह स्थान न 'ओलिम्पास का पहाड़' है न स्थान और काल से परे की कोई अवस्था। वह स्थान व्यक्ति की आन्तरिकता है। आज ईश्वर सामाजिक रीति-रिवाजों का विषय बनकर रह नहीं सकता, व व्यक्ति के वैयक्तिक भावनाओं और कल्पना का विषय हो सकता है। और तब, यह सम्भव है कि व्यक्ति इस विश्वास के आधार पर अपने पूरे जीवन को ढाल ले, यह सम्भव हैं कि इस विश्वास के बल पर व्यक्ति अपने कठिन और दुखप्रद समय को धैर्य और शान्ति से सह सके। ईश्वर के लिये व्यक्ति की आन्तरिकता एक ऐसा दुर्भेद दुर्ग है जिसे आधुनिक वैज्ञानिक मनोवृत्ति के संशयवादी शस्त्र भी नहीं भेद सकते।

आधुनिक अशांति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

मुकुल धर

असामान्य व्यवहार विभिन्न प्रकार के होते हैं, साधारण से लेकर भीषण दुर्समायोजन (मैल एडजस्टमेंट) तक देखने में आते हैं। असाधारण व्यवहार प्राय: हम सब में देखने में आता है और मानस चिकित्सालय भीषण दुर्समायोजक वाले व्यक्तियो से भरे पड़े हैं। असामान्य व्यवहार के अनेक कारण है जो साधारण विचार प्रक्रिया से लेकर मस्तिष्क की विशेष प्रकार की बनावट तक हो सकते हैं। असामान्य वही है जो सामान्य न हो किन्तु सामान्य क्या है? अंग्रेजी में नार्मल (सामान्य) का मूल अर्थ ''बढ़ई का पैमाना'' (कारपेन्टर्स रूल) है। अत: इस अर्थ के आधार पर हम कह सकते हैं कि बढ़ई के पैमाने की भाँति समाज में कुछ ऐसे मापदण्ड या रीति-नातियाँ होती हैं जिनसे उस समाज के सदस्यों का व्यवहार नापा जाता है और औचित्य का निर्णय किया जाता है। विभिन्न समाजों में ये रीति-नातियाँ, अवस्था, स्तर और लिंग के भेद अनुसार प्राय: भिन्न भिन्न हैं इनसे नई पीढ़ी सदा सन्तुष्ट नहीं रहती है। नवयुवक उनका उल्लंघन किया करते हैं। अठारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि 'पोप' ने इस विषय में कहा है—

> मूर्ख पूर्वजों को हम कहते, चतुर समझ कर अपने को।
> अधिक चतुर सन्तानें अपनी, यही कहेंगीं हम सब को॥[1]

स्त्रियों ने पुरुषों के समान अधिकार पाने के लिये आन्दोलन छेड़ा और आर्थिक विषमता को दूर करने के लिये जो आन्दोलन चला वह सामाजिक स्तर के ऊंच-नीच भाव से उत्पन्न परिणामों के कारण है। ऐसे ही और भी कई आन्दोलन सामाजिक रीति-नीतियों के असन्तोष के कारण ही चल रहे हैं।

असामान्य मनोविज्ञान की नींव रखने वाले व्यक्तियों में फ्रायड जुंग और एडलर तीन अधिक प्रसिद्ध हैं। फ्रायड ने दुर्समायोजन और उससे उत्पन्न होने वाली व्यावहारिक

---

[1] We call our fathers fool so wise we grow
Our wiser sons will call us so.

अव्यवस्था का कारण काम कुन्ठायें बतायीं। सामाजिक रीति-नीतियों के कारण जब व्यक्ति अपनी कामेक्षा तृप्त नहीं कर पाता है तो उसके व्यवहार में अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। जुंग ने उनका कारण बताया युग, युग ही नही वरन् परम्परा से चला आने वाला युग। वह सामूहिक अचेतना सगृहीत रहता है। एडलर ने इस विषय पर जो सिद्धान्त निर्मित किया उसका आशय यह है कि मनुष्य शक्ति और अधिकार चाहता है और उसकी उपलब्धि न होने पर वह आन्दोलन कर उठता है। इससे आक्रामक समाजवाद का जन्म होता है।

इन तीनों सिद्धान्तों का यदि तटस्थ मूल्यांकन किया जाय तो ज्ञात होगा कि इसमें दुर्समायोजन का कारण ही बताने का प्रयत्न किया गया है। एडोल्फ मेयर के आमने-सामने के अन्तरावलोकन विधि (फेस टु फेस इन्टरव्यू टेक्नीक) से भी इसी बात का समर्थन होता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि सामाजिक राजनैतिक और आर्थिक पर्यावरण में मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियों का संघर्ष होता है इसलिये मेयर के अनुयायियों ने बताया कि तीनों असामान्य मनोविज्ञान के प्रणेताओं का प्रयत्न मनो-जैविकीय (सायकोबायलोजीकल) था।

असामान्य मनोविज्ञान के पूर्व प्रणेताओं और नव फ्रायडवादियों के बीच मेयर एक सेतु की भांति है नव-फ्रायडवादियों में तीन नाम आते हैं—करन हार्नी ऐरिच तथा हेरी स्टॉक सुलीवन। फ्रायड की भांति नव-फ्रायडवादी भी अचेतन लालसा (अनकांसस-मोटीवेशन) और दमन (रिप्रेशन) पर बल दिया करते हैं। इनके कारण व्यक्ति में चिंता पैदा होता है और वह विभिन्न प्रकार के व्यवहारों में व्यक्त होती है। इन प्रतिक्रियाओं को 'सुरक्षा विधि' (डिफेन्स मिकेनिज्म) कहा जाता है। फ्रायड से इनका मतभेद है कि यह गेस्टाल्ट मनोविज्ञान के समग्रतावाद को स्वीकार कर लेते हैं और व्यक्तियों का एक दूसरे पर प्रभाव भी मानते हैं। हार्नी के मतानुसार मनुष्य के व्यक्तित्व को समझने के लिए उसकी सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि समझना अति आवश्यक है। फ्रोम ने अन्तर व्यक्ति सम्बन्ध का क्षेत्र अधिक व्यापक बनाया और उसमें प्रकृति तथा विश्व का सम्बन्ध भी सम्मिलित कर लिया। इसमें जुंग का सामूहिक अचेतना का सिद्धान्त गूंजता है। इस अणु युग में अंतरिक्ष (स्पेस) का भी महत्व बढ़ गया है। मनुष्य को अंतरिक्ष से अपनी रक्षा करनी ही पड़ेगी अथवा वह अंतरिक्ष में ही नष्ट हो जायेगा। हेरी सुलीवन ने इसी चिन्तन पथ पर आगे बढ़कर बताया कि मानवीय व्यवहार के दो उद्देश्य हैं—(१) उसकी प्रारम्भिक आवश्यकताओं (बेसिक नीड्स) की पूर्ति जैसे, भूख, प्यास, काम आदि तथा (२) आत्म रक्षा की भावना।

इस प्रकार फ्रायड से सुलीवन तक असामान्य मनोविज्ञान ने एक लम्बा मार्ग तय किया और मनुष्य के असामान्य व्यवहार पर दो प्रकार से प्रकाश डाला—

(१) व्यक्ति या समाज को अपनी प्रारम्भिक आवश्यकताओं की तृप्ति में कमी को पूर्ण करने या उनकी पूर्ति में आने वाली बाधाओं का सामना करने में विभिन्न प्रकार का व्यवहार करना पड़ता है।

(२) और यदि (१) स्थिति के साथ ऐसा पर्यावरण उपस्थित हो जाता है कि व्यक्ति

या समाज का आत्मभाव या सुरक्षा खतरे में पड़ जाती है तो उसके व्यवहार में बहुत अधिक दुर्समायोजन देखने मे आने लगता है।

इन विचारो को सत्तावादी मनोविज्ञान से और अधिक बल मिलता है रोलामें के अनुसार मनुष्य अपनी क्रियाओ से अपने को परिभाषित करता है और ऐसा करने मे वह मानव जाति को परिभाषित करता है। उसके विचार से सबसे बडी चिन्ता का कारण मृत्यु या भुखमरी है और आजकल तो इस बात का भी भय है कि उद्जन बम से मनुष्य जाति का ही विनाश न हो जाये। इस विचार का परिमार्जन करते हुये कुर्ट गोल्डस्टीन ने कहा कि मनुष्य अपने को यथार्थ रूप मे देने का सतत् प्रयत्न किया करता है। इस प्रक्रिया मे तरह तरह के तनाव पैदा होते हैं। कार्ल रोजर्स ने और आगे बढ़ कर कहा कि: -

(१) अनुभव के बदलते हुए ससार के बीच एक व्यवस्थित समष्टि हैं। दोनों एक दूसरे से प्रभावित होते है ।

(२) अपने पर्यावरण के नित्य सम्पर्क मे वह दृष्टिगत क्षेत्र से अपने को 'मै' और 'मेरे' क रूप मे भिन्न समझता है।

(३) उसका मूल उद्देश्य अनुभव कर्ता शरीरी को यथार्थ रूप देने पालन करने और विकसित करने मे ही निहित है।

इस सिद्धान्त मे योगदान देते हुए जेलेड और मिलर ने बताया कि मनुष्य सीखने की क्रिया के द्वारा अपने को यथार्थ रूप प्रदान करता है और अपनी चिन्ता कम करता है या समाप्त कर देता है। उसके अनुसार सीखने के चार मुख्य अंग है—प्रणोद (ड्राइव), सकेत (क्यू), प्रतिक्रिया (रिसपौंस) और परिपुष्टीकरण (री-इन्फोर्समेंट)। ये शब्द पेवलाव, थार्नडाइक हल आदि मनोवैज्ञानिकों का स्मरण दिलाते है। इनके अनुसार आदत (कण्डीशनिंग) मनुष्य को स्वय प्रतिक्रिया करने के लिये तैयार करती है प्रजातन्त्र और तानाशाही किसी न किसी प्रकार सीखने की क्रिया का ही आश्रय लेते है। व्यक्ति और समाज इसे सीखने के द्वारा ही अपने यथार्थ रूप को पाने का प्रयत्न करते है।

इस व्याख्या की पृष्ठभूमि पर अब हम भारत में फैली व्यापक अशान्ति पर विचार करेंगे। स्वतंत्र भारत के सम्विधान से जन साधारण को यह आशा हुई थी कि देश में एक नया संसार बनेगा, जिसमे गरीबी, विषमता, असुरक्षा और बेकारी न रह जायेगी। व्यक्ति और समाज दोनों के सामने अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करने मे बाधा न मिलेगी, बीच मे आने वाली बाधायें सरकार दूर कर देगी। तीन पचवर्षीय योजनाये और आम चुनाव हो चुके हैं किन्तु उनसे अपना वास्तविक स्वरूप पाने में हमे सहायता नही मिली और न इच्छित सुरक्षा ही प्राप्त हो सकी।

मनोवैज्ञानिको का यह काम नही कि वे किसी को दोषी ठहरावें किन्तु यह सत्य है कि देश की जनसंख्या का एक बहुत बडा भाग असन्तुष्ट है और वह दुर्समायोजन से ग्रसित है। भेदभाव और पक्षपात की शिकायतें हर तरफ दिनोंदिन बढ़ती जा रही है

और सुरक्षा के प्रति चिन्ता बढ़ती जा रही है। मंहगाई व्यापक बेरोजगारी और निम्न श्रेणी के कर्मचारियों के कम वेतन के कारण मृत्यु की मूल प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। जेलेंड और मिलर की सीखने की प्रक्रिया से शासन को कोई लाभ नहीं हुआ। उससे जनता की प्राथमिक और द्वितीयक मागें पूरी न हो सकीं। असंतोष बढ़ता गया, पहले कुछ दबा रहा और अब स्पष्ट दिखाई देने लगा। वही विद्रोह का रूप धारण करता जा रहा है।

वर्तमान स्थिति का गम्भीर अध्ययन होना चाहिए और शीघ्र ही सुरक्षा का प्रबन्ध तथा आर्थिक नियोजन के द्वारा प्राथमिक आवश्यकताओं के पूर्ति की चिंता दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। यह कार्य-भार अर्थशास्त्रियों, राजनीतिज्ञों और भविष्य की योजना बनाने वालों पर है। मनोवैज्ञानिक तो केवल इतना कह सकता है कि इस समस्या का हल अविलम्ब होना चाहिए

बर्गसां का अन्तरानुभूतिवाद

प्रतापचन्द्र शुक्ल

हेनरी बर्गसाँ एक युग प्रवर्तक प्रति-बौद्धिक दार्शनिक के रूप में प्रसिद्ध है। उसने बुद्धि को मूल तत्व का ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ माना और इस क्षेत्र में अन्तर्ज्ञान का महत्व प्रतिपादित किया। अन्तर्ज्ञान की भावना पूर्व या पश्चिम के दर्शन में कहीं नवीन नहीं है, किन्तु बर्गसाँ ने जिस अन्तर्दृष्टि का प्रसंग चलाया है वह सर्वथा अपने प्रकार का एक ही है। परवर्ती दार्शनिक चिन्तकों ने उस पर विशेष रुचि प्रकट की है और प्रायः आलोचना का लक्ष्य बनाया हैं। मेरा उद्देश्य उनकी पुनरावृत्ति करना नहीं है वरन् उसके औचित्य पर एक दृष्टिपात करना है।

विश्लेषणात्मक दर्शन के इस युग में यह विशेष संदेह की बात है कि अन्तर्ज्ञानात्मक सहज-ज्ञान जैसी कोई चीज वास्तव में है या नहीं; और यदि है तो वह किन परिस्थितियों में प्रमाणित और स्वीकरणीय हो सकती है? क्या ऐसा कोई ज्ञान भी हो सकता है जो तर्क-वाक्यों में न प्रकट किया जा सके और फिर भी विश्वसनीय हो? इस देश के अधिकांश दार्शनिकों ने सत्य का ऐसा दर्शन किया है जो तर्क, वाद-विवाद और प्रमाण का विषय नहीं है। उनके विचार से दार्शनिक बारीकियों से होने वाली दिमाग की कसरत उच्च जीवन में बाधा डालती है। मन को साधना के द्वारा अतीत की छापों से मुक्त किया जा सकता है और अपने ज्ञान के विषय के साथ ऐक्य स्थापित हो सकता है। इस प्रकार उस विषय के स्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। किन्तु पश्चिमी विचारधारा में ऊहापोहात्मक बुद्धि का अवलम्बन अधिक लिया गया है। पैथागोरस सुकरात आदि से लेकर देकार्त, स्पिनोजा, लाइब्नीज, काण्ट, हीगेल तक अनेक तर्क बुद्धि समर्थक दार्शनिकों के नाम लिये जा सकते हैं। पश्चिमी दार्शनिक विचारधारा का समूचा इतिहास तर्क की प्रधानता का एक विशेष उदाहरण है। आज का विश्लेषणात्मक दर्शन भी उसी शृंखला की एक कड़ी है। फिर भी पश्चिम के कुछ दार्शनिक तर्क जन्य ज्ञान की क्षमता पर आक्षेप करते रहे हैं। उन्होंने विश्लेषणात्मक बुद्धि के अतिरिक्त अन्तर्ज्ञान की महत्ता स्वीकार की है। बर्गसां उनमें अग्रगण्य और समर्थ प्रति-बौद्धिक दार्शनिक है।

ऐंद्रियिक या प्रत्यक्ष ज्ञान को छोड़कर दो प्रकार का ज्ञान होता हैं— बौद्धिक तर्क और अन्तर्ज्ञानात्मक बोध। बौद्धिक तर्कजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान से प्राप्त सामग्री का विश्लेषण करने पर प्राप्त होती है। यह अप्रत्यक्ष और प्रतीकात्मक होता है। अनुभव और विश्लेषण में वृद्धि होने पर इसकी व्याख्यायें बदलती रहती है। व्यावहारिक जीवन और परिस्थितियों पर इसी के द्वारा नियंत्रण रखा जाता है। बर्गसाँ ने तर्कजन्य ज्ञान की प्रतीकात्मकता पर बल दिया है। भौतिक या अभौतिक कोई भी वस्तु हो, हमारी बुद्धि उसके बाहर ही बाहर रहती है, वह हमें अपने अन्तर्तम तक नहीं ले जाती है। कोई व्यक्ति पेरिस के विषय में कितनी ही बातें करे किन्तु उसे पेरिस का वह ज्ञान नहीं हो सकता जो उसे प्रत्यक्ष देखने वाले को होगा। सूर्यास्त का सौन्दर्य सूर्यास्त का विश्लेषण करने पर नहीं मिलेगा। कुछ गुणों का समूह सूर्यास्त नहीं है। यदि संकल्पनात्मक विश्लेषण से हमें यथार्थ वस्तु के यथार्थ भाग प्राप्त होते तो यह सम्भव था कि हम उन्हें परस्पर जोड़कर उनसे मूल वस्तु प्राप्त कर सकते, किन्तु केवल सकेतों से यह सम्भव नहीं है। बुद्धि के द्वारा किसी वस्तु का विश्लेषण तो सहज ही दिया जा सकता है किन्तु जब उसका संश्लेषण किया जाता है तो उसकी सारी किया कृत्रिम होती है। उसके परिणाम भी कृत्रिम होते हैं।

इसके अतिरिक्त बर्गसाँ के अनुसार यथार्थ सत्ता, जीवन, गति, कालावधि (duration) और मूर्त नैरन्तर्य अन्तर्ज्ञान से ज्ञातव्य है जबकि तर्क-बुद्धि से प्राप्त होने वाली संकल्पनायें कालहीन, गतिहीन और मृत होती हैं। यदि समस्त ज्ञान संकल्पात्मक ही होता तो सत्य न केवल मानवीय मन की पकड़ के बाहर होता बल्कि स्वयं सर्वज्ञ भी उसे न जान पाता। अतः पूर्ण निरपेक्ष ज्ञान का सही साधन बुद्धि नहीं अन्तर्ज्ञान है इसी बात को ब्रैडले और क्रोचे भिन्न प्रकार से कहते हैं।

जीवन-बल (life impulse) अपने पर्यावरण पर नियन्त्रण रखने के लिए बुद्धि का विकास करता है। बुद्धि क्रिया के लिए आवश्यक है। अन्तर्ज्ञान का आधार भी जीवन-बल है। ज्ञान के ये दोनों साधन विकास प्रकिया में क्रमशः उत्पन्न नहीं होते हैं। बर्गसाँ इन दोनों का विकास साथ साथ मानता है। एक का विकास बढ़ते हुये कीटों में समाप्त होता है और दूसरे का विकास मनुष्य में सर्वाधिक हुआ है। बुद्धि और अन्तर्ज्ञान दोनों भिन्न उद्देश्यों से भिन्न दिशा में विकसित हुए है। दोनों एक दूसरे से विपरीत प्रकृति के होते हुए भी आपस में परिपूरक हैं। जीवन-बल ने बुद्धि को व्यावहारिक जीवन के लिए विकसित किया। यह उपकरण बनाने वाली शक्ति है जिसके द्वारा जीवन निर्जीव द्रव्य को अपनी निज की शक्तियों के विस्तार के लिए साधनों के रूप में गढ़ता है। किन्तु यदि हम यथार्थ वस्तु के आन्तरिक स्वरूप को जानना चाहते हैं तो हमें सारे व्यक्तित्व का उपयोग करना पड़ेगा जिसमें अन्तर्ज्ञान की विशेष आवश्यकता है।

बर्गसाँ के अन्तर्ज्ञान की एक विशेषता यह भी है कि यह मूल-प्रवृत्यात्मक है। मूल-प्रवृत्ति परिमार्जित, चेतन और आध्यात्मिक होकर अन्तर्ज्ञान का रूप धारण कर लेती है। सामान्यतः मूल-प्रवृत्ति को एक ऐसी उच्च शक्ति माना जाता है जो जन्म-जात

प्राप्त होकर प्राणी के जीवन रक्षा में सतत् सक्रिय रहती है। कीट पतंगों में यह शक्ति स्पष्ट देखने में आती है। उनके जीवन की नियमित क्रियायें मूल-प्रवृत्ति से ही संचालित होती हैं। मनुष्य में भी मूल-प्रवृत्तियों का कार्य दिखाई देता है। साहित्य संस्कृति और कलायें मनुष्य की मूल-प्रवृत्तियों का परिमार्जन और शोधन करती हैं। फिर भी मूल प्रवृत्यात्मक शक्ति अचेतन ही प्रतीति होती है।

बर्गसाँ मूल-प्रवृत्ति में चेतना भी स्वीकार करता है वह कहता है कि ज्ञान और क्रिया एक ही शक्ति (faculty) के दो पक्ष हैं। ज्ञान चेतन क्रिया के अतिरिक्त कुछ नहीं है। मूल-प्रवृत्ति से उत्पन्न क्रिया में चेतना या ज्ञान का अभाव है, यह नहीं कहा जा सकता है। पाषाण खण्ड के गिरने की क्रिया में चेतना नहीं है क्योंकि वह अपने गिरने का अनुभव भी नहीं करता है; किन्तु कीट की मूल-प्रवृत्यात्मक क्रिया में चेतना उपस्थित रहती है। उसे उस क्रिया का अनुभव होता है। यदि उसकी क्रिया में बाधा डाली जाय तो कीट के प्रवृत्यात्मक ज्ञान की अभिव्यक्ति होने लगती है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मूल-प्रवृत्ति में ज्ञान अन्तर्निहित रहता है।

कीटों में केवल मूल-प्रवृत्ति ही उपस्थित रहती है। बुद्धि का अभाव रहता है, या बहुत कम मात्रा में उपलब्ध होती हैं। इसलिए उनकी मूल-प्रवृत्यात्मक क्रिया में और अनुभूति में बुद्धि की बाधा नहीं पड़ती है। मनुष्य में बुद्धि की प्रधानता है। मूल प्रवृत्यात्मक ज्ञान प्रच्छन्न रहता है। बुद्धि के अनासक्त रहने पर वह कभी-कभी उदय होता है। कलात्मक रचना क्रिया में और अपने जीवन के अस्तित्व का अनुभव करने में वह यदा कदा प्रतीत होता है।

बर्गसाँ का यह मूल प्रवृत्यात्मक ज्ञान ही अन्तर्ज्ञान हैं। यह कोई रहस्यपूर्ण ज्ञान का साधन नहीं है। यह प्रत्येक व्यक्ति के व्यवहार में अनुभव किया जाता है। यह अन्तर्ज्ञान बुद्धि के परे नहीं है। इसलिए उसकी सत्ता से सम्बद्ध तर्क-वाक्य (Proposition) अर्थहीन नहीं बताये जा सकते हैं। अन्तर्ज्ञान से प्राप्त अनुभव शब्द प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त करने में अवश्य कठिनाई होती है। उसका कारण यही है कि भाषा बुद्धि का उपकरण है और बौद्धिक ज्ञान की प्रकृति अन्तर्ज्ञान से विपरीत है। शब्द प्रतीकों द्वारा अन्तर्ज्ञान की ओर व्यक्ति को उन्मुख किया जा सकता है। अन्तर्ज्ञान का अनुभव उसे स्वयं करना पड़ेगा।

बर्गसाँ के अन्तर्ज्ञान में यह सुभीता है कि इसमें बुद्धि के परे जाकर अन्तर्ज्ञान की उपलब्धि नहीं करनी पड़ती है। बुद्धि का अपना काम है और वह अपने क्षेत्र में रह सकती है। अन्तर्ज्ञान फिर भी अपने क्षेत्र में पूर्णतः सक्रिय और सफल रह सकता है। दोनों का क्षेत्र भिन्न भले ही हो, बर्गसाँ उन्हें एक दूसरे का विरोधी नहीं मानता है। बर्गसाँ के इस अन्तर्ज्ञान की उद्भावना से तत्व ज्ञान की रक्षा हो जाती है और विज्ञान का क्षेत्र भी अक्षुण्ण रहता है।

वेदान्त दर्शन में अन्तर्ज्ञान का बड़ा महत्व है। श्री अरविंद ने भी उसकी विशद विवेचना की है। वेदान्त का अन्तर्ज्ञान बर्गसाँ के अन्तर्ज्ञान से बहुत भिन्न है। वेदान्त के अनुसार आत्म-तत्व परम सत् है। वह चेतन और आनन्द स्वरूप भी है। आत्मा के द्वारा

आत्मा का जानना ही अन्तर्ज्ञान है। यह जानना बुद्धि जैसा ज्ञाता-ज्ञेय का भेद रखकर जानना नहीं है। बुद्धि भौतिक ज्ञान का साधन है। आत्मा का आध्यात्मिक ज्ञान बुद्धि की सीमा के बाहर है। बर्गसां के अन्तर्ज्ञान में भी ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहता है। बुद्धि उस सीमा में प्रवेश नहीं कर सकती। वह भौतिक पदार्थों के ज्ञान में सहायक है। इन बातों में दोनों प्रकार के उक्त अन्तर्ज्ञान एक से हैं। किन्तु वेदान्त अन्तर्ज्ञान रहस्यात्मक है। सामान्य जीवन में जनसाधारण को उसका अनुभव नहीं होता है। उसके अनुभव के लिए विशेष साधना की अवश्यकता है। बर्गसाँ का अन्तर्ज्ञान रहस्यात्मक नहीं है। उसका अनुभव साधारण जीवन में सबको यदा कदा हुआ करता है। किसी कलाकृति की सुन्दरता अन्तर्ज्ञान से ही जानी जाती है। बुद्धि उसकी नाप जोख कर सकती है, उसकी रचना के सिद्धान्त निर्धारित कर सकती है किन्तु उसकी अनुभूति करना उसके वश की बात नहीं है। कलाकृति से तादात्म्य भाव उपलब्ध कर उसकी सुन्दरता का भान कराना अन्तर्ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। स्पष्टतः यह अन्तर्ज्ञान की भाँति चाहे बहुत उत्कृष्ट और गम्भीर न हो किन्तु उसकी तरह रहस्यात्मक नहीं है। बर्गसां का अन्तर्ज्ञान बुद्धि के ज्ञान क्षेत्र के बाहर होते हुए भी बुद्धि से अग्राह्य नहीं प्रतीत होता। अन्तर्ज्ञान की उपलब्धियाँ सामान्य व्यक्ति के इतने निकट हैं कि बुद्धि भी उनका समर्थन कर सकती है।

बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद में कर्मफल-व्यवस्था और पुनर्जन्म

श्रीनिवास शास्त्री

बौद्ध दर्शन का मन्तव्य है—"प्राणी शारीरिक और मानसिक धर्मों के संघात से बना है और उसमें कोई शुद्ध एकरस रहने वाला शाश्वत अंश आत्मा या पुरुष नहीं है।"[1] साथ ही ये सभी शारीरिक और मानसिक धर्म भी क्षणिक हैं, प्रतिक्षण उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं। इसलिये यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि इस क्षणिकवाद एवं अनात्मवादी दर्शन में कर्मफल-व्यवस्था और पुनर्जन्म व्यवस्था कैसे बन सकती है। किस आधार पर बुद्ध भगवान ने इस व्यवस्था को स्वीकार किया है तथा उत्तरकालीन बौद्ध दर्शन के आचार्यों ने भी इसका समर्थन किया है।

बौद्ध दर्शन के प्रति इस प्रकार के आक्षेप प्राचीन काल से ही किये जाते रहे हैं। उद्योतकर ने न्यायवार्तिक में निर्देश किया था कि बौद्धों के मतानुसार तो व्यक्ति के किये हुए कर्मों का नाश हो जायगा और बिना किये कर्म भोगने पड़ेंगे।[2] इसकी व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र बतलाते हैं—सामान्य नियम यह है कि जो व्यक्ति कर्म करता है उसे ही कर्म का फल मिलता है।[3] किन्तु बौद्ध दर्शन के अनुसार शारीरिक तथा मानसिक धर्मों का संघात ही कर्म करता है। वह कर्म करने वाला संघात कर्म करते ही नष्ट हो जाता है। और दूसरे क्षण में दूसरा ही संघात होता है। इसी प्रकार अग्रिम अग्रिम क्षणों में भिन्न भिन्न संघात हो जा है और जो संघात कर्म-फल भोगता है वह कर्म करने वाले की अपेक्षा नितान्त भिन्न होता है। यह तो इसी प्रकार होता है जैसे देवदत्त अपराध करता है और यज्ञदत्त को भोगना पड़ता है। अत: स्पष्ट ही कृत प्रणाश और अकृत अभ्यागम दोष होता है।

---

[1] भिक्षु जगदीश काश्यप, संयुक्त निकाय. आमुख, पृ० ११।

[2] तद् एवम् अकृतकृताभ्यागम विनाश दोष प्रसङ्गः, न्यायवार्त्तिक, पृ० ३५० •पं० १७।

[3] शास्त्रचोदितं फलम् अनुष्ठातरीत्युत्सर्गः, न्यायवार्त्तिक तात्पर्य टीका, पृ० ५६।

इस आक्षेप का निराकरण बौद्ध दर्शन के ग्रन्थों में किया गया है तथा वाचस्पति मिश्र ने भी बौद्धों के एतद्विषयक मन्तव्य का निरूपण किया है। बौद्ध दर्शन का अभिप्राय यह है — ठीक है कि जो शारीरिक और मानसिक धर्मों का संघात कर्म करता है, वह नष्ट हो जाता है किन्तु उस संघात का संतान (धारा) तो प्रवाहित होता रहता है। इस प्रकार जिस चित्त संतान का कोई चित्त-क्षण कर्म करता है उसी चित्त-संतान का उत्तरकालीन कोई चित्त-क्षण उस कर्म के फल को भोगता है।[1] इसी जन्म में नहीं पुनर्जन्म में भी यह व्यवस्था बन जाती है। इसलिए जैसा कि बोधिचर्यावतार पञ्जिका में बतलाया गया है, यह कर्मफल की व्यवस्था संतान की एकता के आधार पर बन सकती है।[2] जो विज्ञान सतान या चित्त-संतान कर्म करता है, वही फल भोगता है अतः न्याय आदि का आक्षेप युक्ति युक्त नहीं।

यहां प्रश्न उठ सकता है कि उसी चित्त-संतान का उत्तरकालीन चित्त-क्षण उस कर्म के फल को क्यों भोगता है, दूसरे चित्त-संतान का क्षण क्यों नहीं भोगता। बौद्ध दर्शन की ओर से इसका उत्तर यह दिया जाता है कि जिस प्रकार विज्ञानों के कारण-कार्य-भाव से स्मृति की व्यवस्था हो जाती है उसी प्रकार कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व की भी।[3] यह कहा जा सकता हैं कि क/१ नामक विज्ञान-क्षण ने कोई कर्म किया। वह विज्ञान-क्षण नष्ट हो गया तथा उससे क/२ नामक विज्ञान-क्षण उत्पन्न हो गया। वह क/२ विज्ञान-क्षण क/१ क्षण के कर्म द्वारा उत्पादित वासना सहित उत्पन्न होता है। इसी प्रकार उस चित्त-संतान में तृतीय और चतुर्थ आदि चित्त-क्षण भी उस कर्म-वासना से वासित ही हुआ करते हैं। जब उस कर्म का विपाक होता है अर्थात् उसके फल-भोग का अवसर आता है तो उसी चित्त-संतान का कोई चित्त-क्षण उसका फल भोगता है। यहाँ कर्म करने वाला चित्त-क्षण कारण रूप होता है और फल भोगने वाला कार्य रूप। इस प्रकार कारण चित्त-क्षण के किये कर्म को कार्य चित्त-क्षण भोगता है, जैसाकि निम्न रेखा-चित्र से स्पष्ट होता है—
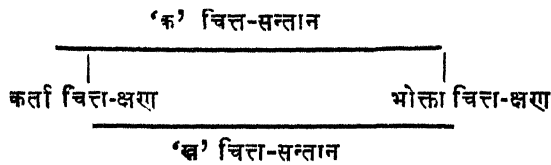
दूसरी 'ख' नामक चित्त-संतति के चित्त-क्षणों से तो 'क' नामक चित्त-क्षणों का कारण-कार्य-भाव सम्बन्ध है नही अतः उस चित्त-संतान में क/१ चित्त-क्षण के किये कर्म की वासना ही नहीं रहती तथा उसमें आने वाले चित्त-क्षण ,क/४' के किये कर्म का फल नहीं भोगते।

---

[1] मिलाईये, न्यायवर्तिक तात्पर्य टीका पृ० ५०६.पं० ८।

[2] सन्तानैक्यम् आश्रित्य कर्त्ता भोक्तेति देशितम्, बोधिचर्यावतार-पञ्जिका पृ० ४७१।

[3] हेतुफलभावात् स्मृतिवत् कर्तृभोक्तृत्वव्यवहारः न्यायवार्त्तिक पृ० ३५०।

इस मन्तव्य को एक भौतिक दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है—कृषक जब कपास के बीजों को लाक्षारस की भावना देते हैं। उन बीजों से जो पौधे उत्पन्न होते है, उन पर लगने वाली कपास में लाक्षा-रस की लालिमा आ जाती है। इसी प्रकार आम के बीज को मधुर-रस की भावना दी जाती है और परम्परा से आम के फ़ल मधुर हो जाते हैं ठीक इसी प्रकार जिस चित्त-सन्तान में कर्म-वासना होती है उसका कोई चित्त-क्षण कर्म का फल भोगता है। अन्य चित्त संतान का क्षण नहीं।[1]

बौद्ध दर्शन का यह भी कथन हैं कि कर्म करने वाला ही फल भोगता है, इस नियम का विरोध तो वैदिक क्रियाकलाप में भी देखा जाता है, उदाहरणार्थ यह विश्वास किया जाता है कि पुत्र-पौत्र आदि जो श्राद्ध करते हैं उसका फल पितरों को मिलता है, इसी प्रकार माता-पिता जो वैश्वानरीय यज्ञ करते हैं उसका फल पुत्र की उत्पत्ति के रूप में होता है।[2] इस प्रकार नियम यह बनता है कि कहीं तो कर्म करने वाला स्वयं फल भोगता है और कहीं उसकी परम्परा का कोई अन्य व्यक्ति। तब तो अनात्मवाद में कर्म-फल-व्यवस्था स्वत: सिद्ध ही है क्योंकि जिस चित्त-सन्तान का कोई क्षण कर्म करता है उसी का अन्य क्षण फल भोगता है।

कारण-कार्य-भाव के आधार पर कर्म-फल-व्यवस्था बन जाने पर भी एक शाश्वत आत्मा के बिना पुनर्जन्म की व्यवस्था बनना तो कठिन ही नहीं, असम्भव सा प्रतीत होता है। फलत: बौद्ध दर्शन के प्रति यह आक्षेप किया जा सकता है कि पुनर्जन्म की व्यवस्था ही बौद्ध दर्शन में नहीं बनती तो बुद्ध के सभी साधना के उपदेश और निर्वाण सम्बन्धी देशनायें व्यर्थ ही है। इसका निराकरण करने के लिये बौद्ध दर्शन में हृदय ग्राह्य युक्तियों तथा सम्पुष्ट प्रमाणों के आधार पर पुनर्जन्म का यह विवेचन किया गया है। बौद्ध दर्शन के आधुनिक समीक्षकों ने भी इस पर प्रकाश डाला है। रूसी विद्वान् श्चेरबात्स्की का विचार है—संघात रूप धर्मो का यह प्रवाह, जो वर्तमान जीवन तक ही सीमित नहीं किन्तु जिसका मूल अतीत की सत्ता में है और जो भविष्यत् जीवन में भी निरन्तर विद्यमान रहता है, बौद्ध दर्शन में अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के आत्मा या व्यक्तित्व का प्रतिरूप है।[3]

इससे प्रकट होता है कि भौतिक और मानसिक धर्मों का संघात ही पुनर्जन्म ग्रहण करता है। कैसे ? इसका उत्तर वसुबन्धु के अभिधर्मकोश का अनुशीलन करने से

---

[1] मिलाईये, यस्मिन्नैव सन्ताने आहिता कर्मवासना।
फलम् तत्रैव बन्धाति कर्पा से रक्तता यथा॥
बोधिचर्यावतार पंजिका, पृ० ४७२।

[2] मिलाईये, तत्व वैशारदी, योगसूत्र १.३२।

[3] This stream of elements kept together and not limited to present life but having its roots in past existences and its continuation in future ones, is the Buddhist counterpart of the soul or the self of other system.
Central conception of Buddhism (London, 1953) p. 26.

प्राप्त होता है। उसके अनुसार 'कर्म तथा अविद्या आदि क्लेशों से संस्कृत स्कन्धमात्र मृत्यु के पश्चात् अन्तराभव-सतति के रूप मे दूसरी योनि मे चला जाता है।' यद्यपि यह अन्तराभव एक नही होता तथापि इसकी सन्तति-सतान या प्रवाह की दृष्टि से इस एक कह दिया जाता है, जिस प्रकार अविच्छिन्न दीप कलिका को एक समझा जाता है।[1]

विचारणीय यह है कि यह अन्तराभव क्या है? क्या अन्य दार्शनिक सम्प्रदायो की आत्मा या जीव का ही, विशेष परिस्थिति मे, यह नामान्तर से प्रतिपादन तो नही है? वसुबन्धु ने अन्तराभव के स्वरूप पर कुछ विस्तार से विचार किया है। उनके अनुसार चार प्रकार की योनियाँ हैं—अण्डज, जरायुज, सस्वेदज और उपपादुक। जो योनियाँ प्रथम तीन से भिन्न है उन्हे ही उपपादुक योनि कहा जाता है। नारकीय जीव देव और अन्तराभव आदि उपपादुक योनि के अन्तर्गत है।[2]

अन्तराभव के स्वरूप का विवरण देते हुए नालन्दिका टीका में बतलाया गया है कि मृत शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को ग्रहण करने तक मध्य मे जो विज्ञान-सनति चलती है वही अन्तराभव है।[3] वस्तुत: अभिधर्मकोश से ऐसा प्रतीत होता है कि केवल विज्ञान-संतति ही अन्तराभव नही है अपितु पंचस्कन्ध का एक सूक्ष्म संघात अतन्राभव कहलाता है।[4] अभिधर्मकोश के अनुसार एक अन्तराभव को दूसरा अन्तराभव देख सकता है, शुद्ध दिव्य दृष्टि द्वारा भी उसको देखा जा सकता है। वह कर्म की शक्ति से मार्ग-गमन मे वेग-युक्त होता है, समस्त इन्द्रियो से संयुक्त होता है तथा उसकी गति मे ठोस द्रव्यों से भी प्रतिघात नही हो सकता। जिस प्रकार धनुष से छूटा हुआ बाण फिर लौटाया नही जा सकता, उसी प्रकार अपने गमन-मार्ग मे उसे लौटाया नही जा सकता, वह गन्ध का भक्षण करता है।[5]

यह अंतराभव क्यो गमन करता है? यह भी अभिधर्मकोश में बतलाया गया है—भ्रांति में पड़ा हुआ यह अतराभव भोगों की तृष्णा से अन्य शरीर की प्राप्ति के लिये गमन करता है।[6] इस अतराभव को 'गधर्व' नाम से भी कहा गया है।[7] गन्धर्व शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'गन्ध भोक्तुम अर्वति गच्छति'—जो गध का भक्षण करने के लिये जाता है। मज्झिम निकाय (३,२,६,५) मे भी इसका गंधर्व शब्द से उल्लेख करा गया है।

---

[1] नात्मास्ति स्कन्धमात्रम् तु कर्म क्लेशाभिसंस्कृतम्।
अन्तराभवसन्तत्या कुक्षिमेति प्रदीपवत॥ अभिधर्मकोश, ३.१८।

[2] वही, ३ ६।

[3] वही, ३.६।

[4] स्कन्धमात्रम् तु वही ३.१८।

[5] स जाति शुद्ध दिव्याक्षिदृश्य: कर्मर्द्धिवेगवान्।
सकलाक्षोऽप्रतिघवान् अनिवर्त्य: स गन्धभुक्॥ वही, ३.१४।

[6] विपर्यस्तमतिर्याति गतिदेशं रिरंसया वही ३.१५।

[7] वही, ३.१२।

अभिधर्मकोश से यह भी विदित होता है कि बौद्धों में कुछ आचार्य ऐसे भी थे जो इस अविच्छिन्न प्रवाह वाले अन्तराभव या गंधर्व की सत्ता को स्वीकार नहीं करते थे। उनका विचार था कि जिस प्रकार दर्पण में (मुख आदि) बिम्ब का संतान या अविच्छिन्न प्रवाह नहीं जाता फिर भी मुख आदि का प्रतिबिम्ब उसमें देखा जाता है, उसी प्रकार मृत शरीर और भावी शरीर के मध्य किसी अंतराभव नामक संतति की आवश्यकता नहीं। यहाँ भी प्रतिबिम्ब-न्याय से ही भावी शरीर में चेतना की उत्पत्ति हो सकती है। इन आचार्यों के मत का युक्तियों तथा भगवान् बुद्ध के वचनों के आधार पर निराकरण किया गया है [1]। फलत: अंतराभव की स्वीकृति बौद्ध दर्शन का सिद्धांत मत है, इसमें संदेह नहीं।

आगे चलकर धर्मकीर्ति ने भी पुनर्जन्म के निमित्त का विचार करते हुए, प्राय: वसुबन्धु के समान ही, अविद्या और तृष्णा को जन्मांतर-प्राप्ति (बध) का कारण बतलाया है,[2] तथा यह भी स्पष्ट किया है, कि मृत शरीर से निकलने वाले और भावी शरीर में जाने वाले 'अंतराभव' नामक शरीर को हम दृष्टि की मन्दता के कारण नहीं देख पाते। [3]यहाँ यह शङ्का भी उठाई गई है कि अंतराभव शरीर तो मूर्त्त है, वह दूसरे (भावी) मूर्त्त शरीर में कैसे प्रविष्ट हो सकता है। इसका समाधान करते हुए बतलाया गया है कि सूक्ष्म मूर्त्त वस्तु भी अन्य मूर्त्त वस्तु में प्रविष्ट हो जाया करती है, जैसे घट में जल और सुवर्ण में सूत्र।[4]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बौद्ध दर्शन में अंतराभव नामक एक शरीर माना गया है जो मृत शरीर को छोड़कर भावी शरीर में जाता है इस अंतराभव को अन्य दार्शनिकों के आत्मा या व्यक्ति का स्थानी कहना तो उचित न होगा। हाँ, सांख्य आदि के अभिमत सूक्ष्म शरीर के साथ इसका बहुत अधिक साम्य है। एक प्रकार से इसे सूक्ष्म शरीर का रूपांतर कहा जा सकता है। इसके द्वारा पुनर्जन्म की व्यवस्था अनायास ही बन जाती है।

वस्तुत: आत्मवाद का पुनर्जन्म के साथ कोई अविनाभावी सम्बन्ध नहीं है। जो सांख्य आदि दर्शन पुरुष या आत्म को बिभु मानते हैं उन सभी के मतानुसार आत्मा एक शरीर को त्यागकर दूसरे में नहीं जाता अपितु सूक्ष्म शरीर का ही गमनागमन हुआ करता है। अन्तर केवल इतना हीं है कि सांख्य आदि इस सूक्ष्म शरीर से भिन्न पुरुष या आत्मा नामक एक शाश्वत तत्व को स्वीकार करते हैं [5]। वह तत्व सांख्य के अनुसार चेतन है

---

[1] वही, ३.११,१२।

[2] दु:खे विपर्यासमतिः तृष्णा चाबन्धकारणम्, प्रमाणवार्त्तिक १.८३।

[3] वही, १.८४।

[4] वही, १.८५।

[5] सांख्यकारिका, १७ तथा आगे।

और अपने सान्निध्यमात्र से ही चेतना की उद्भावना कर देता है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार वह चेतन न होकर भी मन के संयोग से चेतना की उद्भावना करता है। इसके विपरीत बौद्ध दर्शन में अंतराभव के अतिरिक्त आत्मा नाम का कोई चेतन (या अचेतन) तत्व नहीं, अपितु इस अंतराभव में ही विज्ञान-संतति के रूप में चेतना का वास रहता है। साथ ही यह अंतराभव नामक शरीर भी विभिन्न क्षणों की संतान मात्र है, कोई एक स्थिर तत्व नहीं, इसमें समाविष्ट विज्ञान भी विज्ञान-प्रवाह मात्र है कोई शाश्वत-कूटस्थ चेतना नहीं। फिर भी शारीरिक और मानसिक क्षणिक धर्मों (elements) के संघात की संतति द्वारा कर्म-फल व्यवस्था बन जाती है तथा इन्हीं धर्मों के सूक्ष्म संघात अंतराभव नामक शरीर द्वारा पुर्नजन्म की व्यवस्था भी सिद्ध होती है।

राधास्वामी मत के सिद्धान्त

हंस नाथ त्रिपाठी

परम पिता का स्वरूप और उसके गुण तथा ऊंची रचना सतदेश की उत्पत्ति और उसका उद्देश्य।

१

१. परम पिता निर्मल चेतनता का जो उसमें सर्वत्र एक समान है, विशाल महासागर है। वह पूर्ण है। उसे कोई कमी और किसी चीज की मोहताजी नहीं है। वह परम प्रेम और आनन्द की अवस्था में मग्न है। रचना से पहले केवल वही होश में था। उसके सिवा कोई दूसरा देखने वाला नहीं था और न उसके अलावे कोई दूसरी देखने की चीज थी। अपने ही परमानन्द की दशा में मग्न केवल कुल मालिक मौजूद था।

उसका मुख्य गुण प्रेम था। वह प्रेम किसी दूसरी वस्तु के लिये नहीं था, क्योंकि कोई दूसरी वस्तु थी ही नहीं। सब कुछ आनन्द की ओर उसकी ओर खिंचा हुआ था। प्रेम उसके स्वरूप का सारतत्व था। वह प्रेम सदा क्रियाशील था। उसे प्रकट करने के लिये किसी वस्तु की आवश्यकता नही थी। वह प्रेम और आनन्द के भंडार के सिवा और कुछ नही था। वह प्रेम का अनन्त भंडार, जो अकेला मौजूद था और जिसकी पूजा करने वाला या उससे प्रेम करने वाला कोई नहीं था, परम आनन्द का महा-सिन्धु था।

यदि हम अपने को किसी प्रिय वस्तु में इतना लीन कर देने की कल्पना करें कि अपने आप को बिलकुल भूल जायें, तो इससे उस अवस्था का कुछ अनुमान हो सकता है। हम अपने को तथा अपने शरीर को बिल्कुल भूल जाते हैं। प्रिय वस्तु के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु ध्यान में नहीं रहती। उस रूप का ध्यान करते करते अत्यन्त आनन्द की दशा में हम अपने आप को भूल जाते हैं। वह आनन्द जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है, तब वह रूप भी गायब हो जाता है। तब आनन्द के अतिरिक्त हमें किसी चीज का ज्ञान या ख्याल नहीं रहता।

कोई वस्तु प्रेम से खाली नहीं है। किसी प्राणी को उसी वस्तु का ज्ञान हो

Phelps Notes का हिन्दी अनुवाद।

(२) उसे पूर्ण ज्ञान था, क्योंकि ज्ञान एकाग्रता का नतीजा है; तथा

(३) उसमें पूर्ण शक्ति थी, क्योंकि हम जानते हैं कि शक्ति भी एकाग्रता का एक रूप है।

उसे सभी इंद्रियों के सुख अपने श्रेष्ठतम और तीव्रतम रूप में प्राप्त थे, यद्यपि उसके पास न तो इन्द्रियां थीं और न उसके सामने इंद्रियों के विषय थे। यह बात अनुमान या कयास से बाहर मालूम होती है। परन्तु यदि हम अपनी चेतना या ज्ञान शक्ति से उन सभी औजारों को अलग कर दे जिनके द्वारा हमें इस संसार में ज्ञान प्राप्त होता है, और तब भी वह पूरी सक्रिय रहे यानी उसे पूरा ज्ञान होता रहे, तो इससे उस दशा का कुछ कुछ अन्दाज हो सकता है।

२. यह कहना कि मालिक विषमता से रहित है, मूर्खतापूर्ण है, यह कथन कि मालिक अनंत है, परन्तु वह विषमता या भेद से रहित है और उसमें किसी प्रकार की विषमता का आरोप करना, उसकी अनन्तता का बाधक है, बेवकूफी की बात है, जैसा कि आगे बतलाया गया है। ऐसी चीज न तो कुछ पैदा कर सकती थी और न कुछ कर सकती थी। संसार में प्रत्येक शक्ति जिसे हम जानते हैं, जब कार्रवाई करती है, तब पहले एक केन्द्र बनाती है और उस क्रिया का रूप, केंद्र से जितनी ही दूर बढ़ती जाती है, उतना ही क्षीण होता जाता है। परन्तु यदि हम यह मान लें कि मालिक में विषमता नहीं है, तो इसका यह अर्थ होगा कि कौन ऐसी शक्ति है जो बिना केन्द्र के क्रिया करती है और सब जगह समान रूप से मौजूद है। हमारे अनुभव से यह सिद्ध होता है कि ऐसी ताकत अपने आप इस प्रकार क्रिया नहीं कर सकती। यदि कोई क्रिया होती है तो उस क्रिया को सचालित करने के लिये कोई दूसरी शक्ति अवश्य होनी चाहिये। उदाहरण के लिये, समान रूप से फैले हुये महासागर में तब तक क्रिया नहीं होती, जब तक कि हवायें उस पर क्रिया नहीं करती इसलिये यदि समान भाव से फैली हुई शक्ति क्रिया करती है, तो उसकी क्रिया अपने से बाहर से होती है, अपने आप नहीं होती। यदि उसमें विषमता न होती, तो कोई चीज उसके भीतर पैदा न होती, क्योंकि यदि यह कहा जाये कि ऐसा हो सकता है, तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि उसके एक भाग में कोई चीज पैदा हुई, तो दूसरे भाग में क्यों नहीं हुई ? सभी भागो में क्यों नहीं पैदा हुई ? यह भी स्पष्ट है कि मालिक के रूप में ऐसी कोई एक ही चीज हो सकती थी, क्योंकि यदि सब प्रकार से उसके समान कोई दूसरा होता तो दोनों अवश्य एक दूसरे में मिलकर एक हो गये होते। वास्तव में उसके समान दूसरा कोई कभी था ही नहीं। यहाँ यह बात केवल विषय को स्पष्ट करने के लिये कही गई है।

जैसा कि बाद में समझाया जायेगा, सतदेश के वासी जो पहली रचना के साथ भिन्न भिन्न व्यक्तियों के रूप में पैदा हुए, परम पिता के मुकाबले में कम दर्जे की चेतनता वाले हैं। यही कारण है कि उसमें मिलकर वे एक नहीं हुये। नियमत: भिन्न भिन्न दर्जे की चेतनता रखने वाली सुरतें या आत्मायें सदा एक दूसरे से अलग हैं। यदि वे मिलकर एक हो जावीं तो ऊंची सुरतों या आत्माओं का पतन अवश्य होता। यह मंजूर नहीं है। इसलिये रचना से पहले परम पिता की अवस्था बहुत ही एकाग्र परन्तु समान रूप से फैले हुए पदार्थों की। अर्थात् अलग अलग व्यक्ति उसमें मौजूद नहीं थे।

मालिक रूपवान् है या अरूपवान्, यह एक बहुत ही विवाद का प्रश्न है। इस सम्बन्ध में यह सोचना चाहिए कि यदि वह रूप-रहित अनन्त विस्तार वाला, और बिना किसी भिन्नता के है, तो विश्व के अनंत दर्जे और भिन्नतायें कहां से आईं। राधास्वामी मत बतलाता है कि परम पिता रूप वाला और रूप से रहित दोनों ही है वह अनन्त विस्तार वाला है और सतदेश में उसका एक रूप भी है। उसका रूप रचना की आदि के रूप में प्रकट हुआ। अब उसकी उत्पत्ति का वर्णन किया जायेगा।

३. चेतनता से खाली प्रदेश होना एकाग्रता का नतीजा है जैसा कहा गया है, परम पिता में एक ऐसा प्रदेश था जिसमें चेतनता बहुत ही एकाग्र अवस्था में थी उसके कारण कम या ज्यादा एक क्षीण चेतनता वाला प्रदेश बन गया। यह वह प्रदेश था, जहां से एकाग्रता की शक्तियों के द्वारा कमोवेश चेतनता हटा दी गई थी। जैसा कि दिखलाया जायेगा, चेतनता की कमी की इस अवस्था से ही अलग अलग सुरतों के अलग अलग रूप बने, ऊंचे और नीचे देश की रचना पैदा हुई तथा मन और माया की उत्पत्ति हुई। मन और माया दोनों ही चेतनता की कमी से पैदा होने वाले चेतन्य के ही कम या अधिक उतार के रूप हैं।

परन्तु इस बात का ख्याल रखना जरूरी होगा कि चेतनता से खाली सभी देशों के सभी भागों में कुछ चेतनता मौजूद थी। यद्यपि यह चेतनता कम दर्जे की थी, परन्तु उसके सबसे भीतरी भागमें सार रूप में सबसे तीव्र दर्जे की चेतनता थी, जिसके द्वारा परम पिता को सबका ज्ञान था। एक चीज को दूसरी चीज का ज्ञान होने के लिये यह जरूरी है कि जानने वाले और जानने की चीज दोनों में ही किसी न किसी रूप में और किसी न किसी दर्जे में एक ही सार तत्व या जौहर हो। अन्यथा किसी चीज का ज्ञान होना असम्भव है। अब जिस वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता, वह मौजूद नहीं हो सकती, और जो कुछ जाना जा सकता है, उसका ज्ञान प्रभु को भी अवश्य होगा। परन्तु मालिक निर्मल चेतनता है। उसके अतिरिक्त वह और कुछ नहीं है। इसलिये यदि कोई चीज मौजूद हो, तो उसमें चेतनता किसी दर्जे में जरूर होगी, भले ही वह बहुत ही न्यून श्रेणी की हो अर्थात् रचना में जो कुछ मौजूद है, उसका ज्ञान मालिक को अवश्य होगा और इसलिये वह चेतनता से रहित नहीं हो सकती।

क्रमशः

गवेषणा

दर्शन, मनोविज्ञान, परानाविद्या
समाजशास्त्र, धर्म

इत्यादि विषयों की

त्रैमासिक पत्रिका

वर्ष—तृतीय   सितम्बर १९६६   अंक—द्वितीय

विषय सूची

सम्पादक मन्डल

सम्पादकीय:—

जीवन-मूल्य और परिदर्शन

विचार शील जीवन सत्य की गवेषणा मात्र है। जीवन केवल श्वासों कीश्रृंखला नहीं है, रोजी और रोटी के लिए परिश्रम ही नहीं है,हमारे वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन का चक्रवत् निष्प्राण संक्रमण तथा परिचालन ही नहीं है। जीवन को जीने के लिए व्यक्ति को अपने चक्रवत् घूमते जीवन के उस पार देखने का प्रयास भी करना पड़ता है, सत्यान्वेषण करने के अभिप्राय से सम्पूर्ण जीवन का, जीवन के कार्यों का अवलोकन भी करना पड़ता हैं। मानवीय संस्कृति का विकास तभी संभव होता है जब मनुष्य जीवन की गहराई में उतरने का यत्न करता है। उपनिषद् के चिन्तकों सॉक्रटीज जैसे मनीषियों, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद,गाधी जैसे महात्माओ ने यही किया। इसीलिए वे मानव सस्कृति को नया रूप, नया परिधान, नई सूरत दे सके। यूं तो मानव इतिहास के प्रत्येक काल में ऐसे सत्यान्वेषण की आवश्यकता रही है क्योंकि बिना इस प्रकार की गवेषणात्मक प्रवृत्ति के मानवीय विकास की धारा गतिशील हो ही नही सकती। किन्तु कुछ ऐसे समय भी विश्व इतिहास मे आते है जब मनुष्य के लिये सत्य को पहिचानना तथा हृदयंगम करना नितान्त आवश्यक हो जाता है। हमारा वर्तमान काल कुछ इसी तरह का समय है। विज्ञान ने अपने नये अन्वेषणों तथा उपलब्धियो से विश्व इतिहास में एक नए अध्याय का सूत्रपात किया है। हमारे बाप दादा जिन वस्तुओं को स्वप्न में भी नहीं देख पाए, उन्हें आज हमने वास्तविकता का स्वरूप दे डाला है। तूफानी नदियों से घबराकर वरुण की उपासना और पूजा करने वाला ऋगवेद-कालीन मानव कभी कल्पना भी नहीं कर पाया होगा कि उसकी सन्तान कभी इन मचलती उफनती नदियों को बांध डालेगी सागर की लहरों को नाचते देखकर उसकी गम्भीरता को देखकर आदिम कालीन मानव ने कभी भी यह नही सोचा होगा कि कभी उसके वंशज इस समुद्र पर बेरोक-टोक घूमेंगे ; अपने निकटस्थ स्थानों को भी दूर समझने के लिए बाध्य जंगलों तथा बियावानों से घबराने वाले पुराने मनुष्य ने यह कभी नहीं कल्पना की होगी कि उसकी सन्तानें किसी दिन रेल-मोटर जैसी वस्तुओं से दूरी को पास ले आएगी। और एक ही जगह बैठकर विश्व के समस्त प्रदेशों में नगरों में केवल टेलीफोन आदि के माध्यम से जीवित सम्पर्क स्थापित कर लेगीं। नील नभ में पक्षियों को उड़ते देखकर पुराने मनुष्यों ने आश्चर्य किया होगा। उसके मस्तिष्क में यह विचार भी नहीं आया होगा कि वह

भी उनकी तरह उड़ने का प्रयास करे। किन्तु आज विश्व के किसी भी भाग में मनुष्य २४ घंटों में सम्पूर्ण घाटियों, खन्दकों, नदियों, समुद्रों को लाँघकर शब्द से भी अधिक गति में भागने वाले वायुयानों के द्वारा पहुँच सकता है। वह चांद को छूने का प्रयास कर रहा है, पृथ्वी के आसपास चक्कर लगा सकता है और चाहने पर अपने घर बैठ कर ही विश्व के किसी भाग को अणु अस्त्रों से प्रज्वलित कर सकता है, भस्ममात कर सकता है।

इन सब बातों से सिद्ध हो जाता कि आज की दुनिया एक छोटी दुनिया है, आज का समय विश्व के इतिहास में एक विशिष्ट प्रकार का समय है। आज का मानव समृद्धि तथा संसार दोनों शक्तियों में अपने आपको पूरी तरह लैस कर चुका है। यदि वह जरा भी गलती करता है तो पृथ्वी एक राख का ढेर बन जायगी : यदि वह समझदारी करता है तो विश्व शान्ति तथा समृद्धि का केन्द्र बन जाएगा। सही प्रकार के तरीके अपनाने के लिए उसे अपने जीवन के वैयक्तिक तथा सामाजिक पक्षो के सभी मूल्यों को खोजना होगा, उनकी गवेषणा करनी होगी। और चूंकि राजनैतिक नेता के लिये जिसे सोचने-समझने की फुरसत नहीं है, चिन्तन के लोक में भ्रमण करने का अवकाश नहीं है इस प्रकार की सत्य की गवेषणा संभव नही इसलिये आज के प्रबुद्ध चिन्तको, बुद्धि जीविकों शब्द-चिन्तकों पर यह भार है कि वे समाज और व्यक्ति के सामने उन मूल्यों को रखें जो मानवीय जीवन को उन्नत बना सकते है, उसे आज के अस्तव्यस्त काल में सही ढंग का जीवन बिताने की प्रेरणा दे सकते हैं।

इस प्रकार के सर्जक मूल्यों की आवश्यकता आज हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में है। साहित्य, शिक्षा, राजनीति, सामाजिक पर्यावरण, विज्ञान, धर्म, दर्शन, नीति, कला, प्रत्येक क्षेत्र में नये सर्जक मूल्यों को हमे ढूंढना है सहेजना है,संवारना है। यदि हम इन मूल्यों की स्थापना कर सके, तो मानव-जीवन सौन्दय और सुख का नन्दन बन जायेगा, किन्तु दुर्भाग्य वश हमने गलत प्रकार की प्रवृत्तियो, विध्वंसकारी तत्वों को, जैसे अंधी राष्ट्रीयता, अंधी धार्मिक वृत्ति, नीत्शे वादी नैतिकता, आत्मघाती राज-नैतिकता, पलायनवादी तथा स्वप्नशील साहित्यिकता अपने आप से चिपटी कला को अनपाया तो हमें समझ लेना चाहिये कि विश्व के मौन के कुछ चन्द घन्टे ही बाकी हैं, संसार के खत्म होने में अब अधिक समय नहीं है।

हम 'गवेषणा' के मर्मज्ञ पाठकों और लेखकों से अनुरोध करते हैं कि वे इस पत्रिका के माध्यम से सही प्रचार के अर्जनशील तत्वों की गवेषणा करे, अपने चिन्तन का नवनीत समाज तक पहुंचाएं, ताकि विध्वंस की दिशा में उमड़ने वाली हवाओं का रुख हम मोड़ सकें, और क्रांति की इस बेला में नवीन विश्व के निर्माण की नींव मात्र मनो तथा हृदयों में स्थापित कर सकें। यह हमारा कर्तव्य भी है और आज की आवश्यकता भी।

—रामानारायण व्यास

करने की शक्ति नहीं है। किन्तु मिलने पर अर्थ-विशेष को प्रदान करते हैं। कुछ पद ऐसे भी हैं जिनका अर्थ व्युत्पत्ति के आधार पर होता तो है किन्तु वह किसी वस्तु के ठीक प्रचलित अर्थ का बोध नहीं कराता। 'गो' शब्द से, व्युत्पत्ति के आधार पर, चलने वाले का बोध होता है (गच्छतीति गौः) जो कि ठीक नहीं है क्योंकि वह पद वस्तु-विशेष को बताने वाला है। "गो" सदा चलती ही रहे ऐसा तो होता नहीं। इसके अनुसार तो बैठने पर वह 'गो' नहीं रह जावेगी। इसी प्रकार से अगर "घट" पद को लें तो यह भी वस्तु विशेष का ही बोध कराता है जबकि 'घ' और 'ट' से अलग अलग व्युत्पत्ति के आधार पर कोई ऐसा बोध नहीं होता है। इससे यह निश्चित होता है कि इनके समुदाय में ही शक्ति है न कि धातु प्रत्ययादि अवयवों में।

यौगिक पद

जिस पद के अर्थ का बोध व्युत्पत्ति के आधार पर हो अर्थात् अवयवों द्वारा ही जो अर्थ का बोध करावे उसे यौगिक पद कहा जाता है। इसमे अर्थ का बोध धातु प्रत्ययादि अवयवों के ऊपर आधारित होता है, जैसे पाचक, पाठक, दाता आदि पद हैं। पाचक पद पच् धातु और अक् प्रत्यय से बना है। पच् धातु का अर्थ है पकाना और अक् प्रत्यय कर्ता का सूचक है। इस प्रकार से दोनों को ध्यान में रखते हुए "पकाने वाला" अर्थ का बोध होता है। व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ का बोध होने से पाचक, पाठक, दाता आदि यौगिक पद हुये।

योगरूढ़ पद

जिस पद के अर्थ का बोध अवयव तथा समुदाय उभय शक्ति के आधार पर होता होता है। अर्थात् जिस पद के अर्थ का बोध केवल अवयवशक्ति के ही ऊपर आधारित नहीं है बल्कि साथ ही समुदाय शक्ति पर भी आधारित है, जैसे पंकज आदि शब्द। पंकज पद का अवयवार्थ होता है "कीचड़ से उत्पन्न होने वाला" (पङ्काज्जायते इति पंकजः)। अगर केवल व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ करें तो जितनी वस्तुयें कीचड़ में उत्पन्न होती हैं वे सब ही पकज हुईं। किन्तु पंकज पद तो केवल कमल के लिए ही आता है, कीचड़ में उत्पन्न होने वाले कसेरू आदि के लिए नहीं यहां केवल अगर अवयव शक्ति से ही अर्थावबोध करें तो रात्रि मे विकसित होने वाले कुमुद का भी बोध हो सकता है तथा कसेरू आदि भी कहे जा सकते हैं; किन्तु यह पद केवल कमल के लिये ही आता हैं, इसलिये यहां पर 'पकज शब्द का अर्थ अवयव शक्ति तथा समुदाय शक्ति उभय शक्ति पर आधारित होने के कारण यह शब्द योगरूढ़ हुआ।

यौगिकरूढ़ पद

जिस पद का अर्थ स्वतन्त्ररूप से अवयव शक्ति तथा समुदाय शक्ति दोनों पर अधारित हो वह यौगिकरूढ़ पद कहा जाता है। ऐसे शब्द का अवयव शक्ति के आधार पर भी प्रयाग होता है तथा समुदाय शक्ति के अधार पर भी। 'जैसे' उद्भिद् पद अवयव शक्ति के आधार पर पेड़ लता आदि के अर्थ में आता है, किन्तु समुदाय शक्ति के आधार पर योगविशेष (उद्भिद् यजेत पशुकामः) के अर्थ में आता है। ऐसे पद जिनके

सांख्य दर्शन मीमांसा

शब्द प्रमाण[1]

शान्ति प्रकाश आत्रेय

सांख्य ने तीन ही प्रकार की प्रमाओं का स्वीकार किया है, जिनमें शब्द के आधार पर होने वाले शाब्द बोध को भी एक अर्थाकार वृत्तियों का प्रतिबिम्बभूत प्रमा ज्ञान माना है। कारण कि शब्द श्रवण के पश्चात् होने वाले अर्थ विषय के आकार वाली वृत्तियों के प्रतिबिम्बभूत प्रमा ज्ञान का अपलाप किसी भी प्रकार नहीं किया जा है। शब्द श्रवण के अनन्तर होने के नाते इसे प्रत्यक्ष अथवा अनुमिति रूप प्रमा भी नहीं कहा जा सकता है, अत: अत: परिशेष्यात् इसे शाब्दी प्रमा ही कहना होगा।

इस शाब्दी प्रमा का उत्पत्ति का प्रकार यह है कि वक्तापुरुष के शब्दोच्चारण के पश्चात् श्रोता पुरुष प्रथम क्षण में उन समस्त शब्दों का कानों के द्वारा श्रवण करता है। और उस शब्द श्रवण के अव्यवहितोत्तरद्वितीय क्षण मे शक्तिज्ञान होकर फिर उन शब्दों से होने वाले प्रत्येक शब्द के अर्थ का स्मरणात्मक ज्ञान करता है कि अमुक शब्द का यह अर्थ है और अमुक शब्द का यह अर्थ है इत्यादि रूप से। उसके अनन्तर उन समस्त शब्दों के अर्थों का सामुहिक तथा विशेषण विशेष्याभावापन्नरूप से उसे बोध होता है, जिस बोध को शब्दबोध, शाब्दज्ञान, वाक्यार्थबोध, वाक्यार्थज्ञान एवं अन्वयबोध आदि शब्दों के द्वारा कहा है।

अब यहां पर विचारणीय विषय यह हो जाता है कि बहुत से लोगों को कानों द्वारा शब्द श्रवण के पश्चात् भी उन उन शब्दों के आधार पर होने वाला स्मरणात्मक

---

[1] सां० का ०—५—(आप्त श्रुति राप्त वचनं तु); सां० तत्व कौमुदी—का० ५—(आप्त श्रुति राप्त वचन तु) की टीका; सांख्य प्रवचन भाष्य १।१०१, ५।४०-५१; तत्व समास सूत्र—२३ स० (शब्द प्रमाण टीका); पातंजल योग सूत्र १।७ व्यास भाष्य (अप्तेन......... निर्विप्लवा स्यात् ।।); योग मनोविज्ञान—डा० शान्ति प्रकाश आत्रेय—अ० ८ (शब्द प्रमाण); योग मनोविज्ञान की रूप रेखा—अ० ६ (शब्द प्रमाण; भारतीय तर्क शास्त्र—अ० ८।

अर्थ ज्ञान अथवा ज्ञान शब्द बोध नहीं हो पाता है, इसका क्या कारण है, जैसे इंगलिश भाषा भाषी पुरुष के द्वारा उच्चारण किये हुए शब्दों के अर्थ का ज्ञान इंगलिश भाषा से अनभिज्ञ पुरुष को नहीं होता है, अथवा यों कह दीजिये कि घट शब्द को सुनने के पश्चात् संकुचित एवं गोल ग्रीवा वाले, विकसित एव गोल पेट वाले घटरूप अर्थात्मक व्यक्ति का ही बोध होता है। न कि आतान, वितान, भावापन्न पटात्मक अर्थस्वरूप व्यक्ति का, यह क्यों ? अत: यह कहना होगा कि श्रोतापुरुष को जो शब्द श्रवण होने पर भी अर्थ स्मरण नहीं होता है इसका एकमात्र कारण यही है कि शब्द और अर्थ के बीच एक ऐसी वस्तु है जिस वस्तु के जान लेने पर शब्द श्रवण के पश्चात् अर्थस्मरण अवश्य ही हो जाता है। वह वस्तु है शब्द पद और अर्थ का सम्बन्ध। उस सम्बन्ध को साँख्या-चार्यों ने नैयायिकों के समान दो रूपों में विभक्त किया है—शक्ति और लक्षणा। लक्षणारूपसम्बन्ध का विचार हम आगे करेंगे। प्रकृत में शब्द और अर्थ के शक्तिरूप सम्बन्ध का ही हम विचार करते हैं कि शक्ति ही एक ऐसा सम्बन्ध है कि जिस शक्ति रूप सम्बन्ध के ज्ञान हो जाने पर अनायास अविलम्ब रूप से स्वत: अर्थ का ज्ञान हो जाता है और अर्थ ज्ञान हो जाने के पश्चात् सामूहिक रूप से उन उन अर्थों का एक शाब्दबोधात्मक ज्ञान हो जाता है।

अब प्रश्न यह हो जाता है कि वह शक्तिरूप सम्बन्ध क्या चीज है अर्थात् उसका क्या स्वरूप है जिसके ज्ञान होने पर ही शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है।

इसका उत्तर सांख्याचार्यों ने दिया कि वह शक्ति रूप सम्बन्ध "अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य" इस शब्द से यही अर्थ जानना चाहिये, अर्थात् घट शब्द से वही पूर्वोक्त संकुचित-एवं ग्रीवा वाले, विकसित तथा गोल पेट वाले घटरूप अर्थात्मक व्यक्ति को ही जानना चाहिये। पट शब्द से आतान-वितान भावापन्न अर्थात् जिसे तानकर शरीर आदि को आच्छादन एवं संरक्षण आदि क्रियावों का संपादन किया जा सके उसी व्यक्ति स्वरूप अर्थ को जानना चाहिये, इस प्रकार की इच्छा का नाम ही शक्ति है। यह इच्छा अर्थ के विशेष्य होने के नाते अर्थ विशेष्यक कहलाती है।

दूसरी इच्छा है पद विशेष्यक जिसमें पद शब्द ही विशेष्य होता है जैसे 'इदं पदम् अमुम् अर्थं बोधयतु" यह पद इस अर्थ का बोधन करे अर्थात् अमुक पद अमुक अर्थ का बोधन करे, और अमुक पद अमुक अर्थ का बोधन करे। उदाहरण के लिए यहाँ भी घट-पट आदि पूर्वोक्त अर्थों को ले लीजियेगा। इस प्रकार साधारण रूप से दो प्रकार की इच्छा रूपा शक्ति मानी गई है और वही शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है। जिस प्रकार भूतल का संयोग सम्बन्ध, और घट कपाल अथवा मृत्पिण्ड का तादात्म्य सम्बन्ध, एव पट और तन्तु का तादात्म्य संबध होता है, इसी प्रकार शब्द और अर्थ का शक्तिरूप संबंध माना गया है। जिस शक्तिरूप सम्बन्ध के ज्ञान होने पर ही शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है और उस शक्तिरूप संबंध का ज्ञान भी जिस शब्द का जिस अर्थ के साथ होता है उस शक्तिरूप संबध के ज्ञान द्वारा उस शब्द से उसी अर्थ का ज्ञान होता है। जिस पद शब्द की शक्ति का निश्चय जिस अर्थ में होता है उस पद से उसी अर्थ का ज्ञान होता है। जैसे घट शब्द का शक्ति रूप संबंध उसी गोल एवं संकुचित ग्रीवा वाले और गोल

तथा विकसित उदर वाले घटात्मक व्यक्तिरूप अर्थ में ही ज्ञात है अतः घट शब्द से उसी अर्थ का बोध होता है न कि आतान वितान भाव से युक्त पटात्मक व्यक्ति रूप अर्थ का। यही कारण है कि इंगलिश भाषानभिज्ञ पुरुष को इंगलिश भाषा भाषी पुरुष के द्वारा उच्चारण किए हुए इंगलिश शब्दों के अर्थ का ज्ञान कानों से अच्छी प्रकार सुनने के पश्चात् भी बिल्कुल नही हो पाता क्योंकि वहां उस अनभिज्ञ श्रोता पुरुष को इस शब्द से अमुक अर्थ को समझना चाहिए इस शक्ति का ही निश्चय नही होता है।

इस से यह तो स्पष्ट हो गया कि शब्द से अर्थ का निश्चय करने के लिए शब्द और अर्थ के बीच उस शब्द का उस अर्थ के साथ निश्चयात्मक सम्बन्ध ज्ञान अवश्य अपेक्षित है और वह संबंध इच्छात्मक शक्ति विशेषस्वरूप है। परन्तु अब प्रश्न यह है कि किसकी इच्छात्मक शक्ति रूप संबध के निश्चयात्मक ज्ञान के द्वारा शब्द से अर्थ का ज्ञान हो सकेगा? क्या वह इच्छात्मिका शक्ति पुरुष की है अथवा ईश्वर की है, या फिर इन दोनों से अतिरिक्त ही कोई उदासीन इच्छा है?

इसका उत्तर यही है कि हमें होने वाले अर्थज्ञान के प्रति उदासीन इच्छा अप्रयोजक एवं अनियामक होने के नाते अन्यथासिद्ध है।

अब रही ईश्वरेच्छा सो वह भी सांख्य मत में ईश्वर के अनंगीकार होने के नाते शब्द जन्य वृत्ति रूप अर्थ विषयक ज्ञान के प्रति अप्रयोजक तथा अनियामक होने के नाते अकिंचित्कर ही है।

अब रही पारिशेष्यात् हम लोगों की इच्छा—सो वही हमारे को होने वाले शाब्द ज्ञान के प्रति सहकारी कारण है, और शब्द का श्रवणात्मक ज्ञान असाधारण कारण है। अभिप्राय यह है कि इच्छा का वास्तविक उपयोग अर्थ का ज्ञान कराने में ही है, अर्थात् सर्वप्रथम जबकि शक्तिज्ञान से अर्थज्ञान हो लेगा तब उसके बाद फिर अर्थ विषयक स्मरणात्मिक ज्ञान से शाब्द बोध होता है शक्तिज्ञान का वास्तविक उपयोग अर्थ का ज्ञान कराने में ही है, और अर्थ का ज्ञान वास्तविक उपयोग शाब्द बोध के कराने में है क्योंकि अर्थज्ञान ही साक्षात् शाब्द बोध के प्रति कारण है। बिना अर्थ ज्ञान के शाब्द बोध नहीं हो सकता है, और अर्थ ज्ञान बिना शक्ति रूप संबध ज्ञान के नहीं हो सकता है। अतः सर्व प्रथम कानों के द्वारा शब्द श्रवण होगा, उसके बाद फिर उस शब्द से बोध्य अर्थ में शक्ति निश्चय होगा, फिर जिस अर्थ में शक्ति का निश्चय होगा उसी अर्थ का शब्द के द्वारा स्मरणात्मक ज्ञान होगा, फिर अर्थ की उपस्थिति (स्मरणात्मक ज्ञान) हो जाने के बाद शाब्द बोध होगा। यहां पर इतना और समझना आवश्यक है कि शब्द को कानों से सुनने के पश्चात् शक्ति ज्ञान के आधार पर अर्थ की उपस्थिति जो होती है वह तो प्रत्येक शब्द से प्रत्येक अर्थ की अलग अलग होती है। उसके बाद समस्त अर्थों का सामूहिक रूप से अर्थात् परस्पर एक वाक्यतापन्न होकर सम्बद्धरूप से शाब्दबोध होता है।

जिस प्रकार किसी माला के मोती हैं जो कि अलग अलग हैं, पहिले उन सबकी उपस्थिति विश्रंखलरूप से है और फिर माला के रूप में एक धागे के अन्दर गूँथे जाने पर सामूहिक रूप से परस्पर में सम्बद्धरूप में (संयुक्तरूप) में देखने में आते हैं।

जबकि किसी विशेष उत्सव के उपर अथवा किसी बड़े नेता आदि के आगमन के समय बड़ी बड़ी मालाओं की आवश्यकता पड़ती है तो उस समय प्राय: ऐसा देखने मे आता है कि छोटी छोटी मालाओं को परस्पर मे आबद्ध कर उनके आधार पर ही बड़ी से बड़ी मालाएं तैयार कर दी जाती हैं। उसी प्रकार "छत्री कुण्डली वाँसस्वी देवदत्त:" इस वाक्य के आधार पर होने वाला वाक्यार्थ बोधात्मक शाब्दबोध, सर्वप्रथम खण्डवाक्यार्थ बोध रूप में होता है, अर्थात् 'छत्री', 'कुण्डली' इत्यादि जितने भी वाक्य इस महावाक्य के अन्दर सन्निविष्ट हैं, उन उन वाक्यों के अर्थ बोध अर्थात्, खण्डवाक्यार्थ बोध पहिले होता है उसके पश्चात् फिर उन सब खण्डवाक्यार्थों को एकत्र करके छाते वाला, कुण्डलवाला, वस्त्र वाला देवदत्त है, इस रूप से महावाक्यार्थ बोध होता है।

अब यहाँ पर प्रश्न यह होता है कि शब्द वास्तविक में एक उत्पत्ति विनाश शाली गुण है।

शब्द दो क्षण रहता है और तीसरे क्षण मे नष्ट हो जाता है। क्योंकि योग्य-विभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तिगुणनाश्यत्ववात्" विभुओं (आकाश-आत्मा) के प्रत्यक्ष योग्य विशेष गुण अपने से उत्तर काल द्वितीय क्षण में रहने वाले गुण से नाश्य होते है सो ऐसी परिस्थिति में दूसरे क्षण में रहने वाले शब्द से जबकि प्रथम क्षणवर्ती शब्द का तीसरे क्षण मे नाश बराबर होता चला जायगा तो 'छत्री' यहां पर 'छ' शब्द के बाद 'छ' शब्द के अन्तर्गत 'अ' शब्द का हम उच्चारण करेंगे तो वहाँ 'छ' शब्द का नाश हो जायेगा। एवं उसके बाद 'त्र' शब्द के उच्चारण से छकार के उत्तरवर्तीअाकार का भी नाश हो जायेगा। इसी प्रकार उसके बाद 'कुण्डली' इस वाक्य घटक शब्दों के उच्चारण काल में 'छत्री' इस वाक्य के घटक समस्त शब्द नष्ट हो जायेंगे। एवं 'वासस्वी' के उच्चारण क बाद 'कुण्डली' घटक समस्त पद विनष्ट हो जायेंगे। इस प्रकार उत्तरोत्तर शब्दों का उच्चारण करने पर पहिले पहिले सब शब्द नष्ट होते चले जायेंगे। और 'देवदत' के अन्तर्गत 'त्त' के अन्त:पाती 'अ' के उच्चारण से त' भी नष्ट हो जायगा।

एव आगे आगे के पदों के स्मरण से पहिले पहिले पदों के स्मरण का नाश होता चला जायगा। अत: पूर्व पदो के स्मरण के नाश हो जाने प्रयुक्त उन उन पदो की अव्यवहित रूप सेस्मृणात्मिका उपस्थिति होनी सर्वथा असम्भव हो जायगी। जिससे शब्द बोध ही सर्वथा अनुपपन्न हो जायगा।

इन दोनों प्रकार की शंकाओं का समाधान यही किया कि छत्री-कुण्डली इत्यादि—वाक्य घटक प्रत्येक शब्दों को जब हम अपने कानो से सुनते है, अर्थात् छत्री-कुण्डली इत्यादि वाक्य के अन्तर्गत शब्दों का जब हम अपनी श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा श्रवण प्रत्यक्षात्मक अनुभव करते है तो उस समय श्रवणप्रत्यक्षात्मक अनुभव से जायमान (उत्पन्न होने वाले) उन उन शब्दों के सब संस्कार आत्मा मे इकट्ठे रहते है और दवदत्त के अन्तर्गत 'त्त' शब्द की अथवा 'त्त' के पश्चात् होने वाली 'अ' शब्द की उपस्थिति पूर्व पूर्व समस्त शब्दानुभवजन्य समस्त संस्कारो का उद्बोधन करती है, जिससे कि उद्बुद्ध हुये संस्कारही "छत्री। कुण्डलो, वासस्वी देवदत्त:" इन शब्दों से होने वाली समूहालम्बन रूप उन उन

अर्थ विषयक स्मरणात्मक उपस्थिति को उत्पन्न कर छत्री से 'छत्रविशिष्टौदेवदत्त:' छाते वाला देवदत्त है, कुण्डली मे 'कुण्डलविशिष्टौ देवदत्त:' कुण्डल वाला देवदत्त है, इत्यादिरूप से प्रत्येक वाक्य के द्वारा खण्ड वाक्यार्थ बोध होने के अनन्तर फिर उसके बाद छत्र विशिष्ट, कुण्डल विशिष्ट वस्त्र विशिष्ट देवदत्त है इस रूप से विशेषण विशेष्य भावापन्न विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही महा वाक्यार्थ बोध होता है। परन्तु कोई भी बोध हो, चाहे खण्ड वाक्यार्थ बोध हो अथवा महावाक्यार्थ बोध हो उन सबका असाधारण कारण कानों के द्वारा "सुने जाने वाले शब्द को ही माना है। वह शब्द जिस पक्ष मे प्रमाण है उस पक्ष में शब्द बोधात्मिका शब्दाकार बुद्धि वृत्ति को प्रमा माना गया है। और जिस पक्ष में शाब्द बोधात्मिका वृत्ति को प्रमाण माना है उस पक्ष में शाब्दबोधात्मिका शब्दाकार बुद्धि वृत्ति में प्रतिबिम्बित जो घटंशाब्दयामि घटं विषयक शाब्द बोध कर रहा हूँ "पट शब्द-यामि" इत्याकारक पुरुष को होने वाला अनुव्यवसायात्मक पौरुषेय बोध रुपचैतन्य वही प्रमा ज्ञान माना गया है।

—शक्ति किसमें है—

अब यहां पर विचार यह करना है कि पद और अर्थ का अथवा शब्द और अर्थ का जो शक्ति रूप सम्बन्ध बतलाता है, वह पद की अथवा शब्द की शक्ति अर्थ रूप व्यक्ति में है अथवा जाति में या जाति से विशिष्ट व्यक्ति में। सांख्य ने इन तीनो पक्षों को अस्वीकार कर अपना एक चतुर्थ ही पक्ष का अंगीकार किया है वह है व्यक्ति से अभिन्न जाति पक्ष। साँख्य का कथन है कि न तो विशुद्ध जाति ही में शक्ति है क्योंकि "घट को ले आओ "पट को वहीं ले जावो" इत्यादि व्यावहारिक प्रतीतियों के आधार घटत्व, पटत्व आदि जातियों का आनयन, नयन ही सर्वथा अनुपपन्न हो रहा हैं, क्योंकि आनयन नयन आदि व्यवहार घट पट आदि व्यक्तियों में ही हुआ करते है न कि जाति में। क्योंकि घटत्व जाति का लाना ले जाना कभी नहीं होता है और यदि व्यक्ति में शक्ति को स्वीकार किया जावे तो व्यक्तियों के अनन्त होने से शक्ति का भी अनन्त्य हो जावेगा। अर्थात् अनन्त हीं शक्तियाँ स्वीकार करनी होगी। और यदि जाति विशिष्ट व्यक्तियो में मानते हो तो वहां भी शक्ति का अनन्त्य ही दोष मौजूद है। इसलिये साँख्य ने अपना अलग ही मुरारेस्तृतीय: पन्था स्वतन्त्र मार्ग अपनाया है।

—शक्ति का त्रैविध्य—

शक्ति तीन प्रकार की है, समुदायशक्ति, अवयवशक्ति, मिलित शक्ति जहाँ पर जिस शक्ति के द्वारा जिस शब्द से समुदित (इकट्ठे) ही रूप में अर्थ का बोध हो, उस शक्ति का नाम समुदाय शक्ति है। जैसे गौ' पद की शक्ति समुदाय शक्ति कहलाती है क्योंकि वहां पर 'गौ' इस समुदाय भूत शब्द से अर्थात् इकट्ठे 'गौ' शब्द से स्त्री जातीय गौ का अथवा पुरुष जातीय गौ का अर्थात् बैल का बोध होता है न कि गच्छति इति गौ: इस व्युत्पत्ति के आधार पर गमन करने वाले व्यक्ति मात्र का बोध होता है, क्योंकि तब तो फिर गौ शब्द से मनुष्य, भैंस, बकरी इत्यादि सभी गमन करने वालो का बोध होने लग जायगा।

जहां पर जिस शक्ति के द्वारा शब्द से खण्डश: अर्थात् शब्द के अलग अलग

प्रकृति, प्रत्यय के रूप में टुकड़े टुकड़े करके अर्थात् प्रकृति प्रत्ययरूप प्रत्येक अवयव के आधार पर पृथक् पृथक् रूप से बोध हो उसे अवयव शक्ति कहते हैं। जैसे पाचक शब्द से पच् धातु जो कि ण्वुल् प्रत्यय का प्रकृति है, और ण्वुल् प्रत्यय इन दोनों प्रकृति और प्रत्ययरूप प्रत्येक अवयव शक्ति के आधार पर बोध होने के नाते पाचक शब्द यौगिक शब्द कहलाता है।

मिलित शक्ति वह कहलाती है जिसमें अवयव शक्ति और रूढ़ि शक्ति का सम्मेलन हो। अर्थात् जो शक्ति अवयव योग शक्ति और रूढ़ि शक्ति इन दोनों शक्तियों के सम्मेलन के आधार पर उत्पन्न होती हो इस मिलित शक्ति को योगरूढ़ि यथा यौगिक-रूढ़ि इन दो रूपों में विभक्त किया है।

योगरूढ़ि शक्ति उसे कहते हैं कि जहाँ दोनों शक्तियाँ एकत्र समन्वित होकर अपने से विशिष्ट पद के द्वारा एक ही अर्थ का बोध न करें। जैसे पंकज पदस्थल में "पंकाज्जायते इति पंकजः" कीचड़ से जो पैदा होता है, इस योग (अवयव) शक्ति के आधार भी कमल रूप अर्थ का हीं बोध होता है। और समुदाय शक्ति के द्वारा भी पंकज पद से उसी कमल रूप अर्थ का बोध होता हैं इस प्रकार योगरूढ़ि शक्ति के अपने अन्दर मौजूद हुयीं योगात्मिका शक्ति तथा रूढ़्योत्मिका शक्ति इन दोनों शक्तियों के आधार पर पंकज पद से एक ही कमल रूप अर्थ का बोध होता है।

यौगिक रूढ़ि उस मिलित शक्ति को कहते हैं जो शक्ति समुदाय शक्ति तथा *अवयव शक्ति इन दोनों शक्तियो के आधार पर अलग अलग अर्थं का बोध न करती है।* जैसे 'उद्भित' पदस्थल मे 'उद्भित' पद से समुदाय शक्ति के द्वारा उद्भित' नामक योग विशेष का बोध होता है "उद्भिदाया गेन पशुं भावयेत्" यहाँ पर एकमात्र समुदाय शक्ति के आधार पर उद्भित् पद से उद्भित् नामक योग विशेष का बोध होता है। ऊर्ध्वं भिनत्ति उद्भित् अर्थात् ऊपर को जमीन का भेद न करके जो पैदा हुआ हो इस अवयव शक्ति के आधार पर उद्भित शब्द से भूमि को भेदन करके ऊपर को पैदा होने वाले वृक्ष एवं लता आदि अर्थ का बोध होता है। इस प्रकार विभिन्न शक्तियों के आधार एक ही पद से भिन्न भिन्न अर्थों का बोध कराने वाली शक्ति को यौगिक शक्ति के नाम से पुकारते हैं।

पद चार प्रकार के होते हैं

(१) रूढ़ (समुदाय शक्ति के आधार पर अर्थ बोध कराने वाले पद)

(२) यौगिक (अवयवों के द्वारा अर्थ का बोध कराने वाले पद)

(३) योगरूढ़ (अवयव तथा समुदाय शक्ति दोनों के द्वारा अर्थं का बोध कराने वाले पद)

(४) यौगिक रूढ़ (अवयवार्थ तथा समुदायार्थ का स्वतन्त्र रूप से बोध कराने वाला पद)

(१) रूढ़ पद

जिस पद के अर्थ का बोध व्युत्पत्ति के आधार पर नहीं होता अर्थात् जो पद अवयव शक्ति के द्वारा अर्थ का बोध न करोकर केवल समुदाय शक्ति मात्र से ही अर्थ का बोध कराते हैं उन्हें रूढ़ पद कहा जाता है। इसमें अलग अलग वर्णों के समुदाय में ही

शक्ति मानी गयी है; जैसे गौ, घट, पट आदि। इनके अलग अलग वर्णों में अर्थ प्रदान करने की शक्ति नहीं है। किन्तु मिलने पर अर्थ-विशेष को प्रदान करते हैं। कुछ पद ऐसे भी हैं जिनका अर्थ व्युत्पत्ति के आधार पर होता तो है किन्तु वह किसी वस्तु के ठीक प्रचलित अर्थ का बोध नहीं कराता। 'गो' शब्द से, व्युत्पत्ति के आधार पर, चलने वाले का बोध होता है (गच्छतीति गौ:) जो कि ठीक नहीं है क्योंकि वह पद वस्तु-विशेष को बताने वाला है। "गो" सदा चलती ही रहे ऐसा तो होता नहीं। इसके अनुसार तो बैठने पर वह 'गो' नहीं रह जावेगी। इसी प्रकार से अगर "घट" पद को लें तो यह भी वस्तु विशेष का ही बोध कराता है जबकि 'घ' और 'ट' से अलग अलग व्युत्पत्ति के आधार पर कोई ऐसा बोध नहीं होता है। इससे यह निश्चित होता है कि इनके समुदाय में ही शक्ति है न कि धातु प्रत्ययादि अवयवों में।

यौगिक पद

जिस पद के अर्थ का बोध व्युत्पत्ति के आधार पर हो अर्थात् अवयवों द्वारा ही जो अर्थ का बोध करावे उसे यौगिक पद कहा जाता है। इसमें अर्थ का बोध धातु प्रत्ययादि अवयवों के ऊपर आधारित होता है, जैसे पाचक, पाठक, दाता आदि पद हैं। पाचक पद पच् धातु और अक् प्रत्यय से बना है। पच् धातु का अर्थ है पकाना और अक् प्रत्यय कर्त्ता का सूचक है। इस प्रकार से दोनों को ध्यान में रखते हुए "पकाने वाला" अर्थ का बोध होता है। व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ का बोध होने से पाचक, पाठक, दाता आदि यौगिक पद हुये।

योगरूढ़ पद

जिस पद के अर्थ का बोध अवयव तथा समुदाय उभय शक्ति के आधार पर होता होता है। अर्थात् जिस पद के अर्थ का बोध केवल अवयवशक्ति के ही ऊपर आधारित नहीं है बल्कि साथ ही समुदाय शक्ति पर भी आधारित है, जैसे पंकज आदि शब्द। पंकज पद का अवयवार्थ होता है "कीचड़ से उत्पन्न होने वाला" (पङ्काज्जायते इति पंकज:)। अगर केवल व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ करें तो जितनी वस्तुयें कीचड़ में उत्पन्न होती हैं वे सब ही पंकज हुईं। किन्तु पंकज पद तो केवल कमल के लिए ही आता है, कीचड़ में उत्पन्न होने वाले कसेरू आदि के लिए नहीं यहां केवल अगर अवयव शक्ति से ही अर्थावबोध करें तो रात्रि मे विकसित होने वाले कुमुद का भी बोध हो सकता है तथा कसेरू आदि भी कहे जा सकते हैं; किन्तु यह पद केवल कमल के लिये ही आता है, इसलिये यहां पर 'पंकज शब्द का अर्थ अवयव शक्ति तथा समुदाय शक्ति उभय शक्ति पर आधारित होने के कारण यह शब्द योगरूढ़ हुआ।

यौगिकरूढ़ पद

जिस पद का अर्थ स्वतन्त्ररूप से अवयव शक्ति तथा समुदाय शक्ति दोनों पर अधारित हो वह यौगिकरूढ़ पद कहा जाता है। ऐसे शब्द का अवयव शक्ति के आधार पर भी प्रयोग होता है तथा समुदाय शक्ति के अधार पर भी। 'जैसे' उद्भिद् पद अवयव शक्ति के आधार पर पेड़ लता आदि के अर्थ मे आता है, किन्तु समुदाय शक्ति के आधार पर यागविशेष (उद्भिद् यजेत पशुकाम:) के अर्थ में आता है। ऐसे पद जिनके

अर्थ का बोध स्वतन्त्र रूप से अवयव शक्ति तथा समुदाय शक्ति दोनों पर आश्रित है यौगिकरूढ़ कहे जाते है। यौगिक रूढ़ उस पद को भी कहते हैं जिसका अर्थ व्युत्पत्ति से सम्बन्धित प्रचलन पर आधारित होता है। जैसे "मण्डप", जिसका अवयव शक्ति के द्वारा प्रदान किया अर्थ है "पयपीनेवाला" तथा प्रचलित अर्थ है यज्ञ करने का स्थान जहाँ पर यज्ञादि में पुरोहित यज्ञ के पय को पीते हैं। इस तरह से अर्थ निकलने से कुछ विद्वान इसे भी योगरूढ़ के ही अन्तर्गत मान लेते है।

—शक्ति के निर्णायक उपाय—

और उस शक्ति का निश्चय बहुत से उसके कारणीभूत उपायों से होता है। जैसे कहीं व्याकरण से, कहीं कोष से, तथा आप्त पुरुष के वाक्य से, कहीं व्यवहार से, एवं कहीं कही प्रसिद्ध पद के सान्निध्य से तथा विवृति इत्यादि उपायों से पद की शक्ति का निश्चय अर्थ में हुआ करता है।

व्याकरण से शक्ति का निश्चय इस प्रकार होता है कि जैसे किसी व्यक्ति ने पाचक शब्द का मुख से उच्चारण किया तो श्रोता पुरुष यदि व्याकरण शास्त्र का अभिज्ञ है तो वह व्यक्ति 'पच्' धातु का अर्थ पाक और ण्वुल् के स्थान में अक् प्रत्यय का अर्थ कर्त्ता जान कर 'पाचक शब्द की पाक कर्त्ता रूप अर्थ में शक्ति का निश्चय कर लेता है।

कहीं कोष के द्वारा भी शब्द की शक्ति का निश्चय अर्थं में होता हैं। जैसे—अप्येक दन्त है रम्बलम्बोदर: गजानना: इस अमर कोष के आधार पर गजानन शब्द की शक्ति का निश्चय एक-दन्त तथा लम्बमान उदर वाले विद्या के अधिष्ठातृ देव गणेश जी रूप अर्थ में होता है। अर्थात् गजानन शब्द से विद्या के अधिष्ठातृ देवता गणेश जी का बोध होता है। एवं विष्णुर्नारायण: कृष्णो वैकुण्ठो गरूडध्वज: इस कोष के आधार पर विष्णु शब्द से उस जगन्नियन्ता—चतुर्भुज परम पिता परमेश्वर लक्ष्मी पति नारायण का बोध होता है, क्योंकि विष्णु शब्द की शक्ति का निश्चय इसी अर्थ में होता है। इसी प्रकार अन्य भाषाओं के कोषों के आधार पर भी उन उन शब्दों से उन उन अर्थों मे शक्ति का निश्चय सर्वत्र होता है ऐसा समझना चाहिये।

इसी प्रकार आप्त पुरुष के वाक्य से भी शब्द की शक्ति का निश्चय अर्थ में होना है। जैसे —किसी व्यक्ति ने किसी व्यक्ति से यह पूछा कि 'पिक' किसे कहते हैं तो वहीं पर खड़े हुए किसी आप्त पुरुष ने उत्तर दिया "कोकिल: पिक पद वाच्य:" अर्थात् पिक शब्द से कही जाने वाली कोयल होती हैं, तो वहां वह पुरुष इस आप्त पुरुष के वाक्य से 'पिक शब्द की शक्ति का निश्चित कोयल रूप अर्थ में कर लेता है।

कही व्यवहार से भी शक्ति का निश्चय अर्थ में हुआ करता है। जैसे—किसी बालक के बाबा ने उस बालक के पिता से अर्थात् अपने पुत्र से कहा कि "गामानय" ने अर्थात् गौ को ले जावो यह सुनकर बालक का पिता गौ को ले आया। इसके बाद बाबा ने कहा कि "गां नय" गौ को तो ले जाओ "अश्वमानय"और घोड़े को ले आओ, यह सब दृश्य पास में खड़ा हुआ बालक देख रहा था। बालक ने अन्वय-व्यतिरेक नियम के आधार पर यह निश्चय किया कि जब बाबा ने 'गामानय' यह कहा तब पिता गौ को

लाया और जब तक यह वाक्य नहीं कहा था तब तक नहीं लाया था, इससे मालूम पड़ता है। कि 'गामानय' इस वाक्य की गौ को ले आने रूप अर्थ में शक्ति है जिससे कि 'गामानय' इस वाक्य का अर्थ होता है 'गौ को ले आओ और इसी अन्वय-व्यतिरेक नियम से गां नय इसकी गौ को ले जाओ इस अर्थ में शक्ति का निश्चय पहिले की तरह होता है। तथा अश्वमानय इस वाक्य की घोड़े को ले आवो इस अर्थ में शक्ति का निश्चय पास में बैठा हुआ बालक उसी अन्वय-व्यतिरेक नियम के आधार पर करता है। यह सब शक्ति का निश्चय उस बच्चे को एक मात्र व्यवहार के आधार पर ही हो पाता है। क्योंकि जब वह लाना, ले जाना आदि व्यवहार का अनुभव करता है तभी वह इस प्रकार से शक्ति का निर्णय कर पाता है। यह नियम है कि व्यवहार से शब्द की शक्ति का निर्णय प्राय: अधिकांश में बच्चों ही को होता है।

प्रसिद्ध पद के सान्निध्य से भी शक्ति का निश्चय कहीं कहीं स्थल-विशेष में होता है। जैसे—"इह सहकारतरौ मधुर पिकोरौति" इस आम के वृक्ष के ऊपर पिक मधुर शब्द कर रहा है, यहाँ पर पिक शब्द की शक्ति का निश्चय बुद्धिमान् लोग 'सहकारतरु' (आम का वृक्ष) और मधुर इन दोनो प्रसिद्ध पदों के सान्निध्य से कोकिल कोयल में कर लेते हैं। कारण कि समस्त पक्षियों में मधुर भी शब्द उसी का होता है, और वह मधुर शब्द भी कोकिल आम के वृक्ष के उपर बैठ कर के ही करती है।

कहीं कहीं पर त्रिवृत्ति अर्थात् विवरण (पर्यायवाची शब्द) के द्वारा भी शब्द की शक्ति का निश्चय अर्थ में होता है। जैसे 'गरुडध्वज:' का पर्यायवाची शब्द हमने विष्णु: या नारायण कह दिया तो उससे शेष-शय्या पर शयन करने वाले लक्ष्मी पति नारायण का बोध हो जाता है। एवं 'पचति' इसका 'पाकं करोति' ऐसा विवरण कर देने से भोजन बना रहा है इस अर्थ का निश्चय होता है।

लक्षणा

शब्द की शक्ति के द्वारा हमें विषय का बोध होता है, किन्तु इस कथन को हर स्थल पर सत्य नहीं माना जा सकता है अनेक बार ऐसा होता है कि अर्थ शब्द की शक्ति के आधार पर न लेकर अन्य प्रकार से भी लेना पड़ता है। जो अर्थ शब्दों की शक्ति के आधार पर न लेकर भिन्न प्रकार से लिया जाता है उसे लाक्षणिक अर्थ कहा जाता है, जैसे "रामनाथ गधा है" यहां पर 'गधा' शब्द का अर्थ उसकी शक्ति के ऊपर आधारित नहीं है क्योंकि रामनाथ मनुष्य है 'गधा तो है नहीं। यहां अभिधेय अर्थ का ग्रहण नहीं किया जा सकता है। इस जगह "गधा" शब्द का प्रयोग लक्षणा के द्वारा ही हुआ है। "गधा" यहां मूर्ख की जगह प्रयोग किया गया है न कि गधे की जगह। अत: 'गधे' का अर्थ यहां 'गधा' नहीं बल्कि मूर्ख है। शब्द की इस गौणी वृत्ति को लक्षणा कहते हैं। इसी प्रकार से "आप तो कालेज के स्तम्भ हैं", "वे तो हमारे देश की नाक है", काशी नागरी गंगा जी पर बसी है" इत्यादि अनेक दृष्टान्त हो सकते हैं। इन सब दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि अनेक बार शब्दों का लक्ष्यार्थ लिखा जाता है अभिधेयार्थ नहीं उपर्युक्त दृष्टान्तों में 'स्तम्भ' 'नाक' 'गंगाजी पर' सब का लक्ष्यार्थ है अभिधेयार्थ नहीं। अभिधा मुख्य वृत्ति होती है, लक्षणा गौणी वृत्ति .लक्षणा तीन प्रकार की होती है।

लक्षणा के तीन प्रकार

(१) जहल्लक्षणा (जहत्स्वार्था लक्षणा)
(२) अजहल्लक्षणा (अजहेत्स्वार्था लक्षणा)
(३) जहजदहल्लक्षणा (भागत्याग लक्षणा)

जहल्लक्षणा :— इसमें शब्द का वास्तविक अर्थ बदल जाता है। शब्द की शक्ति के द्वारा प्राप्त अर्थ बिलकुल ही नहीं लिया जाता बल्कि उसके स्थान पर भिन्न अर्थ माना जाता है। उदाहरण के रूप में जब हम कहते है "रिक्शा, इधर आओ", स्टेशनों पर यात्री पुकारते है "ओ पानी इधर आओ", " रेवड़ी इधर आओ" तब इन स्थलों पर 'रिक्शा' का अर्थ 'रिक्शेवाला', 'पानी' का अर्थ 'पानीवाला', तथा 'रेवड़ी' का अर्थ 'रेवड़ीवाला' होता है। इसी प्रकार से जब हम कहते हैं कि "घनश्याम तो बेचारा 'गाय' है" ; "गुलाब सिंह तो 'बैल' है" तब ऐसे स्थल पर 'गाय' का अर्थ 'सीधा' होता है, 'बैल' का अर्थ 'मूर्ख' होता है। इस तरह से जिन जिन स्थलों पर शब्द मुख्य अर्थ को प्रदान न करके अन्य अर्थ को प्रदान करता है उन उन स्थलों पर जहल्लक्षणा होती है, अर्थात् जहल्लक्षणा से वाक्यार्थ ज्ञात होता है।

अजहल्लक्षणा :— इसमें मुख्य अर्थ तो रहता है किन्तु केवल उस मुख्य अर्थ मे ही कार्य नहीं चलता। साधारण वाच्यार्थ से अधिक अर्थ भी उसमें मिश्रित करना पड़ता हैं तब उसका ठीक अर्थ व्यक्त होता है। जहां इस प्रकार से वाच्यार्थ के साथ साथ और अर्थ भी जोड़ना पड़ता है वहां अजहल्लक्षणा होती है। जैसे—

"कौवों से दही की रक्षा करना"
"बिल्ली से दूध की रक्षा करना"

इन स्थलों पर कौवों से वा बिल्ली से ही दही वा दूध की रक्षा नहीं करनी है, बल्कि जितने भी पशु पक्षी दही वा दूध के खाने वाले हैं उन सब से दही और दूध को रक्षा करनी है। यहां कौवा वा बिल्ली का अपने अपने मुख्य अर्थ को रखते हुये भी लाक्षणिक रूप में प्रयोग हुआ है। जितने भी दही वा दूध पीने वाले जीव हैं वे सभी कौवे वा बिल्ली शब्द से पुकारे जाते हैं। यहाँ कौवे वा बिल्ली से तो दही वा दूध को बचाना है ही, साथ ही साथ सभी दही वा दूध भक्षण करने वाले जीवों से दही वा दूध की रक्षा करनी है। अपना मुख्य अर्थ कायम रखते हुए भी शब्द–विशेष अपने मुख्य अर्थ से अधिक को बताता है। इस लक्षणा को अजहल्लक्षणा कहा जाता है। जब हम कहते हैं "लाल रंग दौड़ में जीत गया।" उसका अर्थ लाल रंग का जीतना नहीं होता, क्योंकि वह तो जड़ है, उसकी हार जीत कैसी ? ऐसे स्थल पर अजहल्लक्षणा के द्वारा अर्थ किया जाता है जिसमें मुख्य अर्थ को कायम रखते हुये शब्द के उस मुख्य अर्थ से कहीं अधिक अर्थ लेना पड़ता है। अत: यहाँ अर्थ हुआ "लाल रंग का घोड़ा दौड़ में जीता।" इस तरह से जहां शब्द के मुख्य अर्थ से अधिक समझना पड़ता है वहां अजहल्लक्षणा से वाक्यार्थ बोध होता है।

जहदजहल्लक्षणा (भागत्याग लक्षणा):- इसमें शब्द के वास्तविक अर्थ का एक भाग तो छोड़ दिया जाता है दूसरा भाग ले लिया जाता है। ("सोऽयं देवदत्त:")

"यह वही देवदत्त है।" उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा। जिसमें 'यह' (अयं) वर्तमान काल में है 'वह' (सः) नहीं है अर्थात् 'सः' शब्द से वर्तमानकालीन देवदत्त का बोध नहीं होता है अपितु भूतकालीन देवदत्त का, सो यहां 'यह' से 'वह' की समानता को लेकर उसकी भिन्नता को छोड़ दिया जाता है। यहां समान वस्तु को तो ग्रहण किया जाता है परन्तु विरुद्ध धर्म को छोड़ दिया जाता है। इसमें छोड़ना तथा न छोड़ना दोनों ही होते हैं। इस देश काल वाले देवदत्त में उस देश काल वाले देवदत्त से भिन्नता है, उस भिन्नता को न लेकर दोनों की समानता के द्वारा वाक्य का अर्थ लगाया जाता है; अतः यहाँ जहद्-अजहद् लक्षणा है।

वेदान्त में तत्त्वमसि' (तुम वह हो) श्रुति वाक्य के द्वारा जीव के तादात्म्य को समझाया है। तुम=चैतन्य+जीव के सीमित गुण; वह=चैतन्य+ब्रह्म के असीमित गुण; यहां दोनों में चैतन्य समान रूप से होने के कारण, दोनों का चैतन्य एक ही है। जिन गुणों की दोनों मे भिन्नता हैं उन्हें छोड़ दिया जाता है क्योंकि वह तुच्छ हैं। यहाँ जहद्-अजहद् लक्षणा के आधार पर 'तत्त्वमसि' इस वाक्य का अर्थ किया जाता है जिसमें कुछ तो छोड़ दिया जाता है तथा कुछ ले लिया जाता है। अतः ऐसा करने से 'तत्त्वमसि' का अर्थ 'तुम वह हो' अर्थात् 'तुम ('ब्रह्म') चैतन्य हो' हुआ।

क्रमशः

राधास्वामी मत के सिद्धान्त (२)

हंस नाथ त्रिपाठी

४. क्षीण चेतनता वाला प्रदेश रचना का स्रोत—समय का पूरा होना—एकाग्र ध्रुव के चेतनता की आकर्षण शक्ति हमेशा से काम कर रही थी। वह दूसरे ध्रुव की चेतनता को अपनी ओर खींच रही थी। आकर्षण की यह प्रक्रिया अनन्त काल तक जारी रही। क्षीण चेतनता का जो भाग परम स्रोत या कुल मालिक से जितना ही करीब और जितना ही अधिक चेतन था, उस पर उस आकर्षण-शक्ति का प्रभाव उतना ही अधिक, और जो भाग जितना ही उससे दूर और कम चेतन था, उतना ही उस पर उसका असर कम पड़ रहा था। उस लगातार होने वाली कशिश के कारण उसका एक भाग उस एकाग्र ध्रुव या कुल मालिक की ओर उसी प्रकार खिचा, जिस प्रकार तेल जलती हुई बत्ती की ओर खिचता है। इससे मानो उसकी चमक बढ़ गई। लेकिन दर असल ऐसी बात नहीं थी। उस क्षीण चेतनता के दूसरे हिस्से इतने कमजोर या इतने दूर थे कि वे खिच नहीं सके। यह प्रक्रिया तब तक जारी रही, जब तक कि उन खींचने वाली शक्तियों के कारण खिचने वाली तमाम नीचे दर्जे की चेतनता ऊपर खिच गई। यह कम तीव्रता रखने वाली चेतनता नीचे दर्जे की होने के कारण उस कोटि की नहीं थी, जिस कोटि की एकाग्र ध्रुव या कुल मालिक की चेतनता थी। इसलिये यह उसमें मिलकर एक नहीं हो सकी। यह उसमें लटकी सी रही। जिस प्रकार पानी की भाफ ऊपर वायु मण्डल में खिच कर हवा नही बन जाती और न तो हवा ही किसी अंश में बदल जाती है, बल्कि वे दोनों ही अलग रहते हैं, क्योंकि दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं; उसी प्रकार वे ऊंचे और नीचे दर्जे के चैतन्य अलग रहे। मिलने से तत्वत: उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उन दोनों के बीच एक सदा रहने वाली सीमा थी, जिसे कोई चीज हटा नहीं सकती थी। ऐसा होना स्पष्ट रूप से अनिवार्य था, क्योंकि मिलने का अर्थ होता परिवर्त्तन परन्तु अनामी पुरुष परिवर्त्तन रहित है। यदि यह नीचे दर्जे की चेतनता उसका एक भाग हो गई होती, तो यह प्रारम्भ से ही ऐसी हुई होती। परन्तु यद्यपि यह लटकी हुई चेतनता अपनी विशेषता को कायम रखे रही, परन्तु अनामी पुरुष की सबसे ऊंची दर्जे की चेतनता के साथ अनन्त काल तक उसका सम्पर्क होने के कारण उसमें

किसी हद तक परिवर्तन पैदा हो गया। उसमें जीवन आ गया। उसके खोलों में निर्मल चेतनता की तीव्रता किसी अंश में आ गई। इसमें वे गुण आ गये जिनके कारण रचना के उस काम को करने के लिए जिसे उसने बाद में किया, वह विशेष रूप से समर्थ हो गई। यदि ऐसा न हुआ होता और अनामी पुरुष के साथ सम्बन्ध होने से उसे वह बल न मिला होता, तो रचना न हुई होती।

अनामी पुरुष से तत्वत: भिन्न होने के कारण वह उसके साथ मिलकर एक नहीं हो सकी। इसलिए उस लटकती स्थिति में सदा वह न रह सकी। वह समय आया जब उसे नीचे उसी प्रकार आना पड़ा, जिस प्रकार वायु मण्डल में लटकी हुई भाफ उस समय गिर पड़ती है, जबकि वह उसमें पूरा भर जाती है। उसके नीचे गिरने के कारण ये हैं:– (१) वह वायु मण्डल की अपेक्षा अधिक सघन या मोटी हो जाती है। (२) ऊपर जो भाफ खिंच जाती है, उसकी इतनी ढेरी हो जाती है कि वह और अधिक समय तक ऊपर नहीं ठहर सकती, और (३) उस पर नीचे से आकर्षण शक्ति का सदैव प्रभाव पड़ रहा है। उस अवस्था को समय का पूरा होना कहते है।

पूरा भर जाने की उस अवस्था का मतलब यह है कि एक स्थूल पदार्थ ऊपर खिंच कर एक सूक्ष्म पदार्थ के भीतर समा गया है और वह उसमें लटका हुआ है। उस अवस्था की पूर्णता उस समय आ जाती है जबकि वह स्थूल पदार्थ ऐसी दशा को प्राप्त हो जाता है कि वह अब और अधिक समय तक लटका नहीं रह सकता। इसी प्रकार गर्भ में बच्चे का विकास तब तक होता रहता है, जब तक कि वह पूरा नहीं हो जाता पूरा होते ही वह बाहर निकलने के लिए बाध्य हो जाता है। वह अन्दर नहीं रह सकता। ये हमारी अनुभव में आने वाली बातों से दिए गए समय के पूरा होने के उदाहरण हैं। बहुत सी दूसरी मिसालें भी दी जा सकती हैं।

परम पिता ने जिस चैतन्य को ऊपर खींच लिया था, उसे वह अपने भीतर रखे नही रहा। उसका कारण यह नहीं है कि वह उसे रख नहीं सकता था। उसकी आकर्षण शक्ति में थकाव आ गया था। बल्कि उसका कारण यह था। वह नीचे दर्जे की चेतनता जो उसके पूर्ण चैतन्य की गोद में लटकी हुई थी, उससे इस कदर भिन्न थी और परिमाण में इतनी अधिक हो गयी थी और नीचे पड़ी हुई नीचे दर्जे की चेतनता के नीचे की ओर खिचाव के इस कदर हमेशा असर में थी और उसके सार–तत्त्व के साथ लम्बे अरसे तक उसका घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण उसमें वे गुण जिनके द्वारा वह नीचे के देश में काम करने लायक हो गयी थी, इतने पूरे तौर से आ गये थे कि वह वहां नहीं रह सकी। आकाश में लटके हुए पानी के वर्षा के रूप में नीचे आने का कारण हवा में उसे धारण करने की शक्ति का कम होना नहीं हैं, बल्कि उसका ऐसी अवस्था में पहुच जाना है जबकि उसे अवश्य गिरना चाहिये वह इतना भारी हो गया है कि वह आकाश में टिक नहीं सकता। बालक के माता के पेट से बाहर निकलने का कारण यह नहीं है कि उसका गर्भाशय अब उसे अपने भीतर नहीं रख सकता। बल्कि उसकी वजह है कि वह पूरा विकसित हो गया हैं और अब वहा नहीं रह सकता। ठीक यही दशा उस चैतन्य की थी।

जैसा कि आगे समझाया जायेगा, अगम पुरुष जो प्रथम रचित पुरुष है, उसी प्रकार पैदा हुआ जिस प्रकार कि बच्चा माता के गर्भ से उत्पन्न होता है। अर्थात् समय पूरा होने पर वह न्यून चैतन्य उसी प्रकार नीचे फेंक दिया गया, जिस प्रकार कि बालक विकसित हो जाने पर माता के गर्भ से निकल आता है। एक दूसरा कारण भी था। परम पिता के चरणों पर पड़ा हुआ और भी कम दर्जे का वह दूसरा चैतन्य था, जो उसके आकर्षण में खिंच नहीं सका। उसको इच्छा हुई कि वह भी उसके आनन्द में शरीक हो। इस मतलब से उसकी यह मौज हुई कि रचना का काम शुरु हो।

५—रचना का उद्देश्य

रचना करने में परम पिता का उद्देश्य उस नीचे दर्जे की चेतनता को जो उसके नीचे न्यूनता के कारण बेहोश पड़ी थी, जहां तक हो सके, पूरा होश और पूर्ण आनन्द की अवस्था प्राप्त कराना था। अन्यथा वह नीचे दर्जे की चेतनता हमेशा बेहोश पड़ी रहती और ऊँचे केन्द्र के आनन्द में शरीक न होती। वह पुरुष जिसका स्वभाव प्रेम ही प्रेम है, सबके लिए आनन्द के अतिरिक्त और कोई मतलब नहीं रख सकता। जहाँ प्रेम चेतनता और ज्ञान की कमी है, वहां केवल दुःख की उत्पत्ति है, जो काल का अंग है।

यह होश में लाना नीचे दर्जे की चेतनता रखने वाले प्राणी को तुरन्त ऊँची चेतनता प्रदान कर देने के द्वारा सम्भव नहीं था। जिस प्राणी की चेतनता कम दर्जे की है, उसे ऊँची चेतनता देना केवल उसके दुख का कारण होगा। यदि एक गाय को एक आदमी की चेतनता दे दी जाय तो, उस गाय को केवल दुःख होगा। ठीक रीति यह है की कम चेतनता के जोव को ऐसी जगह भेजा जाय, जहां वह पूरी कार्रवाई कर सके। इस लिए होश में लाने की क्रिया के रंगमंच के रूप में नीचे दर्जे की रचना जरुरी थी। लेकिन उसमें जो रीति काम में लाई गई है उससे अधिक सुख और कम दुःख देने का इरादा जाहिर होता है। जब कोई रचना प्रारम्भ होती है, तो पहले बहुत सुख होता हैं और सुख की अवधि लम्बी होती है, जैसा कि सत्य युग और दूसरे पहले के युगों में; परन्तु दुःख की अवधि छोटी होती है। इससे मालूम होता है कि रचयिता का इरादा जीव को ऐसी जगह पर सुख देना था, जहाँ वह उसे भोग सके। उसे इतना सुख मिले जितना कि मिल सकता है और अन्त में उसे पूरा आनन्द प्राप्त कराया जाय, जिसका कि अन्त नहीं है। यह बात तुरन्त समझ में आ जायेगी कि जब तक सुख है, तब तक जीव सन्तुष्ट बना रहेगा और उसका उद्धार नहीं हो सकेगा, क्योंकि वह छूटने का कोई प्रयत्न नहीं करेगा। निकलने के लिये उसका स्वयं प्रयत्न करना निहायत जरुरी है।

६—शब्द—पहला रूप

रचना होने के लिए यह जरूरी था कि एक केन्द्र बने और उससे एक धार निकले। इस कार्य के लिये साधन क्षीण चेतनता के उस समूह के रूप में जिस पर

उसके महान गुण का असर पड़ चुका था और जो इस प्रकार आगे बढ़ने और रचना को करने के लिये भली भाँति समर्थ बन गया था, पास ही मौजूद था।

इसलिये समय पूरा होने पर परमपिता और क्षीण चेतनता के उस प्रदेश के सन्धि -स्थल (मिलने के स्थान) पर एक बड़ी हिलोर पैदा हुई जो शब्द के रूप मे प्रकट हुई। उस शब्द ने एक अंडाकार या अण्डाकार रूप बनाया, जो मालिक के प्रकट रूप का प्रारम्भ था। यह अप्रकट अनामी पुरुष का प्रकट होना था। वह प्रकट रूप उस अप्रकट रूप मे ही था। वह उसके अनन्त स्वरूप से अलग नही था। अनामी पुरुष मे कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। यह समय का प्रारम्भ था। इससे पहले समय की गणना करने वाली कोई चीज नहीं थी।

उस अन्डाकार रूप से एक घोर शब्द हुआ। यह वही शब्द था जो उसके बनने से पहले हुआ और जिसने उस रूप दिया। अनामी पुरुष ने पहले अपने को शब्द के रूप मे प्रकट किया। तब रूप की शक्ल में। शब्द रूप से सूक्ष्म है।

परम पिता पूर्णतया मौन या नि:शब्द था उसमें कोई शब्द नहीं था। परन्तु जब उसने उन सुरतों से जो उसके नीचे पड़ी हुई थीं; बातचीत करना (Communicate with) चाहा, तब उसने शब्द प्रकट किया। शब्द के बिना कोई शक्ति बिल्कुल चेष्टा नहीं करती। शब्द चेतन्य का एक रूप है। चैतन्य देशों में शब्द उस देश के निर्जीव शब्द की तरह बिल्कुल नही है। वह वहाँ स्वयं बुद्धि युक्त है।

जिस प्रकार शब्द चैतन्य का प्रथम रूप था, उसी प्रकार श्रवण मुख्य ज्ञान-शक्ति है। दूसरी ज्ञान की शक्तियां उसके बाद आती हैं।

निश्चेष्ट पड़े हुए क्षेत्र पर लम्बे समय तक आकर्षण क्रिया का असर होने के बाद ही प्रत्येक ऊँची व नीची रचना उत्पन्न होती है समय पूरा होने पर शब्द निकलता है और रचना शुरु होती है। सभी धर्मों ने इस अवस्था को बतलाने के लिए समय का पूरा होना शब्द इस्तेमाल किया है। वह शब्द का सेंट जान का 'वर्ड' है। निस्सन्देह यही ईसाइयों का 'होली घोस्ट' भी है अर्थात् यह वह चैतन्य-धार है, जो पिता का पुत्र के साथ सम्बन्ध कराती है। पुत्र वह जीव है जिसने शरीर मे रहते समय अपने प्रभु स सम्बन्ध स्थापित कर लिया है और इस प्रकार पुत्र पदवी को धारण करने का अधिकार प्राप्त कर लिया है।

७—राधास्वामी—परम पिता का प्रकट नाम

जिस प्रकार उस अण्डाकार रूप से अपने भीतर शामिल करने, आलिंगन करने और घेरने का अर्थ जाहिर हुआ, उसी प्रकार उस शब्द से भी जिसकी वाणी में सबसे सही नकल 'स्वा' है, वही भाव प्रकट हुआ। 'स्वा' शब्द के बाद एक ऐसा शब्द हुआ जिसे वर्ण में मी कह सकते है। उसका अर्थ यह है कि सारी चैतन्य-शक्तियाँ केन्द्र की ओर मुड़ी हुई हैं। जब परम पिता ने अपने को प्रकट किया, तब उसने उस शब्द के द्वारा जो उससे निकला, यह घोषित किया —मैं सबको घेरे और खींचे हुए हूँ। सब मेरे ऊपर आधारित है सब मेरे द्वारा रक्षित है; (स्वा)। सब कुछ मेरे भीतर है" (मी)। इस प्रकार परम पिता ने अपने असली स्वभाव को प्रकट किया।

वह भंडार प्रेम का महासागर था। जब वह शब्दायमान हुआ, उसमें बाढ़ आई। जो शब्द उससे निकला, वह सबको आलिंगन करने वाले प्रेम की बाढ़ के साथ होने वाला घोर गर्जन था। उस प्रेम के महासागर में अपने आप उमड़ने वाली यह बाढ़ सब प्राणियों को सुख पहुँचाने वाली दया की एक लहर थी। इसको उसकी मौज कहते हैं। उनका नाम 'राधा' भी है। यह दया और प्रेम की एक बाढ़ है। यह प्रेम के परमानन्द से उत्पन्न हुई बाढ़ का प्रवाह है। जिस प्रकार एक शराबी चाहता है कि दूसरे भी उसके नशे के सरूर या मजे में शरीक हों और बिना किसी मतलब के उनको पिलाने लगता हैं, उसी प्रकार परम पिता की यह मौज हुई कि सब उसके आनन्द में शरीक हों। यदि परम पिता के सार-तत्त्व को गुण कहा जा सकता है, तो प्रेम उसका पहला गुण है।

उस अंडाकार भंडार में बाढ़ आने पर जो धार उससे निकली, उसमें वह चैतन्य शामिल था, जो नीचे से ऊपर अनामी पुरुष में खिच गया था, वह रचना करने के लिये नीचे उतरा। चैतन्य के इस खजाने के बिना रचना का काम कभी शुरु नहीं हुआ होता। जिस प्रकार वह अंडाकार रूप प्रकट मालिक के शरीर का प्रथम रूप था। उसी प्रकार वह धार उसकी श्वांस थी। रचना की क्रिया तभी शुरु हुई, जबकि वह धार निकली, यानि श्वाँस क्रिया प्रारम्भ हुई। एक दूर का उदाहरण एक बच्चे के जन्म से लिया जा सकता है। जन्म से पहल जीव सहसदल कमल में चैतन्य समाधि में रहता है। जब सुरत या जीवात्मा शरीर में प्रवेश करती है, उस समय सभी अंग अपने बीज रूप में अविकसित अवस्था मे होते हैं। क्रिया केवल तभी शुरु होती है जबकि बालक स्वाँस लेना प्रारम्भ करता है। इस समानता को विस्तृत रूप में नहीं लेना चाहिये, क्योंकि वे विस्तृत रूप बाद में पैदा हुए। या कम से कम यदि वे उस प्रारम्भिक दशा में अपने बीज रूप में मौजूद कहे भी जायें, तब भी वे ऐसे रूप में नहीं थे जिस रूप में कि हम उन्हें अपनी इन्द्रियों की सहायता से होने की आशा रखते हैं। ऐसी उपमाओं और समानताओं का प्रयोग करना अनुचित है। परन्तु उनका अर्थ सावधानी के साथ लगाया जाय, तो वे बड़ी काम की हैं।

किसी पदार्थ के विषमता से रहित क्षेत्र पर एकाग्रता की क्रिया का असर होने से उसके ये तीन विभाग अवश्य बनेंगे:—

(१) धनात्मक ध्रुव का विभाग, जहां एकाग्रता सबसे अधिक है,
(२) ऋणात्मक ध्रुव का विभाग, जहाँ एकाग्रता सबसे कम है, तथा
(३) उन दोनो के बीच में साम्यावस्था का विभाग।

यहाँ धनात्मक ध्रुव वस्तुतः कुल मालिक या अनामी पुरुष था। साम्यावस्था के प्रदेश का वह भाग जो कुल मालिक से लगा हुआ उसके बाद था, पहली रचना का क्षेत्र बन गया। यह रचना निर्मल चैतन्य के मण्डलों या देशों की है उस सन्तुलित प्रदेश का नीचे वाला भाग ब्रह्मांडों का देश बन गया। यह दूसरी या नीचे दर्जे की रचना का एक भाग है सबसे नीचे दर्जे की चेतनता वाले प्रदेश में पिंड रचे गये। यह देश भी नीची रचना का एक भाग है। उन्हीं पिंडों में से एक में हमारी दुनिया स्थित है।

अब अनामी पुरुष की आकर्षण शक्ति के प्रभाव से जो नीचे दर्जे की चेतनता नहीं खिच सकी, उसमें अलग अलग शक्ति बन गये और उसका सारा प्रदेश अलग अलग सुरतों या जीवात्माओं से, जो बेहोशी की हालत में बड़ी हुई थीं भर गया। उस निकलने वाली धार तथा उस रचना की क्रिया का जिसको वह शुरु करने वाली थी, अभिप्राय यह था कि ये सुरतें जगाकर पूरे तौर से होश में लाई जायें। क्रमशः

उत्तर प्रदेश ग्रामीण समुदाय पर समाज-शिक्षा का प्रभाव

सत्येन्द्र कुमार साहानी

हमारा ग्रामीण समाज बहुत काल तक उपेक्षित रहा क्योंकि ग्रामीणों ने नव-निर्माण एवं विकास के बारे मे बहुत ही कम सोचा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के चार वर्ष बाद जब प्रथम पंचवर्षीय योजना को कार्यान्वित किया गया तथा इस बात पर अधिक जोर दिया गया कि जब तक ग्रामों का नव-निर्माण एवं विकास नहीं होगा तब तक देश का विकास सम्भव नहीं। ग्रामीण-समुदाय भारत का एक अंग नहीं, वरन् भारतवर्ष स्वयं है। लगभग ८० प्रतिशत जनता ग्रामों में रहती है, राज्य की तरफ से देश के पुनर्निर्माण एवं विकास के लिये जो भी कदम उठाये जायें वह भारतवर्ष के प्रत्येक विभाग के लिये होने चाहिये। जिस प्रकार ग्राम निर्माण की परिधि के व्यक्ति और समाज दोनों का जीवन शामिल है उसी प्रकार समाज शिक्षा भी व्यक्ति और समाज दोनों के जीवन को प्रभावित करती है। समाज शिक्षा ग्रामीण जनता के दृष्टिकोण को व्यापक बनाती है उनके बीच फैली हुई अज्ञानता एवं अन्धविश्वास को दूर करके उच्च जीवन व्यतीत करने की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न करती है। समाज शिक्षा व्यक्ति तथा समूह में सामंजस्य लाती है यहाँ तक कि वे सामुदायिक कल्याण की रक्षा करने में समर्थ हो सकें। (दुबे १९५८)

ग्राम-निर्माण एवं विकास में समाज शिक्षा का मुख्य स्थान रहा है। समाज शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार का कार्य श्री रवीन्द्र नाथ टैगोर, हल-हिर्स्ट, अलबर्ट मेयर तथा स्पेसर हैच के द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व भी लिया जा चुका था। १९२० से १९३८ तक श्री गांधी जी ने सावरमती में इस कार्य को आगे बढ़ाने के लिए मूल्यवान कार्य किये। १९३७ में ग्रामीण पुर्ननिर्माण एवं विकास का कार्य कांग्रेस मण्डली के द्वारा किया गया तथा विशेष वल ग्रामीण सफाई, प्रौढ़ शिक्षा, मनोरंजन–पुस्तकालय तथा कुटीर उद्योगों पर दिया गया। लेकिन राज्य की तरफ से इस कार्यक्रम को सफल बनाने के लिये एवं ग्रामीण क्षेत्रों में समाज शिक्षा का विकास करने के लिये ठोस कदम नहीं

उठाये गये। सन् १९५१ में जब प्रथम पंचवर्षीय योजना चालू की गई तो उसमें भी समाज-शिक्षा के लिए अलग से राशि निर्धारित की गई। सन् १९५२ में जब सामुदायिक-विकास कार्यक्रम को शुरु किया गया तब समाज शिक्षा का महत्व और भी बढ़ गया क्योंकि समाज-शिक्षा के बिना सामुदायिक विकास कार्यक्रम सफल नहीं हो सकता था। समाज शिक्षा के द्वारा ही जनता का आध्यात्मिक, बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक विकास सम्भव है। (डे० १९५४—६१)

हमारे देश में समाज शिक्षा का निगमन स्थान प्रौढ़ शिक्षा (एडल्ट एज्यूकेशन) है। इस का प्रचार प्रौढ़ शिक्षा के माध्यम से एक आन्दोलन के रूप में शुरु हुआ तथा बहुत समय तक समाज शिक्षा की धारणा प्रौढ़ शिक्षा तक ही सीमित रही। भूतपूर्व शिक्षा मन्त्री मौलाना अब्दुल कलाम आजाद के अनुसार—"समाज शिक्षा से हमारा अर्थ पूर्ण मनुष्य के लिए शिक्षा से है। शिक्षा उसे बतायेगी कि वह किस प्रकार अपने वातावरण से सामंजस्य स्थापित करे तथा जिन भौतिक आवश्यकताओं में वह रह रहा है, उनसे किस प्रकार अधिक से अधिक लाभ प्राप्त कर सकता है, जिससे जीवन सुखी एवं समृद्ध हो सके। (एम० सी० डी० १९५५)

सामुदायिक विकास के द्वारा समाज शिक्षा की धारणा को व्यापक रूप से व्यक्त किया। सामाजिक कार्य द्वारा सामाजिक विकास कराने की पद्धति समाज शिक्षा है। महात्मा गांधी जी ने समाज शिक्षा की धारणा को व्यापक रूप से व्यक्त किया। उन्होंने कहा—समाज शिक्षा जीवन के लिये, जीवन के द्वारा, तथा जीवन पर्यन्त शिक्षा है।" राधाकृष्णन ने कहा है "समाज शिक्षा का प्रारम्भ पालने से शुरु होता है तथा अन्त कब्र में होता है।" (दत्ता—१९५८)

अत: समाज-शिक्षा की धारणा का निष्कर्ष यही है कि समाज शिक्षा दृष्टिकोण को व्यापक करने की शिक्षा है। यदि जनता का दृष्टिकोण व्यापक होगा तो उसके मन की संकीर्णता दूर हो जायेगी। वे परिवर्तनशील युग की मांग के अनुसार अपने को ढालने तथा नवीन युग में सामंजस्य स्थापित करते रहेंगे।

समाज शिक्षा का उद्देश्य उच्च श्रेणी से लेकर निम्न श्रेणी तक के सभी व्यक्तियों का विकास करनाहै—तथा उनको इस योग्य बनाना है, कि वे परिवर्तनशील आर्थिकऔर सामाजिक दशाओं के अनुसार अपने को अनुकूल बनाते रहे। इसमें सरकार और ऐच्छिक संस्थायें कार्य कर रही हैं।

समस्या का अध्ययन करने के लिये जिस गाँव को लिया गया, उसका नाम 'दुल्हा सवलपुर' जिला मुरादाबाद के ठाकुरद्वारा ब्लाक के ८ मील की दूरी पर स्थित है। १९६१ की जनगणना के अनुसार आबादी ३००० है। इस गाँव के आदमी जो १९६६ की वोटर लिस्ट में थे और गांव में रहते थे, साक्षात्कार किया गया। मैंने वोटर्स लिस्ट से साधारण रैन्डम सैम्पिल का उपयोग करके साधारण सैम्पिल लिया। अपने अध्ययन के लिये इस गांव के विभिन्न जातियों के ५० परिवारों को चुना एवं प्रत्येक परिवार के मुखिया का साक्षात्कार (इन्टरव्यू) किया। अपने अध्ययन में साक्षात्कार-सुची का प्रयोग किया है।

तालिका न० १ सर्वेक्षित सदस्यों की शिक्षा का स्तर स्पष्ट करती है।

तालिका १

शिक्षा का स्तर	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
निरक्षर	१७	३४
साक्षर	१०	२०
प्राइमर	१२	२४
माध्यमिक	१०	२०
उच्च	१	२

तालिका १ से स्पष्ट है कि ३४ प्रतिशत व्यक्ति निरक्षर हैं। २० प्रतिशत व्यक्ति सिर्फ साक्षर हैं, अपने हस्ताक्षर कर लेते हैं, २४ प्रतिशत प्राईमरी, २० प्रतिशत माध्यमिक शिक्षा प्राप्त हैं। २ प्रतिशत उच्च शिक्षा प्राप्त हैं एवं निरक्षर मिलाकर ५४ प्रतिशत व्यक्ति ऐसे हैं जिन पर समाज-शिक्षा का प्रभाव कम होना स्वाभाविक है। अन्य ४६ प्रतिशत व्यक्तियों पर किसी न किसी रूप में समाज-शिक्षा का प्रभाव है। वह पढ़ लिख सकते हैं।

तालिका २ समाज शिक्षा शब्द के बारे में जानकारी स्पष्ट करती है।

तालिका २

समय	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
कभी नहीं जाना	४२	८४
२ वर्ष से पहले	२	४
४ ,,	४	८
६ ,,	--	--
८ ,,	१	२
१० ,,	१	२

तालिका २ से यह स्पष्ट है कि ८४ प्रतिशत व्यक्ति ऐसे हैं जिन्होंने अभी तक समाज शिक्षा शब्द का नाम ही नहीं सुना। १६ प्रतिशत व्यक्ति जो समाज शिक्षा शब्द के नाम से परिचित हैं।

तालिका ३ ग्रामीण-समुदाय के खाली समय के उपयोग को प्रस्तुत करती है।

तालिका ३

खाली समय के प्रकार	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
सामूहिक वार्ता	९	१८
मुकदमे बाजी	१	२
धार्मिक वार्तालाप	२६	५२
बच्चों को पढ़ाना	२७	५४
ईश्वर-भजन	११	२४
सामूहिक कार्यकलाप	-	--
पारस्परिक विचार विमर्श	५-	१०
कृषि सम्बन्धी वार्तालाप	२२	४४

तालिका ३ से स्पष्ट है कि १८ प्रतिशत व्यक्ति अपने खाली समय का उपयोग सामूहिक वार्ता में ४४ प्रतिशत कृषि सम्बन्धी वार्तालाप मे, ५२ प्रतिशत धार्मिक वार्तालाप में, ५४ प्रतिशत बच्चों का पढ़ाने में, २४ प्रतिशत ईश्वर भजन, १० प्रतिशत पारस्परिक विचार विमर्श में और सिर्फ २ प्रतिशत मुकदमे बाजी एवं लड़ाई झगड़ों में और ० प्रतिशत सामूहिक कार्य-कलाप में खाली समय का उपयोग करते हैं।

तालिका न० ४ से इस बात का पता लगाने की कोशिश की गई है कि ग्रामीण समुदाय अपने वोट की कीमत समझ पाये हैं या नहीं।

तालिका ४

चुनावों के भाग लेने वाले व्यक्तियों के प्रकार	उत्तर दाताओं की संख्या	प्रतिशत
जिसके पास खूब पैसा हो	—	—
जो पुराना खानदानी जमीदार हो	—	—
जो अपनी ही जाति का हो	२२	४४
जो सामाजिक कार्यों में भाग लेता हो	१५	३०
जो पढ़ा लिखा हो	१२	२४
जो किसी सामाजिक दल का सक्रिय नेता हो	१	२

तालिका ४ से स्पष्ट है कि ४४ प्रतिशत व्यक्तियों की राय में ग्रामीण चुनावों में वोट अपनी ही जाति के व्यक्तियों को देना चाहिये, ३० प्रतिशत की राय है कि वोट ऐसे व्यक्तियों को देना चाहिए जो सामाजिक कार्यों में भाग लेते हों। २४ प्रतिशत की राय में पढ़े-लिखे आदमी को वोट देना चहिये। २ प्रतिशत व्यक्ति सामाजिक दल के सक्रिय नेता के पक्ष में हैं। अतः स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में समाज शिक्षा का प्रभाव नहीं पड़ रहा है क्योंकि अब भी जनता जाति-पांति को अधिक महत्व देती है।

तालिका न० ५ से इस बात का पता लगाया गया है कि ग्रामीणों के अपने से निम्न जाति में विवाह करने के सम्बन्ध में क्या मत हैं।

तालिका ५

विवाह	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
जो अपने से निम्नजाति में विवाह नहीं करना चाहते।	४६	९६
जो अपने से निम्न जाति में विवाह करना चाहते हैं।	२	४

तालिका ५ में ग्रामीण समुदाय में ९६ प्रतिशत व्यक्ति अपने से निम्न जाति में विवाह नहीं करना चाहते। सिर्फ २ प्रतिशत व्यक्ति अपने से निम्न जाति में विवाह करना चाहते हैं। अतः इस क्षेत्र में समाज शिक्षा का कोई भी प्रभाव समुदाय पर नहीं है।

उपरोक्त अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि समाज शिक्षा पर जो कुछ भी राशि व्यय की गई उसके पूर्ण प्रभाव को हम देख सकते हैं। इस सर्वेक्षण से ही स्पष्ट है कि जनता के मानसिक, भौतिक, आर्थिक क्षेत्र में पहले की अपेक्षा काफी परिवर्तन आ गया है पर समाज शिक्षा के प्रभाव की उन्नति बहुत कम हुई है। जैसा कि हम तालिकाओं में देखते हैं कि बहुत कम लोग शिक्षा में रुचि रखते हैं इसके अतिरिक्त ८४ प्रतिशत व्यक्ति ऐसे हैं जिनको समाज शिक्षा का अर्थ ही नहीं मालूम और न ही कभी जाना है, एक व्यक्ति से पूछा जिसको इसका ज्ञान था, तो उसने बताया इस शब्द को जे० टी० सी० की ट्रेनिंग में जाना। विकास क्षेत्र के कर्मचारियों से किसी भी व्यक्ति ने समाज सेवा नाम नहीं सुना। समाज शिक्षा के विषय में जानकारी न होने का एक मात्र कारण यह भी है कि समाज शिक्षा का प्रारम्भ प्रौढ़ शिक्षा के रूप में हुआ। इसी कारण ग्रामीण जनता समाज शिक्षा शब्द की जानकारी से वंचित है। फिर कर्मचारी ब्लॉक से दूर ग्रामों में जाने का कष्ट ही नहीं करते हैं। जब ग्रामीणों के खाली समय के उपयोग का अध्ययन किया तो उसमें पाया कि ग्रामीण जनता के व्यक्तिवादी विचारधारा का विकास हो रहा है यही कारण है कि सामूहिक कार्य-कलाप का प्रतिशत जोरों पर है। पारस्परिक सहयोग एवं एकता की भावना समाप्त प्राय: है जो कि ग्रामीण समुदाय का मुख्य अंग है। इसका मुख्य कारण ग्रामों में समाज शिक्षा का प्रचार सही रूप से न होना है। इसके अलावा प्रशिक्षण में यह देखा गया कि ग्रामों में जाति पांति का अधिक महत्व है क्योंकि ४४ प्रतिशत व्यक्तियों की राय चुनावों के वोट अपनी जाति को देने की है अत: स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में समाज शिक्षा का प्रभाव नहीं पड़ रहा हैं जिसका मुख्य कारण जाति पाति है। इसके अतिरिक्त ग्रामों में ऊँच नीच, की भावना बड़े जोरों पर चल रही है अत: स्पष्ट है कि अभी तक जाति पांति, ऊँच नीच छोटे-बड़े की भावना जनता में कूट कूट कर भरी हुई है। अत: इस क्षेत्र के समाज शिक्षा का कोई भी प्रभाव ग्रामीण समुदाय पर अधिक नहीं है।

समाज शिक्षा में उन प्रत्येक प्रकार के कार्यों का समावेश है जिन से समुदाय का विकास अपेक्षित है जैसे नेतृत्व के लिए प्रशिक्षण, वयस्कों को साक्षर बनाना तथा उनको नागरिक जीवन की जिम्मेदारियों के लिए तैयार करना हैं। स्थानीय नेतृत्व का विकास तभी हो सकता है जब कि गांवों में युवक मंडल दल, युवती मंडल दल एवं कृषक गोष्ठियाँ आदि का आयोजन किया जाय। समाज शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य सामाजिक एकता को बढ़ाना तथा सांस्कृतिक एकता का प्रचार करना है। जबकि ग्रामीण समुदाय में इन दोनों चीजों की विशेष रूप से कमी है। अभी तक ग्रामीण गण सामूहिक कार्यकलाप, पारस्परिक विचार विमर्श, खेल कूद आदि कार्यों में भाग लेने के प्रति भी उदासीन हैं। अभी तक ग्रामीण जनता अपने खाली समय का सदुपयोग नहीं कर रही है और न सब व्यक्तियों को इस बात की जान कारी है कि सामुदायिक विकास कार्य-क्रम जनता का कार्य क्रम है, वह उसकी उन्नति एवं विकास से सम्बन्धित है, अत: जनता को उत्तरदायित्वपूर्ण एवं उत्तरदायित्व को निभाने वाली एक इकाई बनाने के लिए अधिक से अधिक पुस्तकालयों तथा सामुदायिक केन्द्रों का निर्माण करना चाहिए।

जब तक प्रत्येक गाँव में सरकार के द्वारा ग्रामीण एक इकाई के रूप में कार्य नहीं करेंगे, तथा ऊंच नीच, छोटे एवं बड़े 'हम' के स्थान पर 'मैं' की भावना का विकास रहेगा तब तक ग्रामीण समुदाय पर समाज शिक्षा का प्रभाव है, यह विषय अधूरा रहेगा। इससे ग्रामों की जनता में शिक्षा के प्रचार जाति पांति के भेदभाव तथा समय के सदुपयोग का कोई मूल्य नहीं रहेगा।

REFERENCES—:

[1] Dube S. C. 1958.— India's Changing Villages Human Factors in Community Development.

[2] Day. S. K. 1954–65.— Community development A. Chronical Ministry of C. D. Panchayat and Co-operation Govt. of India.

[3] Datta. S. C. 1958— Chief Minister Indian Council of Adult "SAMAJ" Banaras.

[4] Govt.'s Publication (1955—63)— Purpose of Social Education Report of Commitee on Education.

जगत-मिथ्यात्व

संकठा प्रसाद सिंह

भारतीय दर्शन में संसार के स्वरूप को लेकर बहुत सी विचार-धारायें खड़ी हुई हैं। वेदान्त दर्शन के आचार्यों ने भी इसे इतने भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट किया है कि यथार्थ स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता। कुछ ने शंकराचार्य को पूर्णत: वस्तुवादी (Realist) के रूप में रखा है तो दूसरों ने इसके प्रतिकूल आत्म-प्रत्ययवादी (Subjective-Idealist)। मेरे इस लेख में इन्हीं विचारों को स्पष्ट करने का प्रयास है।

मुख्य विचार :—

वेदान्त के अनुसार चरम सत्ता आत्मा है जो विभिन्न व्यक्तियों में प्रकट होते हुए भी एक है। जगत इस आत्मा से भिन्न कोई दूसरी सत्ता नहीं है। दूसरे भारतीय सिद्धान्तों ने उन प्रमाणों पर जोर दिया है जिनसे सांसारिक वस्तुओं का व्यावहारिक रूप समझा जा सके। पर वेदान्त ने और गहराई में प्रवेश करने की कोशिश की है, और कोशिश की है उस सत्ता के समझने की जिसे 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' कहा गया है। उपनिषद का महावाक्य है: तत्त्वमसि। अपनी आत्मा को चरम सत्ता समझना ज्ञान की उपलब्धि है क्योंकि यह ज्ञान ज्योंहीं हो जायगा त्यों ही जगत-प्रपञ्च स्वत: समाप्त हो जायेगा। लेकिन जब तक अन्त:करण सभी प्रकार की इच्छाओं से रहित होकर शुद्ध नहीं हो जायेगा, हम अपने स्वरूप को नहीं समझ सकते। पर एक बार उस सत्य को पा लेने पर कुछ बाकी नहीं रहता और 'तत्त्वमसि' का सत्य स्पष्ट हो जाता है। ज्ञाता स्वयं सत्य का स्वरूप बन जाता है। यही शुद्ध ज्ञान तथा शुद्ध आनन्द भी होता है। तब नानात्व के सभी विचार और अनुभव समाप्त हो जाते हैं ; न कोई द्वैत की भावना रह जाती है और न मेरा-तेरा का विचार।

साधारणत: दूसरे सभी हिन्दू दर्शन में भी यह कहा गया है कि जब मनुष्य मुक्ति प्राप्त करता है तो वह संसार की भावना से ऊपर उठ जाता है, उसे अपना और अपने हित का विचार नहीं रह जाता। उसे अपनी मूल शुद्धता प्राप्त हो जाती है जहाँ न कोई संवेग होता है न कोई प्रत्यक्ष; न कोई अनुभव और न कोई इच्छा। पर इस विचार धारा के मूल में सिद्धान्त दूसरा है वह है: जब मनुष्य के कर्म-बन्धन समाप्त

हो जाते हैं और संसार के प्रति कोई इच्छा और आसक्ति नहीं रह जाती, वह अपनी आत्मा के स्वरूप को समझ लेता है कि वह बिल्कुल स्वतन्त्र तथा संसार के बन्धन से रहित है तो वह संसार में मोक्ष प्राप्त कर लेता है और संसार से उसके सभी सम्बन्ध विच्छेद हो जाते हैं, यद्यपि संसार दूसरों के लिए सदा की भांति चलता रहता है। ये सभी मत बाह्य संसार की सत्यता को मानते है। उनके लिये असत्यता का अर्थ है— आत्मा के मूल स्वरूप का ज्ञान न होना। इसी कारण आत्मा अज्ञानवश सांसारिक अनुभव से अपने को एकाकार कर देती है और उसके अनुसार अच्छे-बुरे कार्य करती है। अपने संचित कर्मों के कारण मनुष्य जन्म-मरण के बन्धन में पड़ा रहता है और उसे विभिन्न प्रकार के अनुभव होते रहते हैं। अपनी आत्मा के प्रति अनभिज्ञ, अपने कर्म के फल को भोगता हुआ, वह संसार के झूठे सम्बन्धों में फँसा रहता है। मुक्ति का अर्थ है इन झूठे सम्बन्धों से अपने को अलग कर लेना। न्याय वैशेषिक तथा मीमाँसा में मूल आत्मा को अचेतन माना गया है साँख्य योग में इसे शुद्ध ज्ञान कहा गया है। इन सभी दर्शनों में आत्मा से भिन्न संसार की अपनी सत्ता मानी गयी है।

वेदान्त का मत इनसे भिन्न है क्योंकि इसके अनुसार संसार अपने में सत्य नहीं है। यह तो केवल मृग-मरीचिका की भाँति भ्रम है जो सत्य-ज्ञान के अभ्युदय न होने तक रहता है। ज्यों ही हम लोग यह जानने में समर्थ हो जाते हैं कि केवल एक आत्म-तत्त्व ही सत्य है जिसे ब्रह्म कहते हैं तो संसार से सभी भ्रामक प्रत्यक्ष समाप्त हो जाते है। यह इसलिये नहीं होता कि आत्मा का सम्बन्ध संसार से छूट जाता है बल्कि इसलिये होता है कि संसार-प्रवाह किसी सत्ता का द्योतक नहीं रह जाता। हमारी संसार के प्रति सभी धारणायें असत्य हैं क्योंकि वह किसी तथ्य का प्रदर्शन नहीं करता। इस समय हम लोग अपने ही बारे में नहीं बल्कि संसार के बारे में भी अनभिज्ञ हैं हम समझते हैं कि हमारे साधारण अनुभव संसार को ठीक-ठीक बतला रहे हैं। और उसी के अनुरूप हम अपने व्यवहार करते हैं। इसमें शक नहीं कि हमारे अनुभव संसार में एक व्यवस्था दर्शाते हैं। जिसके अपने नियम है, पर यह व्यवस्था किसी चरम सत्य का प्रतीक नहीं है। इसके सत्य अस्थायी हैं, वे तभी तक सत्य हैं जब तक दिखलाई पड़ रहे हैं, क्योंकि ज्यों ही उनके और आत्मा के बारे में वास्तविकता का बोध हो जायगा त्यों ही सभी जगत्-व्यवहार असत्य मालूम पड़ने लगेगा। तब केवल एक ब्रह्म—सच्चिदानन्द—की सत्ता दिखलाई पड़ने लगेगी। फिर मनुष्य और जगत में कोई द्वैत नहीं रहेगा, हर जगह केवल एक ही सत्य प्रदर्शित होगा। वेदान्त में संसार के अनुभव की तुलना प्रायः शुक्ति में रजत के अनुभव से की गयी है ; क्योकि जब यह अनुभव मनुष्य को सत्य मालूम पड़ता है तो वह उसे लेने के लिये दौड़ता है मानो शुक्ति सचमुच रजत है। पर ज्यों ही उसे सत्य का ज्ञान हो जाता है कि यह तो शुक्ति है, वह उसे छोड़ देता है और फिर उसके भ्रम में मोहित नहीं होता। रजत का भ्रम अपने में अनिर्वचनीय है क्योंकि वह जब तक था हमारे व्यवहार में सभी जगह सत्य था, पर जब सच्चे ज्ञान की प्राप्ति हो गई, वह उसी क्षण विलीन हो गया। वैसे ही सत्य-ज्ञान के अभ्युदय होते ही, यह जगत्-प्रपञ्च भी विलीन हो जायगा। जब एक बार असत्य ज्ञान असत्य मालूम पड़

जाता है। तो फिर वह कभी नही लौट सकता। दूसरे सिद्धान्तों में कहा गया है कि मुक्ति के बाद भी संसार अपने रूप में चलता रहेगा, इसमें किसी प्रकार की भ्रामिकता नहीं है केवल मुक्त-आत्मा को उसका ज्ञान नही होगा क्योंकि इस ज्ञान को देने वाले साधन ही उपस्थित नहीं रहेंगे। जब बुद्धि-सत्व अलग होकर प्रकृति में लय हो जाता है तो सांख्य का पुरुष संसार को नही जान सकता। मीमांसा तथा न्याय की आत्मायें भी मुक्ति उपरान्त संसार को जानने मे असमर्थ हो जाती हैं क्योंकि उस समय उनका मनस् से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। पर वेदान्त का मत यहाँ बिल्कुल भिन्न है। इसके अनुसार हम संसार को इसलिये नहीं जान सकते कि जब सत्य-ज्ञान का अभ्युदय हो जाता है तो ब्रह्म-ज्ञानी को संसार के अनुभव स्वयं अपने को असत्य साबित कर देते हैं। जब सत्य का ज्ञान हो जाता है तो भ्रम नहीं रह सकता। सत्य तो प्राप्त हो जाता है, पर भ्रम के बारे में कुछ कहना कठिन है; न वह दिखलाया जा सकता है और न उसकी परिभाषा हो सकती है। भ्रम अनादि काल से चलता आ रहा है; हम लोग नहीं जानते कि वह सत्य से कैसे सम्बन्धित है। पर इतना हम अवश्य जानते है कि जब एकबार सत्य का ज्ञान हो जायेगा तो संसार-भ्रम रूपी असत्य ज्ञान सदा के लिये समाप्त हो जायेगा। इसके लिये किसी मध्यस्थ साधन की आवश्यकता नहीं और न बुद्धि या मन का निराकरण। जैसे चमकते हुये टुकड़े को मुक्ति जान लेने के बाद रजत का भ्रम नष्ट हो जाता है वैसे ही सत्य-ज्ञान हो जाने पर संसार का भ्रम नष्ट हो जाता है। उपनिषदों के अनुसार सत्य एक है, कहीं पर नानात्व नहीं है। शंकर ने अपनी व्याख्या में जोड़ दिया है कि नानात्व केवल भ्रम है; माया है। अतः उसकी तात्विक सत्ता नहीं है; सत्य के प्राप्त हो जाने पर उसे समाप्त होना ही है। संसार माया है—इसी पर अद्वैत वेदान्त में जोर दिया गया है।

मिथ्यात्व का स्वरूप

माया की आलोचना में प्रश्न पूछा जाता है कि माया का ब्रह्म के साथ कैसा सम्बन्ध होता है। पर वेदान्त में इस प्रश्न को अनर्गल कहा गया है। क्योंकि यह सम्बन्ध किसी समय विशेष में प्रारम्भ नहीं होता। वास्तव में यह कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है क्योंकि माया-सृष्टि अपरिवर्तनशील सत्य में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं लाती। माया कोई वास्तविक सत्ता नही है। यह ऐसी अविद्या है जो भ्रम का रूप धारण कर लेती है और ज्ञान प्राप्त हो जाने पर विलीन हो जाती है। इस अविद्या की केवल दिखावटी सत्ता है। वह जब तक है तभी तक है, पर ज्योंहीं सत्य का ज्ञान हो जाता है, त्यों ही वह समाप्त हो जाती है। इसकी केवल प्रातीतिक सत्ता कही जा सकती है। जब तक हम लोग भ्रम मे हैं तब तक इसकी सत्ता है। अतः माया ऐसी सत्ता है जिसे सत्–असत् की साधारण तार्किक व्याख्या द्वारा स्पष्ट नही किया जा सकता। इसीलिये इसे 'तत्त्वान्यत्वाभ्याम् अनिर्वचनीया' कहा गया है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि ऐसी तार्किक सत्ता होती ही नहीं क्योंकि हमारे सभी स्वप्न तथा भ्रम इसको दर्शाते है। उनकी सत्ता है क्योंकि उनका अनुभव होता है, पर उनकी सत्ता नहीं भी है क्योंकि अनुभव से अलग वे नहीं होते। यदि उनमें कोई रचनात्मक क्रिया है तो वह क्रिया भी

उतनी ही भ्रामक है क्योंकि सृष्टि ही तभी तक है जब तक अविद्या है। ब्रह्म माया से किसी प्रकार विकृत नहीं हो सकता क्योंकि सत्य का असत्य के साथ सम्बन्ध ही क्या ? यह भी एक भ्रम है।

संसार को असत्य कहा गया है—केवल माया की सृष्टि। पर यह सृष्टि न सत् है और न असत्। यहाँ सत्-असत् की बाधिता समय से सुलझती है। संसार असत् है क्योंकि यह सभी काल में रहने वाला नहीं है। इसकी सीमा है—सत्य-ज्ञान के उदय होने तक। पर यह आकाश-कुसुम की तरह असत् नहीं है। ऐसी वस्तुओं को तुच्छ कहा जाता है जिनकी कभी भी सत्ता सम्भव नहीं संसार को इस दृष्टि से सत् कहा जा सकता है क्योंकि यह हमारे अविद्या-काल तक अनुभवशील रहता है। चूँकि यह कुछ काल तक रहता है इसलिये यह सत् है, पर सभी काल में न रहने के कारण असत् है। यही जगत्-प्रपञ्च का मिथ्यात्व है यह न सत् है और न असत्। इसी को यों भी कहा जा सकता है: जगत्-मिथ्यात्व का अर्थ है कि यद्यपि यह सत्य की तरह प्रतिभासित होता है पर वास्तविक ज्ञान के अभ्युदय हो जाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि संसार की सत्ता कभी थी ही नहीं, इसकी सत्ता इस समय नहीं है और न आगे कभी होगी। यही बात हम लोग सब प्रकार के भ्रम में पाते हैं; यदि एक बार यह मालूम हो जाता हैं कि यह वास्तव में रस्सी है तो सर्प जो कुछ देर पहले दिखलाई पड़ रहा था। वह भ्रम था। वह सर्प न पहले था, न अब है और न भविष्य में होगा। इस भ्रम ने रस्सी की ओर इशारा कर हम लोग कह सकते हैं कि यह सर्प है। वैसे ही ब्रह्म की शुद्ध सत्ता की ओर इशारा करके हम लोग कहते हैं—यह संसार है। पर जैसे रस्सी का ज्ञान हो जाने पर हम लोग सोचने लगते हैं सर्प वहाँ कभी नहीं था, वैसे ही ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर हम समझने लगेंगे कि संसार कभी नहीं था। यहाँ संसार का अभाव सत्य-ज्ञान से भिन्न नहीं है। सत्य का ज्ञान होना ही संसार का अभाव है। अभाव वस्तु विशेष (संसार) और अपने आप दोनों से अर्थ रखता है। क्योंकि यदि अभाव असत्य नहीं हैं तो ब्रह्म से भिन्न वह एक सत्ता रह जायगा। और ब्रह्म का अद्वैत समाप्त हो जायेगा। वह फिर साथ ही साथ संसार की सत्ता को स्थापित कर देगा। संसार का अभाव उतना ही असत्य है जितना स्वय संसार। अत: सत्य की प्राप्ति के बाद अभावात्मक विचार कि संसार की सत्ता नहीं है। अपने में अभाव को भी शामिल करता है और शुद्ध सत्ता के रूप में जो शेष बच जाता है वह होता है स्वयं ब्रह्म—अद्वैत सत्ता। संसार रूपी भ्रम की विशेषता है कि यह सत् के साथ सुव्यवस्थित सा लगता है यद्यपि इसकी अपनी कोई सत्ता नहीं। यह सत्य से भिन्न है क्योंकि सत्य प्रमाण-सिद्धि है और तदोपरान्त के अनुभव अथवा दूसरे प्रमाण द्वारा उसकी सत्ता खण्डित होने वाली नहीं है। कोई वस्तु तभी तक सत्य है जब तक वह बाधित नहीं होती ज्ञान के अभ्युदय होने पर यह ससार बाधित (असत्) सिद्ध हो जाता है इसीलिये इसे सत्य नहीं कहा जा सकता। अत: केवल ब्रह्म सत्य है और संसार मिथ्या।

ब्रह्म स्वप्रकाश है और संसार की सभी वस्तुओं से भिन्न कोई रूप रखने वाला नहीं। इसलिये यह किसी चेतना का विषय नहीं बन सकता। शुद्ध चेतना के रूप में

ब्रह्म केवल द्रष्टा हैं शेष सभी वस्तुयें—प्रत्यय, संवेग, इत्यादि दृश्य हैं। ज्यों ही कोई वस्तु सामने आती है उससे मानसिक वृत्ति बन जाती है। उसका कुछ रूप हो जाता है तब वह दृश्य होती है। सभी विषयों का यही स्वरूप है। वे मानसिक वृत्ति के रूप में चेतना में आने के अलावे अपने को प्रकाशित नहीं कर सकते। उपनिषद्-मंच के अर्थ में जिसे समझते हैं वह ब्रह्म का सच्चा रूप नहीं है। सच्चा रूप उस समय होता है जब किसी आकार या गुण से सम्बन्धित न होकर केवल स्व प्रकाश और द्रष्टा होकर वह प्रकाशित होने लगता है। ब्रह्म-ज्ञान का कोई रूप या वृत्ति नहीं। दृश्यत्व की भावना में जड़त्व, अज्ञात्व, और अनात्मत्व भी निहित है। इसका अर्थ है—चेतना के विषय के रूप में इनमें स्वप्रकाशत्व का नहीं होना। ज्ञान का उसके विषय के साथ सम्बन्ध सत्य नहीं कहा जा सकता। यह भी भ्रम है क्योंकि ज्ञान और उसके रूप के बीच सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार शुक्ति का रजत-भास अपना स्वभाविक रूप नहीं है, वैसे ही जिस रूप प्रतिरूप में चेतना दिखलाई पड़ती है वह उसका अपना स्वभाव नहीं है। मुक्ति की अवस्था में जब केवल आनन्द ही आनन्द रह जाता है तो वह आनन्द कोई वस्तु नहीं या आत्म-प्रकाश का कोई रूप नहीं, बल्कि वह शुद्ध प्रकाश ही हैं। जब कभी चेतना के साथ किसी रूप का सम्बन्ध होता है तो वह चेतना का ऊपरी तथा भ्रामिक रूप होता है। ये आकार चेतना के स्वभाव में नहीं हैं बल्कि उससे भिन्न है—केवल इस रूप में नहीं कि वे अपने प्रकाश के लिये चेतना पर आश्रित है और स्वयं चेतना के विषय हैं बल्कि इस रूप में भी कि वे सभी सीमित हैं, परिच्छिन्न हैं। केवल चेतना के अशेष रूप में हर जगह व्याप्त है। घड़ा या गाय ऐसी वस्तुओं के आकार सीमित हैं, पर उन्हीं में से होकर सत्ता भी व्याप्त है, इसीलिये कहते हैं कि घड़ा है, गाय है (घट: अस्ति; गो अस्ति)। व्यक्तिगत रूपों में व्याप्त इस शुद्ध सत्ता से अलग कोई दूसरी जाति नहीं जिसे गोवत्व या घटत्व कहा जाय। इसी शुद्ध सत्ता पर सभी विभिन्न व्यक्तिगत आकार भ्रामिक रूप में अध्यस्त है (घटादीकं मदर्थे कल्पितम्, प्रत्येकं तदनुविद्धत्वेन प्रतीयमानत्वात्)। अत: संसार जो ब्रह्म से मूलत: भिन्न है मिथ्या है। चित्सुखाचार्य कहते हैं: उपादाननिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वलक्षण-मिथ्यात्व सिद्धि:।

वेदान्त संसार को असत्य कहता है फिर भी वह मानता है कि संसार की सत्ता इतनी भ्रामक नहीं जैसे रस्सी में सर्प या शुक्ति में रजत। रस्सी सर्प जैसे भ्रमों में प्रतिभासिक सत्ता मात्र है क्योंकि बाद के अनुभवों से ये असत्य साबित हो जाते हैं, लेकिन संसार का खण्डन इस प्रकार आसानी से नहीं होता। व्यावहारिक सत्ता पूर्ण रूपेण इसमें पाई जाती है। जब तक अद्वैत सत्ता के रूप में ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक संसार सुव्यवस्थित और अबाधित रूप में चलता रहता है। इसलिये इसे सत्य कहना चाहिये। हां, एक स्थल आता है जब संसार का अनुभव समाप्त हो जाता है। उसी पारमार्थिक दृष्टिकोण से हम संसार को असत्य कहते हैं। व्यवहार में यह संसार पूर्णत: सत्य है। केवल परमार्थ दृष्टि से असत्य है।

आलोचनाओं के उत्तर

अद्वैत वेदान्त के इस मत के प्रतिकूल बहुत सी आपत्तियां उठाई जा सकती हैं। आचार्यों ने उनके उत्तर भी दिये हैं। कुछ को हम यहां देखने की कोशिश करेंगे।

सर्व प्रथम तो यह पूछा जाता है कि जब हम बाहरी दुनिया में सत्व को देखते हैं तो उनकी सत्ता को इन्कार कैसे कर सकते हैं। इसका उत्तर वेदान्त देता है कि सत्य की धारणा ज्ञानेन्द्रियों से नहीं मिलती और न यही कहा जा सकता है कि इन्द्रियों के विषय सत्य-ज्ञान के विषय हैं। क्योंकि सत्य के बिना ज्ञान की और ज्ञान के बिना सत्य की कोई धारणा नहीं बन सकती। सत्य की धारणा में अपरिवर्तनशीलता, अद्वैत और स्वातंत्र्य की भी धारणा निहित है जो केवल अनुभव से नहीं प्राप्त हो सकती। अनुभव से सिर्फ ऊपरी आभास प्राप्त होता है, उसके भीतरी सत्य का ज्ञान नहीं होता। इस दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि सत्य हमारे सभी अनुभवों मे चेतना की स्वप्रकाश सत्ता है जो अपने सभी आभासो में एक सी है। संसार के अनुभव किसी प्रकार यह निश्चित नहीं कर सकते कि भविष्य में इनका खण्डन नहीं हो सकता। हमारे सभी अनुभवों में जो सदा उपस्थित रहने वाली वस्तु है वह है सत् और उसके रूप। इस सत् को न सामान्य कहा जा सकता है और न क्षणिक व्यक्तिगत अनुभव। यह वह सत्य है जो संसार की सभी वस्तुओं के मूल में है—एकेनैव सर्वानुगतेन सर्वत्र सत्प्रतीतिः। नैयायिकों के मत से संसार की वस्तुओं की सत्ता इसलिये है कि उनमें सत् रूपी सामान्य तत्व पाया जाता है। वेदान्त इसे नही मानता। उसके अनुसार वे केवल आभास मात्र है और सब एक ही सत् पर आधारित है। सत् वह अधिष्ठान है जिस पर सभी भ्रम आधारित हैं। यह सत् भिन्न वस्तुओं के साथ भिन्न नहीं है बल्कि सभी दर्शनों में एक है। ससार के हमारे अनुभव उसकी सत्यता को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त होते यदि उनमें अन्तर निहित सत्य इन्द्रियों के पकड़े में आ जाता और यदि अनुमान तथा श्रुति उसके प्रतिकूल न होते। प्रत्यक्ष से अनुमान खण्डित किया जा सकता है। पर यह तभी सम्भव है जब प्रत्यक्ष की अपनी सत्यता निश्चित और विवाद रहित रूप मे प्रमाणित हो जाय। लेकिन संसार की वस्तुओं के अनुभवों में ऐसी बात नहीं पायी जाती। क्योंकि हमारा वर्तमान अनुभव नहीं सिद्ध कर सकता कि यह भविष्य में खण्डित नहीं होगा और साथ-साथ अनुमान तथा श्रुति भी प्रतिकूल हैं। अनुमान द्वारा खण्जित हो जाने पर अनुभव मात्र से संसार की सत्ता प्रमाणित नही मानी जा सकती। हम सभी लोग सूर्य को एक छोटे से गोले के रूप में देखते हैं, पर हमारा यह प्रत्यक्ष अनुमान द्वारा खण्डित हो जाता है। इसलिये मानना पड़ता है हमारा अनुभव गलत है। यह अवश्य है कि हम अपने सभी कार्यों के लिये प्रत्यक्ष पर आश्रित है, पर इससे यह नहीं प्रमाणित होता कि जिस पर आश्रित रहा जाय यह निर्विवाद सत्य है। विधिवत परीक्षा के बाद ही किसी वस्तु की सत्यता प्रमाणित मानी जा सकती है, क्योंकि उसी से यह स्पष्ट हो पाता है कि उसमें किसी तरह की गलती नहीं है। यह अवश्य है कि हमारे सभी समसमयिक व्यक्ति साक्षी के रूप में प्रमाणित करते हैं और हमारे सभी व्यावहारिक फल और प्रयत्नों की सफलता से यह यह निःसदेह प्रमाणित होता है कि हमारे सामने

का संसार सत्य है। पर इस तरह की परीक्षा संतोष पूर्वक यह नहीं साबित कर सकती कि संसार का यह अनुभव भविष्य में किसी समय और किसी स्तर पर खण्डित नहीं किया जा सकता। वेदान्त मानता है कि हम संसार का जिस रूप मे अनुभव करते हैं उस रूप में वह सत् है; यह परीक्षा से भी प्रमाणित है। पर वह नहीं मानता कि संसार इसी रूप में सदैव सत्य रहेगा। एक समय आयेगा जब मुक्त आत्मा के लिये संसार की सत्ता समाप्त हो जायगी। संसार की वस्तुओं का अनुभव और उनका व्यावहारिक लाभ यह नहीं सिद्ध कर सकता कि उनका खण्डन भविष्य में नहीं होगा। अतः संसार का हमारा अनुभव वेदान्त के इस निष्कर्ष को खण्डित नहीं कर सकता कि संसार मिथ्या है। ब्रह्म-ज्ञान आजाने पर भी यह ऐसे ही रहेगा इसका कोई प्रमाण नही। श्रुति-प्रमाण भी संसार का नानात्व के अनुभव का खण्डन करता है।

इसके अलावा हमलोगों को कहना पड़ता है कि संसार मिथ्या है क्योंकि हम दृक (चेतना) और दृश्य (चेतना के विषय) के बीच कोई सम्बन्ध नहीं देखपाते। यह मानना पड़ता है कि चेतना का उसके विषय के साथ कुछ न कुछ सम्बन्ध होता होगा क्योंकि यदि ऐसा न होता तो किसी वस्तु का ज्ञान किसी समय हो सकता था चाहे उस वस्तु का चेतना से सम्बन्ध हो अथवा नहीं। लेकिन चेतना और उसके विषय (दृक् दृश्य) के बीच कोई सम्बन्ध सोच पाना सम्भव नहीं होता। क्योंकि यह न तो संयोग हो सकता है और समवाय; और इनसे भिन्न कोई सम्बन्ध हमलोग जानते नहीं। हम कहते अवश्य हैं कि वस्तुयें चेतना का विषय है, पर उसका अर्थ क्या होता है यह कहना कठिन है। विषय (दृश्य के रूप की व्याख्या में हम मीमांसा की यह बात नहीं मानपाते कि उसमें ज्ञातता नाम का कोई खास प्रभाव आजाता है क्योंकि ऐसे प्रभाव को हम नही देखते। प्रभाकर ने व्यावहारिक सफलता को विषय का गुण माना है। पर यह भी मानने में हमलोग अयोग्य हैं क्योंकि दुनियां में बहुत सी चीजें ऐसी हैं जो हमारी चेतना के विषय तो हैं पर व्यवहार मे उनका कोई उपयोग नहीं होता जैसे आकाश। दृश्यता को (विषय को हमलोग ज्ञान-कारण या चेतना का प्रेरक भी नहीं मान सकते क्योंकि ऐसी बात तो उन्हीं वस्तुओं के साथ सम्भव है जो देखने वाले के सामने उपस्थित हैं। उन वस्तुओं पर यह नही लागू होता जो भूत काल में आ चुकी हैं और उनकी चेतना हो रही है। क्यों कि जो वस्तु उपस्थित ही नहीं है वह प्रेरक कैसे हो सकती है। यह कहा जाय कि वस्तुयें चेतना पर अपनी आकृति बना देती हैं इसी को हम विषय कहते हैं तो यह भी मान्य नहीं है क्योंकि यह केवल प्रत्यक्ष के साथ सम्भव है, अनुमान पर लागू नहीं होता जहाँ चेतना का विषय बहुत दूर होता है और अपनी आकृति का आरोप चेतना पर नही कर सकता। अतः चेतना से अलग वस्तुओं को जिस रूप में भी सोचा जाय उसमें सफलता नहीं मिल पाती। हम पहले ही देख चुके हैं कि चेतना और उसके विषय के बीच कोई सम्बन्ध भी नहीं पाया जासकता। अतः यह मानना पड़ेगा कि ससार अन्ततोगत्वा मिथ्या है। दृक और दृश्य दोनों में एक ही सत्ता समान रूप से पाई जाती है। संसार के रूप केवल भ्रामिक सृष्टि हैं।

कभी-कभी आलोचक कहते हैं कि साधारण भ्रम में जैसे "यह सूर्य है", यह (इदम्) का वस्तु के रूप में ज्ञान बहुत सामान्य तथा अनिश्चित ढंग का होता है। क्योंकि

यह (इदम्) वस्तु के रूप में दिखलाई तो पड़ता है पर इसका विशेष गुण रस्सी तो नहीं दिखलाई पड़ता। इसीलिये भ्रम सम्भव होता है। लेकिन ब्रह्म (शुद्ध चेतना) में सामान्य अथवा विशेष किसी प्रकार के गुण नहीं पाये जाते। इसलिये यह भ्रम का आधार नहीं हो सकता। उत्तर में वेदान्त का कहना है कि जब ब्रह्म संसार रूपी भ्रम का अधिष्ठान होता है जो उसकी सामान्य सत्ता प्रदर्शित होती है पर उसकी विशेषता—शुद्ध और अनन्त आनन्द—कभी नहीं दिखलाई पड़ती। या यह यों कहा जा सकता है कि संसार का भ्रम इसलिये सम्भव होता है कि ब्रह्म अपने शुद्ध रूप में हम लोगों की वस्तु-चेतना में कभी नहीं दिखलाई पड़ता। जब हम कहते हैं : घड़ा है (घट: अस्ति) तो सत् अपने शुद्ध रूप में प्रकाशित नहीं होता, वह यहां घड़े के गुण के रूप में होता है और यही सब प्रकार के भ्रम में पाया जाता है। हमारे सभी अनुभवों में ब्रह्म का केवल सत् रूप विभिन्न वस्तुओं के सम्पर्क में प्रकाशित होता है। अत: ब्रह्म अपने शुद्ध रूप में नहीं मालूम होता। इसी कारण संसार रूपी भ्रम सम्भव होता है।

फिर कहा जाता है कि चूँकि संसार हमारे व्यवहार में ठीक कार्य करता है इसलिये इसे सत्य समझना चाहिये। लेकिन वेदान्त का उत्तर है कि भ्रामिक प्रत्यक्ष भी व्यवहार में खरा उतर सकता है। रस्सी में सर्प का भ्रामिक प्रत्यक्ष उसी डर को देता है जो सच्चा सर्प। स्वप्न में भी हम लोग प्रसन्न या उदास अनुभव करते हैं और कभी स्वप्न इतना खराब होता है कि वह मनुष्य के शारीरिक अंगों पर भी प्रभाव डालता है और वे काम नहीं करते। संसार के भ्रम की व्याख्या अनन्त काल से चलते आ रहे हमारे पिछले प्रभाव और वासनाओं से वैसे ही होती है जैसे हमारे स्वप्न की व्याख्या जाग्रित अवस्था के प्रभाव और वासनाओं से होती है। अपने अतीत जीवन में किये गये अच्छे या बुरे कर्मों तथा उसके संस्कारों के अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपने लिये विशेष प्रकार का सांसारिक अनुभव पाता है और एक आदमी के संस्कार दूसरे के भ्रम का कारण नहीं होते। पर संसार का भ्रम करो व्यक्तिगत नहीं है क्योंकि उसके अनुभव के पहले भी वह सत् के किसी अव्यक्त रूप में चल रहा था। इसलिये संसार व्यवहार में सत्य होते हुए भी परमार्थ दृष्टि से असत्य है।

फ़िर कभी-कभी आपत्ति उठाई जाती है कि भ्रम तो वहाँ होता है जहाँ अधिष्ठान में वस्तु विशेष कुछ साम्य होता है; वही भ्रामिक निरीक्षण के कारण एकसा लगता है। जैसे सर्प और रस्सी का उदाहरण लें तो सर्प और रस्सी में कुछ समानता है उसी के कारण भ्रम वश हम रस्सी को सर्प कह देते हैं। पर संसार और ब्रह्म के बीच कोई ऐसा साम्य नहीं है तो फिर भ्रम कैसे सम्भव है। वेदान्त का उत्तर है कि भ्रम के लिये दो वस्तुओं में साम्य आवश्यक शर्त नहीं है जैसे पित्त के प्रभाव से जबदृष्टि-दोष हो जाता तो सफेद संख पीला दिखलाई पड़ने लगता है। साम्य अतीत की स्मृति मस्तिष्क में ले आकर भ्रम पैदा करने में सहायक होता है; पर यह समृति हमलोगों के अदृष्ट के कारण भी मस्तिष्क में आसकती है। साधारण भ्रम में कुछ इन्द्रिय दोष आवश्यक हैं, पर सँसार का भ्रम अनादि है अत: अविद्या के अलावा और किसी दोष की आवश्यकता इसे नहीं होती। अविद्या अकेले इस भ्रम का कारण है। यहाँ अविद्या अकेला दोष

ग्रौर ब्रह्म ग्रकेला ग्रधिष्ठान है। यदि ग्रधिष्ठान के रूप में स्वप्रकाश ब्रह्म न होता तो यह भ्रामिक सृष्टि कभी प्रकट ही न होती। भ्रम का एक कारण है: ग्रधिष्ठान का सीधा पर ग्रनिश्चित प्रत्यक्ष। जहां ग्रधिष्ठान ग्रविद्या के ग्रावरण से ढका है वहां ग्रावरण को दूर करने तथा स्वप्रकाश ग्रधिष्ठान को प्रकट करने के लिये मानसिक ग्रवस्थाग्रों के साथ सम्बन्ध ग्रावश्यक है। ज्यों ही ग्रधिष्ठान-सत्-चित् ग्रानन्द ब्रह्म— पूर्णत: समझ में ग्राजाता है, भ्रम समाप्त हो जाता है। संसार के विलीन होने का कोई दूसरा ग्रर्थ नहीं सिवा स्वप्रकाश ब्रह्म के ज्ञान हो जाने के।

इस प्रकार हम पाते हैं कि ग्रद्वैत वेदान्त मत पूर्णत: तार्किक गठन से सुव्यवस्थित है। किसी भी ग्रापत्ति का उत्तर देना इस दृष्टि से ग्रासान है। मुख्य ग्रालोचना इसकी प्रारम्भिक मान्यता की हो सकती है। शंकर ने चरम सत्य ब्रह्म की व्याख्या करते हुए कहा है :—

> सर्वदा समैकरसम् अद्वैतम् अविक्रियम् अजम्
> अजरम् अमरम् अमृतम् अभयम् आत्मानतत्त्वं
> ब्रह्मैव स्मः—इत्येष सर्व वेदान्त निश्चितो
> ऽर्थ इत्येवं प्रतिपाद्यामहे।

(शांकर भाष्य—बृ०उ० ४।४।६)

यदि एक वार सत्य तत्व को सर्वदा समैकरसम् ग्रद्वैतम् ग्रविक्रियम् मानलिया जाता है तो जगत-मिथ्यातत्व उसका तार्किक पक्ष हो जाता है। तब उसे त्यागना सम्भव नहीं। हमारे बहुत से ग्राधुनिक भारतीय विद्वानों में जिनकी वेदान्त की ग्रोर रुचि है, यही दोष दिखलाई पड़ता है। वे शंकर के ब्रह्म को मानते हैं पर मायावाद को नहीं। इसी लिये उनके दर्शनों का सुदृढ़ तार्किक गठन नहीं हो पाया है।

योग

प्रहलाद नारायण खन्ना

महर्षि पतजंलि के मतानुसार योग का अर्थ है चित्त की वृत्तियों का निरोध करके स्वरुप में प्रतिष्ठित होना। योग है, योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:, तदा द्रष्टु: स्वरुपेवस्थानम् , भगवान श्री कृष्ण ने योग को **योग: कर्मसु कौशलं** कहा है अर्थात् कुशलता के साथ कर्म करना भी एक योग हैं। अब प्रश्न होता है कि कर्म की कुशलता किसे कहते हैं ? कर्म की कुशलता है अनासक्ति के साथ कर्म करना जिससे कर्म बांध न सके ।

योग के आठ मुख्य अंग हैं यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान, और समाधि ।

योग चार प्रकार से माना जाता है हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग, और राजयोग। यह योग चतुष्टय कहलाता है।

अब प्रश्न यह होता है कि यह हठ, लय, मन्त्र, राज योग है क्या ? योग के प्रथम आचार्य भगवान शंकर हैं ऐसा मत निर्विवाद है बाद में उन की कृपा प्रेरणा आदि से प्रेरित हो कर अनेक सन्तों महात्माओं आदि ने योग का प्रचार प्रसार किया।

नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक महात्मा मत्सेयेन्द्र नाथ तथा गोरखनाथ ने हठ योग का विशेष प्रचार किया, हठयोग का आधार मुख्य सात अंगों पर आधारित है यथा षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि ये हटयोग के सात अग हैं, इसमें भी षट्कर्म, जो अधिक प्रचलित है और साथ ही यह चमत्कार भी रखते है इस प्रकार है:—

धौती वस्ति, नेति, न्यौकिकी, त्राटक, कपाल भाति हैं इनका यदि सब का प्रथक २ वर्णन किया जाय तो लेख का कलेवर बहुत बढ़ जायगा। अब आसन आता है। यह हठयोग का दूसरा अंग है आसन की सिद्धि से मन स्थिर होता है क्रिया में शक्ति आती है आसन अनन्त हैं जितनी जीव योनियां है उतने ही आसन हैं पर इनमें से तैंतीस (३३) आसन इह लोक में मंगल कारक हैं और इनमें भी श्रेष्ट यह चार मुख्य हैं सिद्ध, पद्म, सिंह तथा भद्र यह योगियों द्वारा अधिक ग्राह्य हैं।

तृतीय अंग मुद्रा है, वास्तव में मुद्रा क्रिया विशेष प्रत्याहार तथा प्रणायाम में विशेष रूप से सहायक होती है, यह मुद्रायें भी पर्याप्त संख्या में हैं पर इन में भी इक्कीस मुद्रायें विशेष हैं जिनके नाम इस प्रकार है यथा :—

महामुद्रा, नमोमुद्रा, उड्डीयान, जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेधा

खेचरी' विपरीतकरिणी, योनिमुद्रा, वज्रोली, शक्तिचालिनी, ताड़नी, माण्डूकी, शाम्भवी, पंचधारणा, पाशिनी, काकी, मतंगी, और भुजंगिनी ।

इन मुद्राओं का पृथक २ विवेचन प्रकार गुणदोष आदि लिखने से एक प्रथक ग्रन्थ निर्माण होने की बात समझ आती है।

प्रत्याहार:— आहार संयम का नाम प्रत्याहार है अस्तु यहाँ प्रकरणार्थ के अनुसार इन्द्रियों को उनके रागद्वेशात्मक स्वाभाविक विषयों से विवेक द्वारा उपराम करके, उनका अयोग्य आहार बन्द करके, चित्त के आधीन करना प्रत्याहार कहलाता है । प्रत्याहार है इन्द्रियों की अत्यन्त वश्वता, मन की निर्मलता, तप की योग्यता, शरीर की योग्यता, और साधकसमाधिके योग्यहो जाता है ।

प्राणायाम :— यह उस क्रिया विशेष का नाम है जिसके द्वारा प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान पच प्राणों को नियन्त्रित करके मन को रोकने का अभ्यास किया जाता है, वैसे पूरक, कुम्भक, रेचक यह तीन क्रियाये करने पर प्राणायम की क्रिया सम्पन्न होती है, प्राणायाम में बहुत से भेद उपभेद क्रियाओं मे चलते हैं, सब का प्रथक २ अस्तित्व तथा गुण है यह बिना गुरू के कभी भी पुस्तक या सुन कर नही करने चाहिये ।

अब ध्यान की क्रिया आती हैं, ध्यान के अनेकों प्रकार है सतत तैल धारावत् अविच्छिन्न जब ध्येय वस्तु का जो उसे अभीष्ट हो ध्यान किया जाता है तब साधक की ध्यान में पूर्णता होती है ।

समाधि :— यह योग परा अवस्था है वास्तव में जब योगी समाधिनिष्ठ होने लगता है तब वह उस परमानन्द का भागी होता है जो किसी भी प्रकार से कथन में आने वाला नही है । समाधि भी दो प्रकार की होती है एक सविकल्प दूसरी निर्विकल्प एक ईश्वरोपसना के द्वारा ईश्वर की भक्ति से दूसरी निराकार ब्रह्म का ज्योति आदि का करके ।

उपर्युक्त प्रकार नाथ सम्प्रदाय के महान सन्त गोरख नाथ जी का है इसमें तथा महर्षि पतजंलि योग में कुछ भिन्नता प्रतीत होती है । गोरख नाथ आदि नाथ सम्प्रदाय के महात्माओं का विशेष आकर्षण हठ योग तथा मुद्राओं आदि पर रहा और इनके माध्यम से इन्होंने सिद्धि लाभ भी किया और चमत्कार भी किया ।

प्राचीन योगाचार्यों ने योग विभिन्न प्रकारों को अपना कर सिद्धि लाभ किया है पर गोरख नाथ सम्प्रदाय का विशेष आग्रह हठ योग पर रहा है और आज भी है, वैसे यह उचित भी है क्योंकि हठ योग की क्रियाओं से शरीर की शुद्धि तथा स्वस्थता के साथ साथ राजयोग के लिये योगी सक्षम हो जाता है । हठ योग राजयोगी को उसके मार्ग पर सतत अग्रसर रहने के लिये सहायक है पर यहाँ यह बात जानना परम आवश्यक है कि योगी किसी भी परिस्थित में योग से सहज प्राप्त होने वाली सिद्धियों के चक्र में न आये क्योंकि योगी योग के द्वारा उन अलौकिक सिद्धियों को सहज पा जाता है जो साधारणत: कल्पना में भी आना सम्भव नहीं है । योग गुरोपदिष्ट होने पर अत्यन्त सरल और मनमुखी प्रकार से करने पर यह घोर कष्ट प्रद भी हो जाता है । इस लिये साधक को सदैव सावधान रह कर उत्तम गुरु के द्वारा निर्देश पाकर ही इस मार्ग में आना चाहिये तभी उसे अभीष्ट की प्राप्ति होगी ।

*डा० रॉयस का धर्म-दर्शन

त्रिभुवन नाथ शरण

प्रयोजनवाद[1] अमरीका का राष्ट्रीय दर्शन है। अमरीका की वैज्ञानिक प्रगति मे प्रयोजनवाद का योगदान है। प्रयोजनवाद को जीवन दर्शन का रूप अमरीका के राष्ट्रीय दार्शनिक चार्ल्स पर्स, विलियम जेम्स तथा जॉन डीवी प्रभृति चिन्तकों ने दिया है। प्रयोजनवाद प्रतिक्रियावादी दर्शन है जिसका जन्म जर्मन दार्शनिक हीगल के बौद्धिक दर्शन के विरोध में हुआ। विवेक ज्ञान का एक मात्र साधन है, प्रयोजनवादी दार्शनिक नहीं मानते। दर्शन मानव जीवन के लिये उपयोगी हो यह प्रयोजनवाद का मुख्य उद्देश्य है। प्रयोजनवाद से व्यावहारिकता को प्रोत्साहन मिला परन्तु अध्यात्म उपेक्षित हो गया ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रयोजनवाद को भगवान बुद्ध के समान कर्त्तव्य को सिद्धान्त से महान मानता है। यह दृष्टि-कोण धर्म और नैतिकता के लिये सार्थक है।

हरवर्ड विश्वविद्यालय ने संसार को न केवल डा० विलियम जेम्स के ऐसा महान मनोवैज्ञानिक दार्शनिक तथा धर्मशास्त्री दिया वरन् उनके सहकर्मी डा० जोसिया रायस को सम्मानित किया है जो एक महान तार्किक तथा धार्मिक चिन्तक थे। खेद की बात है कि डा० रॉयस का स्थान विश्व के आदर्शवादी दार्शनिकों में उपेक्षित प्रतिभा के समान है। दार्शनिक काण्ट और हीगल के आदर्शवाद[2] के अध्ययन से हमलोग प्रायः इस प्रकार प्रभावित हो जाते हैं कि दूसरे आदर्शवादी चिन्तकों की ओर आकृष्ट नहीं होते। डा० रायस के धर्म-दर्शन का अधूरा ज्ञान इसी मनोवृत्ति का परिणाम है। इस निबन्ध में डा० रॉयस के धर्म-दर्शन की विशेषताओ की ओर संकेत करना मेरा उद्देश्य है।

डा० रॉयस के धर्म-दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता धार्मिक आदर्शों के प्रति आग्रह है इस सत्य की पुष्टि उनकी पहली पुस्तक 'The Religious Aspect of Philosophy' से होती है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपनी अन्य पुस्तकों के महत्व को सिद्ध किया है। धार्मिक रूढ़िवाद के वे कट्टर विरोधी थे। उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने धार्मिक विश्वास को सद्भाव से परखना चाहिए तथा उसके मूल्य को समझना चाहिए। डा० रॉयस के अनुसार धार्मिक विश्वास के प्रति स्वस्थ्य तथा निर्भीक आलोचनात्मक जिज्ञासा धर्म का अनादार नहीं वरन् समादर है।

---

*Dr. Josiah Royce [1] Pragmatism [2] Idealism.

धर्म के स्वरूप की व्याख्या करते हुए डा० रॉयस ने स्पष्ट किया है कि धर्म भावना के अतिरिक्त नैतिक कर्त्तव्य तथा अनुराग को जन्म देता है। धर्म के तीन पक्ष हैं: व्यावहारिक, संवेगात्मक तथा सैद्धान्तिक – अर्थात् धर्म नैतिक व्यवहारों को निर्धारित करता है, शुद्ध एवं सात्विक भावना को उत्पन्न करता है तथा विश्वास को स्थाई बनाता है।[1] धर्म नैतिक आदर्शों के अतिरिक्त अह्लाद* को उत्पन्न करता है जिसके परिणाम स्वरूप धर्म से मनुष्य को इतना रागात्मक सम्बन्ध हो जाता है कि धर्म ही उसका जीवन बन जाता है।

धर्म और दर्शन में घनिष्ट सम्बन्ध है। दर्शन धर्म की भ्रान्तियों को दूर करता है। डा० रॉयस के शब्दों मे "धर्म दर्शन की आलोचना का स्वागत करता है और दर्शन धार्मिक समस्याओं की अवहेलना नहीं कर सकता।"[2]इस संदर्भ मे डा० रॉयस काण्ट के दो महत्वपूर्ण प्रश्नों को प्रस्तुत करते हैं। मैं क्या जानता हूं? मुझे क्या करना चाहिए? पहला प्रश्न ज्ञानमीमांसा से सम्बन्ध रखता है और दूसरा नैतिक आदर्श से। इन प्रश्नों का सम्बन्ध प्रत्येक धर्म और दर्शन से है। डा० रॉयस के अनुसार धर्म-दर्शन आदर्श और मूल्यों का अन्वेषण है। मानवजीवन की सार्थकता तथा उद्देश्य धर्म-दर्शन के अध्ययन से जाना जा सकता है।

धर्म दर्शन की व्यावहारिक उपयोगिता स्पष्ट करते हुए डा० रॉयस ने कहा है कि कि हमारे समाज मे ऐसे अनेक नर-नारी है जो निर्धन और असहाय हैं, पीड़ित और शोषित है; जिनके लिये जीवन नैराश्यमय हो गया है। वे धार्मिक सान्त्वना की खोज में है जो उन्हे शोक में डूबने से बचाय और जीवन का आशामय मार्ग दर्शन करे[3] धर्म-दर्शन जीवन-ज्योति को प्रज्वलित रखता है। आपदा से व्यथित व्यक्ति को पराजय स्वीकार नही करने देता वरन् कर्त्तव्य की शिक्षा देता है और ईश्वर मे आस्था बढ़ाता है।

डा० रॉयस को दार्शनिक ह्यूम के संशयवाद ने प्रभावित किया था। संशय ज्ञान की प्रेरणा है।[4] संशय सत्य का अन्वेषण करता है। धर्म के प्रति संशय उत्पन्न करना धार्मिक अपराध है यह मध्ययुग का आदर्श था। डा० रॉयस संशय को अपनी दार्शनिक विधि मानते थे परन्तु ह्यूम के दार्शनिक निष्कर्षों को नही मानते थे। ईश्वर के अस्तित्व मे डा० रॉयस को प्रगाढ़ विश्वास था और उन्होंने अपने धर्म-दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये बीसवी सदी की जनता को तार्किक प्रमाण दिया है।

डा० रॉयस दर्शन के अध्ययन के लिये जर्मनी गये थे जो यूरोप मे दर्शन का केन्द्र माना जाता था। छात्र रूप में उन्होने दार्शनिक लॉटजे के भाषण को सुना और जर्मन भाषा का अध्ययन किया। डा० रॉयस के धर्म-दर्शन काण्ट और हीगल के दर्शन प्रभावित किया है। इसका संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। दार्शनिक काण्ट

---

[1] The Religious Aspect of Philosophy-page 3, 4
* Enthusiasm
[2] R.A.S. page 8
[3] R.A.S. page 7
[4] Scepticism.

अनुभववादी[1] और बुद्धिवादी[2] दर्शन में समझौता लाने के प्रयास में शंकराचार्य के के समान दृश्यजगत्[3] और अदृश्यजगत्[4] के उलझन में फंस गये। इतनाही नहीं अदृश्य-जगत को अज्ञात और अज्ञेय कहने में वे हिचके नहीं। परन्तु दृश्य और अदृश्यजगत के विरोध से उत्पन्न परिस्थितियों से काण्ट का हृदय सहमत नहीं था। इसका संकेत "Critique of practical reason" से मिलता है। काण्ट का दार्शनिक "Critique of pure reason" से संतोष अनुभव करता था यह शंका का विषय हैं। काण्ट नैतिक नियमों का सम्बन्ध आत्मानुभूति से मानते थे और उनके सर्वाधिक अनिवार्यता को स्वीकार करते थे। इसके अतिरिक्त विश्व की आध्यात्मिक व्यवस्था को काण्ट प्रकारान्तर से मानते थे। परन्तु काण्ट का दर्शन सैद्धान्तिक रूप से ईश्वरवादी नहीं है। डा० रॉयस आस्तिक चिन्तक थे और ईश्वर के महत्व को मानते थे। अतः काण्ट की समस्याओं का समाधान डा० रॉयस के दर्शन का मुख्य विषय बन गया।

इसी प्रकार दार्शनिक हीगल तत्वमीमांसा तथा तर्कशास्त्र के विरोध को दूर करना चाहते थे। वे काण्ट के दर्शन की त्रुटियों से परिचित थे। इसलिये उन्होंने सत्य को विवेकपूर्ण माना और सृष्टि को विकासवादी माना। विकास प्रक्रिया में प्रत्येक नवीन अवस्था पुरातन अवस्था से उत्पन्न होती है और यह क्रम स्थायी रूप से चलता रहता है। सृष्टि का विधान ब्रह्म* के निरन्तर पृथक करण और लयमान होने का मधुर रूपक है। ब्रह्म की सृजनात्मक बुद्धि को हीगल ईश्वर की संज्ञा देते हैं और सम्पूर्ण सृष्टि विधान को आध्यात्मिक मानते हैं। ईश्वर का अस्तित्व सृष्टि पर निर्भर और ईश्वर को आत्मचेतना सृष्टि से मिलती है। सृष्टि की अनुपस्थिति में ईश्वर चेतनाशून्य रहता है। स्पष्ट है कि ईश्वर को निजी कोई व्यक्तित्व नहीं हैं। यह व्याख्या धार्मिक आस्था को प्रोत्साहित नहीं करती है। डा० रॉयस ईश्वर के व्यक्तित्व के समर्थक थे। इसलिये उन्होने तत्वमीमांसा के ब्रह्म और धर्म-दर्शन के ईश्वर को समान माना है।

डा० रॉयस अपने सहकर्मी डा० विलियमजेम्स के प्रयोजनवाद से भी प्रभावित थे। प्रयोजनवाद ज्ञान का मूल्यांकन जैविक उपयोगिता को ध्यान में रखकर करता है। मनुष्य की इच्छा (will) का स्थान उसके प्रत्येक मनोदैहिक प्रक्रिया में है। डा० रॉयस के अनुसार सत्य का ज्ञान विवेक के अतिरिक्त संवेग भावना तथा इच्छा (will) से भी हो सकता है। सत्य के स्वरूप में (will) इच्छा भी उपस्थित है जिस की प्रेरणा से सृष्टि का उद्भव विकास होता है। ऐसा विश्वास डा० रॉयस के अतिरिक्त फिक्टे, शेलिङ्ग, बर्गसा और सोपेनहॉवर आदि द्वारा दार्शनिकों का भी है। विश्व

---

[1] Empiricism.

[2] Rationalism.

[3] Phenomena.

[4] Noumena.

* Absolute

सूक्ष्म भावना (Abstract Idea) का प्रतिबिम्ब है ऐसा डा० रॉयस नहीं मानते। विश्व स्थूल जीवधारियों का निवास स्थान है और उनके लिये विश्व सत्य है न कि मिथ्या। मानव व्यक्तित्व का मूल्य ब्रह्म के सदृश है इसे सिद्ध करने के लिये डा० रॉयस ने "World and the Individual" नामक पुस्तक लिखी जिसकी प्रसिद्धि दर्शन साहित्य में मानी जाती है।

डा रॉयस का धर्म-दर्शन भारत के ईश्वरवादी रामानुजाचार्य के धर्म-दर्शन से समानता रखता है। भारत का लोक प्रिय धर्म-दर्शन रामानुज के ईश्वरवाद से प्रभावित है। निराकार, सज्ञा-नाम-रूप से रहित शंकराचार्य का ब्रह्म जनता की आराधना का विषय नहीं बन सका। रामानुज तार्किक होते हुए भी ईश्वर के लोकरंजक स्वरूप के महत्व को जानते थे। इसलिये उन्होने अद्वैत का उपदेश न देकर विशिष्टाद्वैत की शिक्षा दी। ईश्वर व्यक्तित्वधारी है और अपनी इच्छा से सृष्टि करता है यह न केवल रामानुज का मत है, भारत की अधिकाँश जनता इस सिद्धान्त को मानती है। डा० रॉयस ब्रह्मवादी चिन्तक होते हुए भी ईश्वर के व्यक्तित्व मे विश्वास रखते थे, विद्वानों ने उनके धर्म-दर्शन को व्यक्तिवादी ब्रह्मवाद❀ की संज्ञा दी है।

डा० रॉयस ने अनुदारता का दर्शन* विश्व को दिया है जिसमें सम्पूर्ण मानव समाज के कल्याण की कल्पना है। डा० रॉयस बीसवाँ शताब्दी के एक महान धार्मिक दार्शनिक ही नहीं एक महान भविष्य द्रष्टा भी थे।

❀ Personalistic Absoloutism.

* Philosophy of Loyalty.

पाश्चात्य दर्शन के ऐतिहासिक निष्कर्ष

नारायण विष्णु जोशी

दार्शनिक समस्याओं को सुलझाने में सत्तात्मक दृष्टिकोण को ही महत्व देना चाहिये। इस बात को भूल कर जब हम ज्ञान की विविध पद्धतियों द्वारा सत्ता को आकलन करने का प्रयत्न करने का प्रयत्न करने लगते है तब केवल घोर निराशा ही हमारे पल्ले पड़ती है। गतांक में आधुनिक दर्शन के जनक देकार्त के दार्शनिक विचारों का विश्लेषण करके हम इसी निष्कर्ष पर आ पहुँचे थे। देकार्त ने तो नि:संदिग्ध रूप से दर्शनशास्त्र के लिए भूमिति की निगमन पद्धति की ही सिफारिश की थी। किन्तु इसका परिणाम यही हुआ कि स्वय देकार्त के दशन में दो द्वैतों का प्रादुर्भाव हुआ। कम से कम इस दोष को जान लेने के पश्चात् उसके अनुयायियों को भूमितीय पद्धति को छोड़कर किसी अन्य पद्धति का अवलम्ब करना आवश्यक था। किन्तु इन्होंने इस बात की ओर ठीक से ध्यान नही दिया। इसका परिणाम वही हुआ कि जिसका अनुभव हम देकार्त के दर्शन में कर चुके है। देकार्त के अनेक अनुयायियों में से स्पिनोझा तथा लायिब्नत्स् की बौद्धिक प्रतिभा के विषय में किसी को संदेह नहीं हो सकता। किन्तु अपनी सारी प्रगल्भता तथा बौद्धिक सामर्थ्य क बावजूद भी इन दोनों विचारकों की दार्शनिक प्रणालियां आंतरिक असंगतियों के कारण छिन्न विच्छिन्न हो गईं। इस विध्वंसमय दृश्य को देख क्षण भर हमारी आत्मा दहल जाती है और वह यह प्रश्न पूछने पर उतारू हो जाती हे कि आखिरकार यह ऐसा क्यों हुआ ?

स्पिनोझा के प्रमुख ग्रन्थ का नाम है Ethics अर्थात् नीतिशास्त्र। यह शीर्षक इसलिये पसन्द किया गया कि इस ग्रन्थ में स्पिनोझा का मुख्य उद्देश्य था नैतिक मूल्यों की व्याख्या करना। सम्यक् विचार करने पर उसको यह लगा कि नैतिक मूल्य की व्याख्या करने के लिये सर्वप्रथम दार्शनिक आधार की नितान्त आवश्यकता है। अतएव अपने नीतिशास्त्र में नैतिक मूल्य की चर्चा को गौण बनाकर स्पिनोझा ने दार्शनिक विचारों को ही प्रधानता दी।

अपने ग्रन्थ की बाह्य रचना में भी स्पिनोझा में यूक्लीड के भूमिति विषयक ग्रन्थ का आदर्श अपने सामने रक्खा। जिस प्रकार यूक्लीड के ग्रन्थ का प्रारम्भ कतिपय सुस्पष्ट एवं स्वयंप्रकाश मान्यताओं से होकर फिर उनमे से वह निगमन तर्क पद्धति के द्वारा अनेक सिद्धान्तों को निकालता है और उनकी सत्यता को सप्रमाण सिद्ध करके बताता है; तत्पश्चात् इन सिद्धान्तों के अंगभूत अनेक उपसिद्धान्त भी हमारे सामने उपस्थित करता है; ठीक उसी प्रकार स्पिनोझा ने भी कुछ विशिष्ट मान्यताओं से प्रारम्भ कर उनमें से अनेक सिद्धान्तो को निकालने का प्रयत्न किया है। इन सिद्धान्तो के द्वारा उसने कई उपसिद्धान्त निकालने की भी कोशिश की है। अपने ग्रन्थ की इस बाह्य रचना में स्पिनोझा के अंतस्थ हेतु की हमें स्पष्ट प्रतीति होती है। वह यह कि देकार्त ही के अनुसार स्पिनोझा की भी यही दृढ़ धारणा है कि दर्शनशास्त्र की समस्याओं को सुलझाने के लिये नैगमनिक पद्धति ही एकमात्र पद्धति हो सकती है। इससे एक बात तो एकदम स्पष्ट है कि स्पिनोझा ने दर्शन शास्त्र को ज्ञानमीमांसा को ज्ञानमीमाँसा का आश्रित बनाकर उसी के आधार पर दर्शनशास्त्र की गतिविधि का नियंत्रण करना उचित मान लिया।

स्पिनोझा के दर्शन का मूल तत्त्व है अपरिमित द्रव्य (Infinite Substance)। स्पिनोझा के अनुसार अनेक द्रव्यों की कल्पना असंगत है। क्योंकि ऐसे द्रव्य संबद्ध होकर एक दूसरे को परिमित बना लेते हैं। यदि द्रव्य परिमित हो तो वह स्वयंभू नहीं हो सकता। अत: स्पिनोझा ने अनेक द्रव्यों की कल्पना को त्याग कर एकमात्र अपरिमित व्य को ही अपने दर्शन का मूलाधार माना है। उसकी परिभाषा स्पिनोझा ने इस प्रकार की है : अपरिमित द्रव्य वह है जो कि स्वयंसिद्ध हो तथा जिसकी परिकल्पना सर्वथा आत्मनिर्भर हो अर्थात् जिसके लिए किसी अन्य परिकल्पना की आवश्यकता न हो। इसी अपरिमित द्रव्य को स्पिनोझा कभी ईश्वर तो कभी प्रकृति कहता है। यह द्रव्य अनंत एवं परिपूर्ण है। स्पिनोझा ने उसे स्वयंभू (Causa Sui) एवं जगत्कारण (Causa Omnium Serum) भी माना है।

अपरिमित द्रव्य एक है। यहां तक तो बात ठीक है। किन्तु इस एक से अनेक की संभावना किस प्रकार हुई ? इस जटिल समस्या को हल करने के लिये स्पिनोझा कई युक्ति-प्रयुक्तियों का आश्रय लेता है। सर्वप्रथम, वह यह कहता है कि द्रव्य अपने आप में गुणों का आधार होता है। यदि द्रव्य अपरिमित हो तो यह मानी हुई बात है कि उसके गुण भी अपरिमित होगे। गुण की परिभाषा इस प्रकार से की गई है: गुण वह है जिसे हमारी बुद्धि द्रव्य का सार मानती हो। यद्यपि ऐसे गुण अपरिमित हों, तब भी हमारी बुद्धि उनमें से केवल दो गुणों का ही आकलन कर सकती है वे दो गुण है: मन (Mind) और शरीर (Body)। इनमें से प्रत्येक गुण स्वतन्त्र है। चूँकि प्रत्येक गुण अपरिमित द्रव्य का सार अपने ढंग से प्रस्तुत करता है अत: वह अपने आप में अपरिमित होता है।

प्रश्न है: क्या गुण सिद्धान्त के द्वारा एक और अनेक की समस्या का समाधान-

कारक दन हो सकता है ? निम्नांकित बातों से इस सिद्धान्त की हमारी कमजोरी हमारी समझ में आ सकेगी:—

(१) गुण सिद्धान्त स्वाश्रय हेत्वाभास से (petitio principii) दूषित है। जिस बात को हम सिद्ध करना चाहते हैं उसको स्पिनोझा पहले ही से मान लेता है। अपरिमित द्रव्य में गुणों की विविधता का कारण हमारी बुद्धि है। हमारी बुद्धि तो परिमित जगत् का अंशमात्र है। अत: सम्पूर्ण सत्य का एक साथ आकलन करना उसके सामर्थ्य के बाहर है। पूर्ण सत्य को उसे अंशत: आकलन करना पड़ता है। यही कारण है कि अनेक गुणों के आंशिक ज्ञान के द्वारा वह अपरिमित द्रव्य को पहचानने की कोशिश करती है। परन्तु इसका अर्थ तो यही हुआ कि अपरिमित द्रव्य में अपनी इकाई से अनेकता निर्माण करने की शक्ति नहीं है। उसमें आत्मविच्छेदक शक्ति का सम्पूर्ण अभाव है। गुणों की अनेकता अपरिमित द्रव्य की सृष्टि नहीं है। वह तो हमारी बुद्धि की उपज है। इस प्रकार गुणों की व्याख्या करने में परिमित बुद्धि का अस्तित्व पहले ही से मान लेना स्वाश्रय हेत्वाभास का लक्षण है।

(२) दूसरे, स्पिनोझा यह कहता हैं कि अपरिमित द्रव्य में अपरिमित गुण होते हैं। यहां "अपरिमित" शब्द का दो अर्थों में प्रयोग हुआ है। एक अपरिमित वह है जो कि किसी स्वयंभू अथवा स्वयंसिद्ध तत्त्व का लक्षण होता है। इस प्रकार का तत्त्व स्वतन्त्र होने के नाते किसी अन्य कल्पना से परिमित नहीं है। किन्तु जब स्पिनोझा यह कहता है कि अपरिमित द्रव्य के गुण अपरिमित होते हैं तब उसका अभिप्राय यह है कि गुण असंख्य हैं। संख्याहीनता को वास्तविक अर्थ में अनन्त अथवा अपरिमित कहना गलत है। क्योंकि इस प्रकार की अनन्तता केवल आभास हैं, वास्तविक नहीं। चूंकि हम किसी वस्तुजात की परिगणना करने में असमर्थ हैं इसलिये वह अपरिमित नहीं बन जाता।

उपर्युक्त दोनों बातों के कारण स्पिनोझा के गुण सिद्धान्त की सदोषता स्पष्ट हो जाती है। सम्भवत: यह जानकर ही स्पिनोझा ने यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि प्रत्येक गुण विकारी होता है। जिस प्रकार आवर्त, तरंग, बुद्बुद् इत्यादि एक ही जल के देश काल परिस्थिति के अनुरूप विभिन्न विकार होते हैं। उसी प्रकार एक ही मन तथा एक ही शरीर विभिन्न परिस्थितियों में अपना रूप बदल देते हैं। इन्हीं बदले हुये रूपों को स्पिनोझा विकार (modes) कहता है। प्रत्येक व्यक्ति का मन तथा शरीर भिन्न होता है। इसका अर्थ यही है कि वह एक ही मन तथा एक ही शरीर का देश काल परिस्थिति के अनुरूप बदला हुआ रूप अथवा विकार मात्र है।

विकार की परिभाषा इस प्रकार है: विकार वे हैं जो द्रव्य के बदले हुए रूप हैं अथवा वे कि जिनके अस्तित्व का आधार अपने आप में नहीं होता बल्कि किसी अन्य वस्तु में पाया जाता है। जग की विविधता अपरिमित द्रव्य के विकारों से बनी हैं। उसका उपादान कारण ईश्वर है। वस्तुजात तो केवल कार्य है।

ईश्वर तथा जगत् के बीच कारण कार्य का सम्बन्ध प्रस्थापित करके स्पिनोझा "एक और अनेक" की समस्या सुलझाने का दूसरा प्रयत्न किया है। विचार करने के उपरान्त पता चलेगा कि स्पिनोझा का यह प्रयत्न भी विफल है। कारण कार्य

सम्बन्ध की कल्पना दो प्रकार से की जा सकती है। एक मे कार्य की उत्पत्ति के पश्चात् कारण का नाश हो जाता है; यथा अंकुर फूटने के बाद बीज का नाश हो जाता है। दूसरी कल्पना में कारण और कार्य का सहास्तित्व अभिप्रेत है; यथा एक गेंद का दूसरे गेंद पर आघात करना। ईश्वर और जगत् के सम्बन्ध की कल्पना इन दोनों प्रकारों से कदापि नहीं की जा सकती। पहले प्रकार में जगत् की सृष्टि करने मे ईश्वर के नाश का भय है। दूसरे मे ईश्वर और जगत् एक साथ कधे से कंधा मिलाकर खड़े रहते हैं। ऐसी अवस्था में जगत् के ईश्वर के द्वारा निर्माण करने का प्रश्न ही नही उठता। अतएव कारण कार्य की परिकल्पना के द्वारा ईश्वर तथा जगत् की व्याख्या करना सर्वथा अनुचित है। पुन: कारण कार्य सम्बन्ध तो परिमित वस्तुओं के बीच ही प्रस्थापित किये जा सकते हैं न कि परिमित एव अपरिमित वस्तुओ के बीच। तर्कशास्त्र की दृष्टि से इन दोनों वस्तुओं की प्रकृति परस्पर विरोधी है।

विकारों के विषय में अपनी अंतिम राय प्रकट करते हुए स्पिनोझा अपनी विकारों की परिभाषा का प्रतिवाद करते हुये दिखाई देता है। उसका कहना है कि विकार अंशत: आभासमय यानी निषेधात्मक होते है (ex parte negatio)। प्रत्येक वस्तु में आत्मरक्षा की प्रवृत्ति (conatus) होती है। जिस कारण वह अपना अस्तित्व स्वतन्त्ररूप से बनाये रखती है यदि यह सच हो तो फिर यह कहना कि विकार सर्वथा पराधीन होते हैं वदतोव्याघात होगा। यदि यह कहा जाय कि जगत् आभास मात्र है तो यह बात भी तर्क संगत नहीं है। क्योंकि आभास के अस्तित्व का भी परम सत्य में कोई कारण होना चाहिए। सारे वस्तुजगत को आभासमय मान लेने के पश्चात् भी इस आभास का अस्तित्व क्यो करे है यह प्रश्न तो तब भी बाकी रह जाता है।

इस प्रकार हम यह देखते है कि स्पिनोझा के दर्शन में महारोग से परास्त रोगी के शरीर की तरह जगह जगह असंगतियां फूट पड़ती हैं। परम तत्त्व एक है यह मान लेने पर भी उसमें से अनेकता की उपलब्धि करना अपनी बुद्धि का सारा सामर्थ्य खर्च करने पर भी स्पिनोझा के लिये प्राय: असम्भव हो गया। इसका क्या कारण है? इसकी एक मात्र मीमाँसा यही है कि स्पिनोझा ने दार्शनिक समस्या को हल करने के लिये बुद्धि का आश्रय लिया। बुद्धि के द्वारा हमारा ज्ञान तो अवश्य सुसंगत हो जाता है। किन्तु ज्ञान की एकता समन्वयात्मक (Synthetic) होती है, सृजनशील (creative) नहीं। समन्वय करते समय जिन घटकों को हम एकत्र करते हैं उनकी हम सृष्टि नही करते। उनके अस्तित्व को हम पहले ही से मान लेते हैं। किन्तु दार्शनिक समस्या के हल में इससे बड़ी भारी बाधा उपस्थित हो जाती है। यदि परमतत्त्व के साथ साथ जगत के अस्तित्व को भी हम मान लें तो एक एवं अनेक, ईश्वर एवं जगत् दो विभिन्न संज्ञाओं के रूप में हमारे सामने उपस्थित हो जायेंगे और अंत में हम द्वैतवाद के चक्कर में फंस जायेंगे।

स्पिनोझा के दर्शन के जैसी ही दुर्दशा उसके परवर्ती महादार्शनिक लायाब्निस के दर्शन की भी हुई। इस वृतान्त को अगले अंक मे हम अपने पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करेंगे।

क्रमश:

मन:प्रयय

भीखन लाल आत्रेय

प्राचीन काल से ही मनुष्य यह मानता आ रहा है कि इस भौतिक शरीर के अतिरिक्त उसके व्यक्तित्व में कोई और भी मानसिक और आध्यात्मिक तत्व—मन और आत्मा जैसे हैं और उनकी ज्ञान और क्रिया की शक्तियां शरीर की शक्तियों से कहीं अधिक हैं। भारत के प्राचीन ऋषियों और योगियों ने अपने ज्ञान और अभ्यास द्वारा इस सिद्धान्त का प्रतिपादन और पुष्टि की थी। आत्मा, मन, बुद्धि, प्रज्ञा, योगजन्य ज्ञान और क्रिया की अनेक अद्भुत शक्तियां और सिद्धियां प्रायः सर्वमान्य थीं। इस विचार को भौतिक विज्ञान के उदय और विकास ने बहुत क्षति पहुंचाई है। १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के अन्त तक सभ्य मानव जाति प्रायः भौतिकवादी हो गई थी। भौतिक जगत् और भौतिक शरीर और उसकी ज्ञान और क्रिया की देश और काल में सीमित शक्तियों के अतिरिक्त मनुष्य तथा संसार में कोई दूसरा तत्व नहीं है। किन्तु पाश्चात्य सभ्य और विज्ञान निर्भर देशों में १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कुछ ऐसी घटनायें और तत्सम्बन्धी खोजें हुईं जिन्होंने कुछ वैज्ञानिकों का संसार की भौतिकता मात्र में से विश्वास उड़ा दिया। पहिले तो छुट-पुट अद्भुत घटनायें और उनकी वैयक्तिक खोजें हुईं फिर १८८२ में इंगलैंड में वैज्ञानिकों की एक ऐसी परिषद् Society for Psychical Research का निर्माण हुआ जिसका विशेष कार्य उन अद्भुत घटनाओं और मानवी शक्तियों का आधुनिक वैज्ञानिक रीति से निरपेक्ष भाव से सत्यान्वेषण के उद्देश्य से ही अध्ययन करना था। १८८२ से लेकर आज तक यह परिषद् और इसकी विभिन्न देशों में स्थित शाखायें तथा सहायक और समान उद्देश्य वाली परिषदों ने इस क्षेत्र में बहुत सी खोजें की हैं जो मानव के स्वरूप और निहित और सम्भावित शक्तियों के ऊपर बहुत प्रकाश डालती हैं। विज्ञान की जो शाखा इस प्रकार के विषयों की खोज करती है पहिले उसका नाम था Psychical Research (आध्यात्मिक खोज) था अब उसका नाम है पैरासाइकोलोजी अर्थात् परामनोविद्या। मानव मन और आत्मा की अनेक अद्भुत और विज्ञान द्वारा प्रतिपादित और सिद्ध शक्तियों में एक का

आकाशवाणी द्वारा प्रसारित लेख।

नाम अंग्रेजी में (Telepathy) है। इस शब्द को एक महान खोजक एफ० डब्ल्यू० एच० मायर्स ने निर्माण किया था। इसका अर्थ है बिना ज्ञात शारीरिक और ऐन्द्रिक साधनों को प्रयोग में लाये हुये केवल मन द्वारा ही दूसरे व्यक्ति के मन में आये हुये विचारों, भावनाओं, इच्छाओं और ज्ञानों को साक्षात् जान लेना। इस प्रकार के ज्ञान को प्राचीन जैन दर्शन में "मन:प्रयय" कहा गया है और योग साहित्य ने उसका "परिचित्त ज्ञान" कहा है।

परामनोविद्या विशारद इस निर्णय पर कि मनमें और अनेक शक्तियों के अतिरिक्त मन:प्रयय या परिचित्त ज्ञान की अद्भुत ज्ञान शक्ति है बहुत से निरीक्षणों, प्रयोगो और अनुभवों द्वारा पहुँचे हैं।

मन:प्रयय इंगलैंड के एक महाविद्वान मनोवैज्ञानिक मैकड्यूगल ने लिखा है "मेरे मत में दूयनुभूति टेलीपेथी केलिये बहुत प्रमाण है और मैं यह भी कह सकता हूँ कि भविष्य में यह और अधिक प्रमाणित हो जायेगी"। जर्मनी के विद्वान दार्शनिक हैन्स ड्रीश ने लिखा है "टेलीपैथी निश्चित घटना है। मनोविश्लेषण के जन्मदाता डा० सिगमण्ड फ्रायड ने भी मन:प्रयय को माना है। फ्रांस के वैज्ञानिक प्रोफेसर ऋषे ने भी इस अद्भुत शक्ति को मनुष्य जीवन में व्याप्त माना है। डा० रहाइन, जिन्होने ड्यूक विश्व-विद्यालय में बहुत से प्रयोग किये हैं, दिव्य दृष्टि, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के अलावा मन:प्रयय को भी अनेक मनुष्यों मे पाया है। आजकल तो मन:प्रयय की शक्ति को जीवन की बहुत सी अलौकिक घटनाओं को समझाने मे काफी मदद देने वाली पूर्वकल्पना समझी जाती है।

मन: प्रयय के प्रयोग भूमण्डल के प्राय: सभी सभ्य देशों में किये गये हैं और बहुत विश्वस्त प्रसिद्ध और महान व्यक्तियों द्वारा किये गये हैं। इन प्रयोगों में दो व्यक्तियों के बीच मन:प्रयय का सम्बन्ध निर्धारित किया जाता है। उनमें से एक को प्रेषक (भेजने वाला) दूसरे को प्रापक (प्राप्त करने वाला) कहते हैं। प्रेषक अपने मनमें कुछ प्रत्यय लिया करता है वे चाहे किसी विषय के हों, और उनको कागज पर नोट कर लेता है। ठीक उसी पूर्वनिर्धारित समय पर प्रापक अपने ध्यान में जो प्रत्यय आता है लिख लेता है। इस प्रकार बहुत बार ऐसा करने पर प्रयोग के दोनों ओर लिखित प्रत्ययों का मिलान करता है और देखता है कि कितने प्रत्यय प्रापक और प्रेषक के, वही या बहुत समान हैं। इस प्रकार के हजारों और लाखों निरीक्षणों और प्रयोगों का साँख्यकी के द्वारा निर्णय किया जाता है। इस प्रकार के प्रयोग दो व्यक्तियो को एक ही मेज पर बैठाकर बीच में लकड़ी का परदा लगाकर, एक ही कमरे में दूर-दूर बैठाकर, दो कमरों में अलग अलग बैठाकर, दो मकानो में बैठाकर, दो शहरों में, दो प्रान्तों में, दो देशों में, और दो द्वीपों में जिनके बीच जंगल, पहाड़ और समुद्र तक आते हैं, किये गये हैं। प्रयोगको का निर्णीत मत यह स्थिर हो गया है कि एक मन का दूसरे मन से साक्षात् सम्बन्ध है और और उनमें परस्पर विचार संक्रमण होता हैं। इस विचार सकमण में दूरी का कोई असर नहीं होता किसी भी दूरी पर स्थित प्रेषक और प्रापक के बीच यह सम्बन्ध हो सकता है।

यह तो हुई प्रयोगों की बात। वैसे स्वत: ही दो किन्हीं मनो के बीच आप से आप ही परस्पर प्रेम, साहानुभूति या जीवन की कुछ आकस्मिक आवश्यकताओ के कारण

यह विचार, भावना, प्रत्यय आदि का संक्रमण होता रहता है जिसका दोनों में से किसी को भी भान या ज्ञान नहीं होता। दो मित्र अकस्मात् एक दूसरे को एक समय पर ही याद करके पत्र लिखते हैं और वे पत्र एक दूसरे को क्रास (पार) कर जाते हैं। ऐसा जान पड़ता है सब मनों का पारस्परिक सम्बन्ध होता रहता है—बहुधा अज्ञात रूप से कभी-कभी ऐसा होता है कि एक ही विचार बहुत से विचारकों के मनमें उठ जाता है। और कोई भी विचार सर्वथा गुप्त और एक ही विचारक की सम्पत्ति नहीं रहता।

प्रयोगकों का यह अनुभव है कि विचार संक्रमण मन के ज्ञात स्तर पर उतना नहीं होता जितना कि अज्ञात स्तर पर हुआ करता है। कुछ वैज्ञानिकों का तो यहाँ तक ख्याल है कि विचार संक्रमण सम्बन्ध इस लोक में रहने वाले मनुष्यों में ही नहीं है वरन परलोक गत मृत प्राणियों, जो कहीं पर यहाँ की मृत्यु के पश्चात् रहते हैं. और जीवित मनुष्यों में भी होता है। पशु पक्षियों में भी यह सम्बन्ध पाया जाता है। वे भी अपनी इच्छाओं, आवश्यकताओं और भावनाओं को एक दूसरे पर प्रकट करने की सामर्थ्य रखते हैं।

इस विषय पर बहुत चर्चा हुई है कि क्या मन:प्रयय भौतिक मस्तिष्कों की विद्युत् लहरों द्वारा होता है अथवा भौतिक मस्तिष्क के अतिरिक्त किसी अभौतिक पदार्थ, जिसे मन या आत्मा कहते हैं उसकी किसी विशेष शक्ति द्वारा होता है। खूब विचार और ऊहापोह करने पर यही निश्चित हुआ है कि मन:प्रयय एक भौतिक घटना नहीं है क्योंकि इस के ऊपर दूरी का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, ठीक उतने ही समय में अर्थात् उसी क्षण थोड़ी और अधिक दूरी पर मन:प्रयय होता है इसके लिये रेडियो की लहरो के प्रेषण की नाईं बहुत प्रकार का कोई भौतिक आडम्बर नहीं करना पड़ता और यह संक्रमण विशेष व्यक्ति के प्रति ही होता है। प्रत्येक व्यक्ति उस विचार को नहीं पकड़ सकता जो किसी विशेष व्यक्ति के लिये ही भेजा जाता है। भौतिक शाब्दिक लहरों के प्रेषण के नियम इस पर लागू नहीं होते है।

मन:प्रयय या टेलीपैथी की खोज से यह तो निश्चित हो गया है कि मनुष्य के मन में उसके शरीर की सामर्थ्य और सीमित शक्तियों पर निर्भर न रहकर स्वतन्त्र ज्ञानात्मक, अनुभवात्मक और क्रियात्मक कामों को करने की शक्ति है। और यदि यह सत्य है तो मन और आत्मा का शरीर निरपेक्षक अस्तित्व भी सिद्ध हो जाता है।

जैन साधुओं की नग्नता

बिमल चन्द्र जैन

जैन समाज में गृहस्थ जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति वस्त्र धारण करते हैं। जैसे जैसे वह वानप्रस्थ अवस्था की तरफ अग्रसर होते जाते है शनैः शनैः वस्त्रों का परित्याग प्रारम्भ कर देते हैं। इसका अंतिम रूप गृहस्थाश्रिमों की ग्यारहवीं अवस्था में परिलक्षित होना हैं। जिस समय उनके पास केवल एक लगोटी ही शेष रह जाती है। लेकिन संतों का जीवन इससे उच्च पथ पर आधारित हैं। दिगम्बर समाज के सन्त लंगोटी भी त्याग देते हैं। वह लंगोटी लगाकर सन्त होना सहन नहीं कर पाते। वस्त्र परित्याग करने से इनका तात्पर्य सद्गुण की महत्ता को कम करना, काम भावना को उत्तेजित करना या किसी के हृदय में अनैतिकता को जागृत करना नहीं है। सन्तों की नग्नता से नैतिकता प्रभावित नहीं होती। ग्रहस्थ आश्रम का धर्म कहता है कि जहाँ तक नैतिकता का सम्बन्ध है हमें यह नही भूलना चाहिए कि यह विषय धर्म या कला के क्षेत्र में नही आता और यह भी मान्य है कि यह आत्मा के उच्च आदर्श की प्राप्ति में बाधक नहीं बनता। यह लोक विदित है कि संसार के बहुत से धार्मिक ग्रन्थों में ऐसा विषय सम्बद्ध है जो कि यदि पावन साहित्य के अतिरिक्त और किसी दृष्टि से देखा जाय तो निश्चय ही अश्लील घोषित किया जायेगा। इस सत्य का भी कोई व्यक्ति खंडन करने का साहस नहीं रखता कि दोनों विरुद्ध लिंगो की मूर्तियां केवल प्रदर्शिनी कक्षों में कौतुक भंडारी और अजायब घरों में ही प्रदर्शित नहीं की जाती बल्कि अच्छे अच्छे मान्य और गुणी परिवारों के शयन–कक्षों और ड्राइङ्ग रूम में सुशोभित रहतीं हैं। आत्मा के आदर्श की प्राप्ति में वस्त्रों की नगण्यता के लिये यह तर्क काफी पर्याप्त है कि संसार का सारा कार्य शिथिल हो जायगा यदि इन विचारों का स्थान प्रत्येक क्षेत्र में अच्छे गुणों को दे दिया जायेगा। उदाहरण के लिये एक शिशु की क्या क्या हानि होगी यदि उसके माँ बाप केवल नग्नता के आधार पर उसकी सफाई न करे या आराम न पहुँचाए। इसी तरह एक रोगी का क्या होगा यदि उसकी परिचारिका उसका कार्य करना नग्नता के आधार पर ही छोड़ दें। पति-पत्नी के मध्य वैवाहिक सम्बन्ध भी बेकार सिद्ध होंगे यदि नग्नता का सिद्धान्त अश्लीलता के आधार शिला पर उन दोनों को अपने अपने निजी

कक्षों में रहन को बाध्य करेगा। यह तथ्य सर्व विदित है कि योरुप में २०-२५ वर्ष के नवयुवक तरुणियों को लदन के British Museum में पुरुष वर्ग के नग्नचित्र बिना किसी हिचक से खींचते हुए देखा जाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि नग्नता ही स्वयं में अश्लील नहीं है जोकि किसी सद्गुण को या नैतिकता को धक्का पहुंचाती है। यह विषय हिन्दू पुराणों में वर्णित बालिकाओं की कहानियों से अधिक स्पष्ट होता है। स्वर्ग की स्त्रियां एक बार पानी में खिलवाड़ करने मे मग्न थी कि एक नौजवान युवक शुकराचार्य जो कि बिल्कुल नग्न था उस मार्ग से गुजरा। कन्याए वस्त्रहीन थीं परन्तु उन्होंने उस युवक पर लेशमात्र भी ध्यान नहीं दिया। पहले के समान ही बिना अस्थिर हुए वह अपनी जल क्रीड़ा करने में लीन और भावमस्त रही। कुछ समय पश्चात् ही उन्होंने उस व्यक्ति के प्रौढ़ पिता व्यास जी के चेहरे का अवलोकन करते ही वह तुरन्त टैंक मे कूद पड़ीं और दौड कर अपने २ वस्त्र पहनने लगी। पुराणों में दिये हुए इस उदाहरण का यह सार है कि यदि एक नवयुवक उनकी सुन्दरता से अप्रभावित रहा और एक प्रौढ़ व्यक्ति उनकी आकर्षणता के आगे नत मस्तक होकर अपने नेत्रों को अपने वश में नहीं रख पाया।

बहुत अपवाद होगा यदि नैतिकता का गलत अर्थ लगाकर आत्मा को उन्नति पथ पर अग्रसर होने से रोक दिया जायेगा और फल स्वरूप लगातार विभिन्न जन्म लेने को बाध्य किया जायेगा। जन्मजन्मान्तर के भ्रमण में जीव को वास्तविक और अनंत आनंद की सुखानुभूति बिल्कुल असम्भव है। जैन साधु समाज मे बिल्कुल नग्न घूमता है परन्तु उसका ध्येय किसी को सद पथ पर जाने से अवरुद्ध करना नहीं होता बल्कि जैन धर्म का यह आधार भूत चिरसंचित विश्वास है कि निर्वाण की प्राप्ति वस्त्र और सांसारिक वस्तुए त्यागे बिना नहीं हो सकती।

निश्चय ही प्राचीन समय में नग्नता सन्त समाज का चिन्ह था। बाईबिल में हम पढ़ते हैं, "उसने अपने सब वस्त्र उतार दिए उपदेश दिया सैम्युल के सम्मुख बिल्कुल नग्न सारी रात्रि और सारे दिवस के समक्ष लेटा रहा। उन सबने कहा कि कि साल (Saul) भी देवदूतों में से एक है। (Samuel XIX 24)

उसी समय स्वामी ने अमोज के पुत्र ईसा से कहा—'जाओ और अपनी कमर के सारे वस्त्र ढीले कर दो तथा पैरों से जूते उतार दो' उसने जूते तथा वस्त्र न धारण किये हुए ऐसा ही किया" (Isaiah XX 2) यहूदियों की पुस्तक Ascension of Isaih के पृष्ट ३२ पर कहा गया है " वह जो स्वर्ग में होने वाले उद्गम में विश्वास रखते हैं पर्वतो पर ठहर गये ... वे सब ईश्वर दूत (सन्त) थे, उसके पास कुछ भी नहीं था वह नग्न थे।"

कुछ ईसाई सन्तों ने भी यहां तक की इजिप्ट की सैंटमेरी ने भी जो कि एक सुन्दर अबला थी वस्त्रों का परित्याग कर नग्न विचरण किया (यूरोपीय आचरण का इतिहास लेखक लैकी—पाठ चौथा)।

Clementine Homities में देवदूत पैटर इसी विषय को निम्नांकित भाषा में अनुगंठित करता है:—

हमने भविष्य की बहुत सी वस्तुओं को चुन लिया है हमारे पास बहुत सा सामान है और चाहे यह कपड़े हो या और कोई अन्य वस्तु पर हमारे पास पापों का भंडार बहुत है— क्योंकि हम और कोई चीज नहीं ले सकते। इसलिये हमारे अधिकार में पाप अति सख्या में हैं ... इनको छोड़ना चाहे किसी भी रूप में हो तो पापों से छुटकारा पाना है।" Arte Nicene Christian Library, XVII 240

इतने छोटे से अध्याय मे निर्वाण का स्पष्ट रूप चित्र लेखन तो असाध्य है लेकिन संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आदर्श प्रसन्नता की प्राप्ति वैराग्य लिये बिना नहीं हो सकती। इसका छिपा हुआ कारण यह है कि वह सब कुछ पाप है जो आत्मा के लिए अप्राकृतिक हैं जैसा कि उपरोक्त Arte Nicence Christian Library से उद्धृत किया गया है। पुराने लेखों से यह प्रलक्षित होता है कि नग्न साधु केवल भारत में ही नहीं थे बल्कि भारत से बहुत दूर कैसपिया और खसीनिया में भी थे।

प्राचीन अरबवासियों में भी नग्नता संसार से मोक्ष-प्राप्ति का एक चिन्ह था। Washington Irving ने उनके धर्म प्रयोग के विषय में कहा है कि प्राचीन समय में मोहम्मद साहब से पहले यह प्रथा थी कि कैब्बा के चारों तरफ बहुत से व्यक्ति एकत्र होते थे और यह प्रथा दोनों लिंगों के व्यक्ति नग्न रूप में पूर्ण किया करते थे। (महामेत के जीवन)

मुस्लिम विश्वास इस विषय में निम्नलिखित पंक्तियों से जो इस्लाम धर्म के प्रमुख दार्शनिक और प्रख्यात पुस्तक 'मथानेवी' जलालुद्दीन रुमी द्वारा लिखित है—से स्पष्ट होता है। इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है:—

(१) सन्त ने कहा जाओ तर्क करने वाले और कार्य करो। तुम नग्नों के मध्य नहीं रह पाओगे।

(२) वस्त्र धारण किये हुए के नेत्र धोबी की तरफ घूमते हैं। दैवी आभा ही नग्न शरीरों का वस्त्र है।

(३) या तुमको नग्नों को छोड़ देना होगा या फिर स्वयं वस्त्र हीन होकर उन्हीं की भांति भ्रमण करो।

(४) यदि तुम एक दम वस्त्र नहीं छोड़ पाते तो धीरे धीरे उनकी संख्या कम करो।

हमें यह विदित है कि अबुल कासिर गोलानी ने लंगोटी भी त्याग दी थी तथा वह बिलकुल नग्न रहता था। (धार्मिक जीवन और इस्लामिक दृष्टिकोण)

इस्लामी सन्त अब्दाल्स साधारणतया पूर्णरूपेण नग्न रहते थे। मिस लूमी एम गारनेट ने अपनी पुस्तक Muslim Dervishes के जीवन में उपरोक्त सन्त के विषय में लिखा है इस पुस्तक का नाम Mysticism And Magic Turkey है। इस पुस्तक में यह भी प्रदर्शित किया है कि वह व्यक्ति जो आजीवन शादी न करने की प्रतिज्ञा लेने के लिये उद्यत थे वह भी पूर्ण नग्नावस्था में रहते थे।

भारतवर्ष में आधुनिक युग में भी हिन्दु समाज में (नागा) साधु हैं। वह स्वच्छन्दता पूर्वक घूमते हैं और महान मेलों के पर्व पर प्रयाग, हरिद्वार और अन्य अन्य

अच्छे अच्छे स्थानों पर जाते हैं जहाँ कि वह जलूस का कार्यक्रम तैयार कर सामाजिक स्थानों के मध्य बिना किसी हिचक के जाते तथा निकलते हैं।

Louis Jacolliot हमें प्राचीन साधुओं की क्रियाओं के सम्बन्ध में बताते हुए कहते है। 'साधुत्वना नग्न रही'। यह अधिकतर भारतीय साधुओं से सम्बन्धित था। बुद्ध जी के समकालीन मनरवाली घोशाला और पुरन कश्यप दोनों ने किसी भी वस्त्र का प्रयोग नहीं किया। प० माखन लाल जैन ने 'वेद पुरान ग्रन्थ में जैन धर्म की इस्नत्वता और प० के० भुजवाली शास्त्री ने 'दिगम्बर मुद्र' में बहुत कुछ लिखा है। इन पुस्तकों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि हिन्दू समाज में साधुओं की नग्नता कितनी प्रचलित थी। भारती हरि से लिए गये केवल एक उदाहरण से हमारा प्रयोजन सिद्ध होता हैं:—

> पाणी पात्रं पवित्र भ्रमण परिगतं भैक्ष मक्षय्यमन्नं।
> विस्तीर्णा वस्त्र माशा सुदश कमलम तलवम स्वल्पमुर्वी॥
> येषानि: सङ्गताङ्गीकरण परिणति: स्वात्ममन्तोषिणस्ते।
> धन्या: सन्यस्त दैन्यव्यतिकरनिकरा: कर्म निर्मूलयन्ति॥

अनुवाद :—साधुओं में केवल वही प्रशंसा के पात्र हैं केवल वही पूजनीय हैं, केवल उन्होंने ही अपने कर्मों के मूल को नष्ट कर दिया है जिनको कि अन्न रखने के लिए हाथों के अतिरिक्त किसी बर्तन की आवश्यकता नहीं हैं, जो कि वही खाते हैं जो उनको मिल जाता है; जिनके वस्त्र स्थान ही है जिनका कोई सगा सम्बन्धी नहीं है जो भीख नहीं मांगते और जो आन्तरिक प्रसन्नता की खोज में ही सन्तुष्ट हैं।

वास्तव मे यह एक हिन्दू लेखक की भाषा में जैन साधु का वर्णन है।

प्राचीन समय में राजाओं ने अपना राजस्व त्याग दिया और नग्न साधु हो गए। बहुत से प्रसिद्ध महाराजाओं के नाम उदाहरण के लिए दिये जा सकते हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य, जिन्होंने ग्रीक सेना को पराजित किया तथा एक ग्रीक राजकुमारी साइलयकस नेक्टर Sileucus Nector की पुत्री से परिणय बन्धन स्वीकार किया बाद में राज्य को छोड़कर दिगम्बर सन्त हो गए। (विन्सट स्मिथ का भारतीय इतिहास पृष्ठ १५४) अमोघवारशा भी ऐसे ही प्रसिद्ध राजा थे जिन्होंने साँसारिक राज्य की अपेक्षा निर्वाण के लिये आंतरिक शाँति को अधिक महत्व दिया। अति प्राचीन काल में सारे देश में नग्न साधु देखे जाते थे। बुद्धो की पुस्तकें इस प्रकार के उदाहरणों से ओत प्रोत हैं। Books of the East, vol XIII 223 and XVII 116; DHARMA PADATTA-BATHA, vol I Part II 434-447) यह साधु सादर अच्छे परिवारों में आमन्त्रित किए जाते थे। सिकन्दर महान ने भी इस प्रकार के साधुओं को अपने देश में आमन्त्रित किया था और एक को वह अपने साथ ले गया था। यह साधु कल्याना नाम से प्रसिद्ध है और ग्रीक साहित्य में कालानस नाम से प्रसिद्ध है। बीं० सी० समय के ग्रीक वासियों में Gymnosophists के रूप में माने जाते हैं। ग्रीकवासी इन साधुओं के विषय में इस प्रकार कहते हैं:—

Louis Jacolliot हमे प्राचीन साधुओं की क्रियाओं के सम्बन्ध में बताते हुए कहते है। 'साधुत्वता नग्न रही'। यह अधिकतर भारतीय साधुओं से सम्बन्धित था। बुद्ध जी के समकालीन मनरवाली घोषाल और पूरन कश्यप दोनों ने किसी भी वस्त्र का प्रयोग नही किया। पं० माखन लाल जैन ने 'वेद पुराण ग्रन्थ में जैन धर्म की इस्त्वता और प० के० भुजवाली शास्त्री ने 'दिगम्बर मुद्र' में वहुत कुछ लिखा है। इन पुस्तकों के अध्ययन से ज्ञात होना है कि हिन्दू समाज में साधुओं की नग्नता कितनी प्रचलित थी। भारती हरी ने लिए गये केवल एक उदाहरण से हमारा प्रयोजन सिद्ध होता है—

पाणी पात्रं पवित्र भ्रमण परिगतं भक्षै मक्षय्यमन्नं।
विस्नीर्णां वस्त्र माशा सुदश कमलम तल्पम स्वल्पमुर्वीं ॥
येषानि: सङ्गताङ्गीकरण परिणति: स्वात्मसन्तोषिणस्ते।
धन्या: सत्येस्त दैन्य व्यतिकरनिकरा: कर्म निमूलयन्ति ॥

अनुवाद:—साधुओं में केवल वही प्रशंसा के पात्र हैं केवल वही पूज्यनीय हैं, केवल उन्होने ही अपने कर्मों के मूल को नष्ट कर दिया है जिनको कि अन्न रखने के लिये हाथों के अतिरिक्त किसी बर्तन कीं आवश्यकता नहीं है, जो कि वही खाते है जो उनको मिल जाता है, जिनके वस्त्र स्थान ही है जिनका कोई सगा-सम्बन्धी नहीं है जो भीख नहीं मांगते और जो आन्तरिक प्रसन्नता की खोज में सन्तुष्ट है।

वास्तव में यह एक हिन्दू लेखक की भाषा में जैन साधु का वर्णन है।

प्रचीन समय में राजओं ने अपना राजस्व स्याग दिया और नग्न साधु हो गए। बहुत से प्रसिद्ध महाराजाओं के नाम उदाहरण के लिए दिए जा सकते है चन्द्रगुप्त मौर्य, जिन्होंने ग्रीक सेना तो पराजित किया तथा एक ग्रीक राजकुमारी साइलयकस नेक्टर Sileucus Nector की पुत्री से परिणय वधन स्वीकार किया वाद में राज्य को छोड़कर दिगम्बर सन्त हो गये। (विन्सट स्मिथ का भारतीय इतिहास पृष्ट १५४) अमोंघवारशा भी ऐसे ही प्रसिद्ध राजा थे जिन्होंने सांसारिक राज्य की अपेक्षा निर्वाण के लिए आन्तरिक शान्ति को अधिक महत्व दिया। अति प्राचीन काल में सारे देश में नग्न साधु देखे जाते थे। बुद्धों की पुस्तके इस प्रकार के उदाहरणों से ओत-प्रोत है। Books of the East, Vol XIII 223 and XVII 116, DHARMA PADATTA-BATHA, Vol I Part II 434-447). यह साधु सआदर अच्छे परिवारों में आमन्त्रित किये जाते थे। सिकन्दर महान ने भी इस प्रकार के को अपने देश में आमन्त्रित किया था और एक को वह अपने साथ ले गया था। यह कल्याना नाम से प्रसिद्ध है और ग्रीक साहित्य में कलानस नाम से प्रसिद्ध है। वी०सी० समय के ग्रीक वासियों में Gymnosophiots के रूप में माने जाते हैं। ग्रीकवासी समय के ग्रीक वासी इन साधुओं के विषय में इस प्रकार कहते हैं :—

"यह व्यक्ति नग्न घूमते थे कठिन परिश्रम करते थे तथा अतीत श्रद्धा और सम्मान के योग्य समझे जाते थे, प्रत्येक धनी परिवार यहां तक कि स्त्रियों तक के कमरो में प्रवेश करने की उनको अनुमति थी।

Ancient India, Page 70-71 (Asiatic Researches)

चीन यात्री ह्योनसाँग जिसने ७ वीं शताब्दी में भारत का भ्रमण किया तथा जो नग्न साधुओं को ली हिस (Li-his)कहते थे उन्होने इनके सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा लिखा हैं "लीहिस ने स्वयं को दूसरों से अलग कर लिया नग्न रहकर तथा बाल लम्बे कर के (St. Julian, Viena P. 224)

मार्को पोलो (Marco Polo) कहते हैं कुछ योगी बिल्कुल नग्न रहे क्योंकि उनका कहना था कि वे इस संसार मे नग्न आये हैं तथा इस संसार का कोई पदार्थ नहीं चाहते। लेकिन उन्होंने यह घोषित किया "हमारे पास शरीर सम्बन्धी कोई ऐसा पाप नहीं है जिससे कि हम परिचित हो अत: नग्न रहने में हमें लज्जा अनुभव नहीं होती। तुम जो कि मांस के पापो से परिचित हो वह शर्म करो तथा अपनी नग्नता को ढकने का प्रयत्न करे।" Marco Polo II 366

मलिक मोहम्मद जायसी ने भी १६ वी शताब्दी में नग्न साधुओं का विवरण किया है।

कोई ब्रह्म चारज पन्थ लागे
कोई सुदिगम्बर अच्छा लागे (पद्मावत)

औरंगजेब और राजा अलउद्दीन ने भी दिगम्बर साधुओं का सत्कार किया (Studies in South Indian Jainism, Part II p. 134)

जहां तक कानूनी रूप से इस प्रश्न का सम्बन्ध है ब्रिटिश सरकार ने यह निश्चय किया और इस निश्चय को लगातार रखना चाहिए कि सरकार राज्य में रहती हुई किसी जाति के धर्म में हस्तक्षेप नहीं करेंगी। सन् १८५८ की घोषणा में यह विचार एवं निश्चय स्पष्ट रूप से किया गया था और उस समय से प्रत्येक सुअवसर पर इसकी पुनरावृत्ति की जाती है। वैसे भी प्रत्येक जाति को कानूनी रूप से अपना धर्म मानने की स्वतन्त्रता है और दूसरी जाति तथा सरकार को रोडा अटकाने का अधिकार नहीं है। जैन साधुओ द्वारा नग्नता स्वीकार करना कोई नया कार्य नहीं है। पुरानी पुस्तकों आदि से ज्ञात होता है कि यह प्रथा हजारों साल पुरानी है। वी० सी० समय के ग्रीक वासियों ने जिन्होंने भारत का भ्रमण किया इसको अनुभव किया। मुस्लिम इतिहास इस प्रथा का साक्षी है और अब जैनी इसका पालन कर रहे हैं।

कोई भी प्राचीन धार्मिक प्रथा सरकार द्वारा रोकी नहीं जा सकती। जैन साधुओं का अधिकार है कि वह सब वस्त्र त्याग दे और जैन जन सामान्य का अधिकार है कि वह अपने साधुओं को बिना किसी हिचक के इस प्रथा पालन की अनुमति दे जिसके बिना उनके विचार से निर्वाण प्राप्ति असंभव है:

जैन साधु निश्चित समय पर किसी से भोजन का निमन्त्रण स्वीकार नहीं कर सकते और न ही वे उस भोज्य पदार्थ का उपयोग करते हैं जो कि उनके ठहरने के स्थान पर ले जाया जाता हैं वे किसी प्रकार की गाड़ी या सवारी में यात्रा नहीं करते। वह प्रात: कालीन वेला में किसी घर में जाते हैं और किसी पवित्र व्यक्ति द्वारा सम्मान सहित दिया गया भोजन ग्रहण करते है। वह भोजन को उसी स्थान पर खा लेते हैं और आगे यात्रा पर नहीं ले जा सकते। प्रत्येक दिन एक जैन साधु को कुछ पग अवश्य

चलना चाहिए। एक साधारण शहर में पाँच दिन से अधिक व्यतीत नहीं करना चाहिए पर वर्षा ऋतु में वह अधिक भी ठहर सकते हैं जब कि पथ सुगम न हो लेकिन एक स्थान या शहर में चार मास ठहर सकते है।

गृहस्थाश्रम वाले ऐसे साधुओं का अपने घर पर आगम बहुत सौभाग्य समझते हैं और इसके लिए आकांक्षी रहते है, यदि कभी परिस्थितिवश ऐसे सुअवसर का वह सदुपयोग नहीं कर पाते तो उनको इतना खेद होता है जिसको कि कोई दूर नहीं कर पाता।

Privy Council ने भी कहा है "हरेक जाति का प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक सड़को पर धार्मिक जलूस निकालने के लिये स्वतन्त्र है जहाँ तक कि जन सामान्य के कार्य में कोई अड़चन नहीं आती और उस ढंग से जैसे कि जिलाधीश आज्ञा देता हैं। मस्जिद या मन्दिर में आराधना करने वाले जो कि सड़कों पर एकत्र हो जाते हैं जलूस में जाने वालों को अपनी अर्चना में सम्मिलित होने के लिये बाध्य नहीं कर सकते।

'सुद्रंम चेटी V/S महारानी ने भी इस सिद्धांत पर प्रभाव डालते हुए कहा गया है—"यदि जलूस धार्मिक है और धार्मिक विचार का महत्व है तो दूसरे व्यक्ति उस जलूस में सम्मिलित होने के लिए बाध्य नहीं किए जा सकते पर दूसरे व्यक्तियों का यह कर्त्तव्य है कि उस जलूस को आसानी से निकल जाने दे।"

यह सब उदाहरण जैन दिगम्बरों के व्यक्तिगत रूप से तथा जलूसों ने घूमने पर अच्छी तरह लागू होते हैं। उच्च अधिकारियों का कार्य इन अधिकारों को रोकना नहीं वरन इनके उपयोग में सहायता देना है। जैन साधु सारे भारत में स्वतन्त्र विचरण करते रहे हैं यहाँ तक कि देशी रियासतों में भी उनको कोई बाधा नहीं हुई है। अत: अधिकारियों का कर्त्तव्य हैं कि उनको उनका धर्म पालन करने में सहायता करें जैसा कि प्रचीन समय से करते आये हैं।

विज्ञान और धर्म

महेन्द्र सिंह चौधरी

आज का युग विज्ञान का युग है, परमाणु-शक्ति का युग है, उपग्रहों का युग है। आज का मनुष्य विज्ञान के अद्भुत चमत्कारों के चकाचौंध में पुद्गल (भौतिक पदार्थ), प्रभुत्व एवं ऐश्वर्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं देख पा रहा है: वह आत्मा एवं परमात्मा, धर्म एवं नीति को प्राय: भूल चुका है या उनको नितान्त अनावश्यक समझता है। वह एक ओर परमाणु-बम, हाइड्रोजन-बम आदि भयंकर आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों की सहायता से इस भूतल पर ताण्डव-नृत्य करने पर तुला हुआ है, तो दूसरी ओर आधुनिक उपग्रहों के द्रुत गामी पंखों पर उड़ कर चन्द्र, शुक्र आदि ग्रहों में पहुंचने के अपने चिर स्वप्न को सत्य सिद्ध करने जा रहा है।

आज विज्ञान के मानवीय सभ्यता को एक ऐसे चौराहे पर लाकर खड़ा कर दिया है, जहां कि मानवीय मस्तिष्क भौतिक स्तर पर चरम विकास प्राप्त कर चुका है, परन्तु आध्यात्मिक स्तर पर यह अज्ञानाधंकार में भटक रहा है। इससे संसार में एक ऐसी भयंकर स्थिति उत्पन्न हो गई है, जो कि मनुष्य मात्र के लिये एक जीवन-मरण का प्रश्न है। आदरणीय सेनसैंट के शब्दों में, "नैतिक अन्तर्दृष्टि के अंकुश से रहित, आध्यात्मिक मूल्यों की प्रेरणा से रहित बौद्धिक शक्ति आधुनिक जगत का सबसे बड़ा संकट है।" स्पैंगलर महोदय ने अपने सुविख्यात ग्रन्थ "The Decline of the West" में इसी संकट को स्पष्ट किया है। विश्व के परम वैज्ञानिक एवं गणितज्ञ आइन्सटीन ने इसी संकट को ध्यान में रखकर भविष्यवाणी की कि, "चतुर्थ विश्व युद्ध कंकड़-पत्थरों और तीर-तलवारों की सहायता से लड़ा जायेगा।"

अत: मनुष्य के सन्मुख आजमूल प्रश्न है—क्या मानवीय सभ्यता एवं संस्कृति की उन्नति एवं सुरक्षा के लिये विज्ञान का ज्ञान पर्याप्त है, अथवा, क्या मानव-कल्याण के लिये धर्म एवं नीति निरर्थक और अनावश्यक है ?

उन्नीसवीं शताब्दी में हक्सले, डार्विन आदि वैज्ञानिकों ने भावावेश में आकर घोषणा की कि "विकासवाद की सहायता से जगत एवं जीवों की सब प्रकार की व्याख्या

सन्तोषप्रद रूप में कर सकते हैं, हमें इसके लिये किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं है।" कुछ विचारकों ने तो उन्माद में यहाँ तक कह डाला कि, "पहले तो संसार में ईश्वर जैसी कोई वस्तु है ही नहीं, हो भी, तो उसे समाप्त करना होगा।" कार्ल मार्क्स ने ने धर्म को 'अफ़ीम का नशा' मात्र बतलाया, जिसका उपयोग शोषक वर्ग शोषित वर्ग को निर्धनता एवं दासता की जञ्जीरों में जकड़े रखने के लिये करता रहा है। अस्तु, नास्तिकता साम्यवाद का मूल मन्त्र है। अत्यन्त खेद का विषय है कि आज की जनतन्त्रवादी व्यवस्था में भी धर्म एवं नीतिको समुचित स्थान नहीं प्राप्त हो सका है क्यों कि जनतन्त्रवाद के अनुसार राज्य का धर्म-निरपेक्ष होना वाँछनीय है, जिसका प्रायः अर्थ लगाया जाता है अथवा परिणाम होता है : धर्म-विमुखता या धर्महीनता। भारतवर्ष जैसे धर्म-प्रधान देश में भी यह संकट विकराल रूप धारण कर चुका है। यदि भारत फिर से 'जगद्गुरू' बनना चाहता है (जैसा कि उसे अपने प्राचीन गौरव को पुनर्जीवित करने तथा व्यापक बनाने के लिये अवश्य करना चाहिये), तो राम-कृष्ण, बुद्ध-गान्धी पवित्र भूमि और उसके निवासियों को आजके कंटकाकीर्ण और अन्धकारपूर्ण जगत का अवश्यमेव पथ-प्रदर्शन करना होगा, हमें विज्ञान को धर्म से मुक्त करना होगा। क्या यह सम्भव है ?

हाँ, यह सम्भव है; सम्भव ही नहीं, वरन् मानव-कल्याण के लिये ऐसा करना अनिवार्य है। हर्ष का विषय है कि आज विज्ञान को काली मेघ माला के चारों ओर प्रकाश की एक उज्वल किरण दिखाई देने लगी है। आज पुद्गल के विषय में वैज्ञानिकों का ज्ञान इतना बढ़ गया है कि अब उनका भौतिकवादी बने रहना सम्भव नहीं। जैसाकि आँइन्सटीन ने सिद्ध कर दिखाया, भौतिक पदार्थ विद्युत-शक्ति के ही रूपान्तर मात्र हैं। अब वैज्ञानिक लोग परमाणुवाद के स्थान पर 'शक्तिवाद' (Energism) के सिद्धान्त को मानने लगे है। यही नहीं, संसार के आधुनिक महान भौतिकविचारक, जैसे आँन्सटीन, सर जेम्स जीन्स, आर्थर ऐडिंगटन, आदि विश्व की विशालता एवं विविधता पर विचार करते करते तत्व-विचारक (दार्शनिक) बन गये हैं, और वे अब विश्व के मूल में एक अनादि, अनन्त शक्ति के स्रोत के अस्तित्व में विश्वास करने लगे हैं।

अनादि, अनन्त शक्ति से अगला कदम है, उसके लिये अधिष्ठान के रूप में सर्वज्ञ व्यापक, सर्वज्ञ शक्तिमान (ईश्वर) के अस्तित्व में विश्वास, क्योंकि किसी शक्तिमान सत्ता के बिना शक्ति अस्तित्व असम्भव है। लॉयड मार्डन ने विकास-प्रक्रिया के प्रेरक रूप में ईश्वर की सत्ता को माना है, जिसको उसने एक विशेष क्रिया' (Activity) के नाम से पुकारा है। कौलेरिज के शब्दों में, "यह किसी बुद्धिमान व्यक्ति की उक्ति है कि जगत का छोटे से छोटा तथ्य (या घटना) एक ऐसी खिड़की है जिसमें होकर एक प्रबल नेत्र वाला मनुष्य जगत के अनादि, अनन्त नियन्त (ईश्वर) की झांकी प्राप्त कर सकता है।"

व्यक्ति के पारलौकिक जीवन के विषय में भारत, यूरोप और अमरीका में वर्षों तक आत्मिक शोध (Psychic Research) का कार्य होने के उपरान्त अब मनो-

विज्ञान की एक नई शाखा का जन्म हुआ है, जिसे 'परा-मनोविज्ञान' (Para-Psychology) कहते हैं। इसके द्वारा मृत्यु के बाद मनुष्य के पारलौकिक जीवन का अध्ययन मनोवैज्ञानिक ढंग से किया जा रहा है, यह भारतीय ऋषियों के चिरन्तन ज्ञान (आत्मा की अमरता, कर्मवाद एवं पुनर्जन्म। की उत्तरोत्तर पुष्टि करता जा रहा है। इस क्षेत्र में नवीन तत्व-विद्या (Theosophy) का सहयोग भी सराहनीय है।

परा-मनोविज्ञान के महत्व के विषय मे पद्मभूषण डा० भिक्खन लाल आत्रेय (भूतपूर्व अध्यक्ष,दर्शन-मनोविज्ञान विभाग.काशी विश्वविद्यालय) का मत उल्लेखनीय है "हम सभ्यता के इतिहास में आज एक ऐसे मोड़ पर आ पहुँचे हैं कि आत्मिक शोध और भारतीय विचार का तुलनात्मक अध्ययन परमावश्यक हो गया है। मेरे विचार में यह प्राच्य एवं पाश्चात्य, भूत एवं वर्तमान, विज्ञान एवं धर्म का मनुष्य की अन्य सब प्रकार की क्रियाओं से कहीं अधिक समन्वय (मेल) कर सकेगा।" आत्मिक-शोध विशारद सर ऑलीवर लौज ने विज्ञान एवं धर्म की एकता को स्पष्ट करते हुये तो यहाँ तक कह दिया है कि "धर्म का क्षेत्र और पूर्ण विज्ञान का क्षेत्र एक ही है।"

सभी धर्म-विहीन साम्यवादी अधिकाँश धर्म-निरपेक्ष प्रजातन्त्रवादी और आधुनिक शिक्षा सम्पन्न व्यक्ति इस बात में सहमत प्रतीत होते हैं कि मनुष्य धर्म एवं ईश्वर में विश्वास किये बिना भी नैतिक तथा सदाचारी हो सकता है परन्तु यह उनकी एक महान भूल है। इंगलैंड के विद्वान एवं अनुभवी नाट्यकार विलियम शैक्सपीयर ने इस विषय में बड़ा ही सही मत व्यक्त किया है—"नैतिकता रहित धर्मफल रहित वृक्ष के समान है और धर्म रहित नैतिकता मूल (जड़) रहित वृक्ष के समान है।" जर्मनी के प्रतिभाशाली दार्शनिक कान्ट ने नैतिक जीवन के तीन अनिवार्य आधार माने है—संकल्प की स्वतंत्रता, आत्मा की अमरता और जगत के नैतिक शासक के रूप में ईश्वर अस्तित्व का अत: मनुष्य धर्म एवं ईश्वर में विश्वास किये बिना स्थाई रूप से शुभ अर्थात् नैतिक जीवन व्यतीत नहीं कर सकता।

यही कारण था कि महात्मा गाँधी ने राजनीतिकों, नहीं समूचे जीवन को धर्मयुक्त करने पर अत्यधिक बलदिया। इसी कार्य को उनके पट, प्रबुद्ध एवं तपस्वी शिष्य आचार्य विनोबाभावे आज भी सम्पन्न करने का सतत् प्रयत्न कर रहे हैं। यही एक ऐसा अमोघ शस्त्र है जिसकी सहायता से भारत में ही नहीं वरन् संसार के मंच पर ताण्डव नृत्यकरते हुये भ्रष्टाचार रूपी राक्षस का वध किया जा सकता है; इस विषय में आचार्य विनोबा भावे के निम्नलिखित दो सूत्र स्मरणीय हैं:—

विज्ञान + राजनीति = सर्वनाश

विज्ञान + आध्यात्मिकता = सर्वोदय

विनोबा जी के शब्दों में, "रूहानियत (आध्यत्मिकता) और विज्ञान एक हो जांय, तो दुनियां में बहिश्त (स्वर्ग) उतरेगा यह आप खूब समझ लीजिये। विज्ञान का फायदा उठाना है, उससे काम लेना है तो उसके साथ रूहानियत को जोड़ना होगा। और अगर उसका फायदा न उठाना हो,इसके बदौलत मरमिटना हो, तो बीच में सियासत (राजनीति) लानी चाहिये।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हमारे वर्तमान जीवन में धर्म और विज्ञान दोनों समान रूप से आवश्यक हैं—पहला जीवन का पथ-प्रदर्शन करने के लिये और दूसरा जीवन की गति में वृद्धि करने के लिये। अब इन दोनों में विरोध के स्थान पर सहयोग सम्भव है (सम्भव ही नहीं, वरन् मानवता को सर्वनाश से बचाने के लिये अनिवार्य है), क्योंकि बीसवीं शताब्दी का विज्ञान धर्म के आवश्यक तत्वों (ईश्वर आत्मा, पुनर्जन्म आदि की पुष्टि करने लगा है, जिसके कारण इन दोनों का अन्तर या विरोध दिन प्रतिदिन कम होता चला जा रहा है। वास्तव में, मानव जीवन के समुचित एवं सर्वांगीण विकास के लिये श्रवण (विज्ञान), मनन (दर्शन) और निदिध्यासन (धर्म) तीनों परमावश्यक हैं।

आज के समुन्नत विज्ञान के युग में, जबकि प्रत्येक शिक्षित एवं प्रबुद्ध व्यक्ति स्वतन्त्रता और स्वतन्त्र चिन्तन को जीवन की आधार-शिला समझता है, धर्म अपने प्राचीन संगठित रूप में सभी मनुष्यों को समान रूप से स्वीकार्य नहीं हो सकता, चाहे वह कोई भी धर्म क्यों न हो। संगठित धर्मों का एक समान्य दोष यह है कि वे मानवता को मिलाने के बजाय विभाजित करते रहे हैं। आज आवश्यकता है ऐसे सार्वभौमिक धर्म की जोकि मानव को मानव से अलग करने के बजाय उनको परस्पर मिलाकर एक कर सके। अत: आचार्य विनोबा जी और विश्व के अन्य विचारक धर्म के स्थान पर धार्मिकता अथवा आध्यात्मिकता (Spirituality) पर बल दे रहे हैं, और आध्यात्मिकता ही धर्मों का सार है। आध्यात्मिकता ही वह पारस-मणि है जोकि सब धर्मों, सभी धर्मानुयायियों तथा सभी स्वतन्त्र विचारकों को खरा सोना बना सकती है। विभिन्न धर्मों के ऋषि-मुनि तथा साधु-सन्त इसके सजीव एवं सबल साक्षी हैं।

श्रुति का यह वाक्य आज भी सर्वमान्य है—"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" अर्थात् चरम सत्य (परम सत्ता) एक है, विद्वान उसको भिन्न २ नामों से पुकारते हैं। धर्म के वास्तविक एवं आधुनिक रूप के विषय में स्वामी विवेकानन्द का यह वाक्य स्मरणीय है—"धर्म आत्मानुभव (आत्म-साक्षात्कार) का ही नाम है।"

विषयवस्तु विश्लेषण—
एक समाज शास्त्रीय विधि

नन्द लाल पाण्डे

I

विषय वस्तु विशलेषण—

संस्कृतियों का पूर्ण रूप से अध्ययन न करने की सुविधा के लिए इस विधि[1] का विकास हुआ है। इस विधि के द्वारा संस्कृति की अनेक कृतियों का अध्ययन किया जाता है। इन अध्ययनों से भी संस्कृति की मूलप्रवृत्ति समझी जा सकती है। साहित्य[2], धार्मिक गाथाएँ, लोक साहित्य आदि के अध्ययन महत्वपूर्ण माने जाते हैं।

प्रचार साहित्य[3], फिल्म, पोस्टरों[4] आदि का विश्लेषण करके देखा जाता है कि उनमे प्रचार का प्रयोजन किस प्रकार पूरा होता है कभी उद्देश्य से भिन्न प्रभाव भी उत्पन्न होते हैं। उदाहरण के लिए युद्ध के प्रचार में जनता को अधिक संगठित बनाने के लिए दुश्मन की सावधानी या सतर्कता का बयान करना अपने मनोबल को गिराता है। यदि अपने सगठन की प्रशंसा की जाय तो आत्म-प्रशंसा का प्रभाव भी उत्पन्न हो सकता है। इन्हीं कारणों से विषय-वस्तु का विश्लेषण महत्व पूर्ण कार्य है।

कुछ विशेष प्रकार की वस्तुओं पर अनेक सामाजिक दशाओं का प्रभाव पड़ता है। इसको समझने के लिए भी इस विधि का प्रयोग किया जाता है। विभिन्न मतों वाले व्यक्ति, पत्र पत्रिकाएँ समस्याओं को किस रूप में देखती है इसके विश्लेषण द्वारा पद

---

1 Klinberg Social Psychology p 389—390

2 Marie Johoda & others - Research Methods In Social Relations" Holt, Rine-hart and Winston (1954) p.336.

3 Merton, R. K.-Social Theory And Social Structure(1962) Free Press of Glencoe.Ch XIV

4 C.M.Rege—"Poster As an Effective Medium of Communication-Sociological Bulletin. Vol XII September 1963

(उससे उत्पन्न विशिष्ट दृष्टिकोण) और ज्ञान का सम्बन्ध स्पष्ट होता है। यह प्रश्न ज्ञान के समाजशास्त्र के लिए विशेष उपयोगिता रखता है।

सांस्कृतिक वस्तुओं पर सामाजिक दशाओं का पड़ने वाला प्रभाव समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है फिर भी इस प्रभाव के कारण मूल प्रवृत्ति के स्वरूप को समझने में कठिनाई होती है क्योंकि कभी कभी विशिष्ट स्थिति वाले व्यक्ति (जो सेंसर सदस्य या फिल्म प्रोड्यूसर कथा के मूल भाव को नहीं समझते) मनमाने परिवर्तन कर डालते है इन प्रभावो के कारण संस्कृति और कला की मूल प्रवृत्ति को समझने में कठिनाई होती है।

II

उपन्यासों की विषय वस्तु में मूल्यों का महत्व

समाजशास्त्रीय दृष्टकोण से विषय वस्तु का विश्लेषण आधुनिक प्रवृत्ति हैं। विषय वस्तु के विश्लेषण के द्वारा अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन होता है। कलाकार के दृष्टिकोण किस प्रकार बनते है ? उसके व्यक्तित्व पर (जिसका अभिव्यक्ति उसकी कृतियों में होती है) सामाजिक परिस्थितियों का क्या प्रभाव पड़ता है ? उसकी कृतियो पर युग का क्या प्रभाव पड़ता है ? समकालीन साहित्यकारों और जनता पर उसके व्यक्तित्व का क्या प्रभाव पड़ा है ? इस प्रकार के प्रश्न केवल साहित्यकारों के लिए ही नहीं अपितु समाज शास्त्रियों के लिए भी महत्वपूर्ण हैं क्योंक उनके उत्तर प्राप्त होने पर व्यक्तित्व के निर्माण की प्रक्रिया(जिसे सामाजीकरण कहते है) सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया, नेतृत्व के प्रभाव की प्रक्रिया, सामाजिक समस्याओं की उत्पत्ति तथा उनके समाधान के प्रश्नों पर विचार किया जा सकता है। व्यक्तिगत और सामाजिक मूल्य क्या हैं ? किस प्रकार बनते और बदलते हैं ? इन प्रश्नो के उत्तर ज्ञान के समाजशास्त्र के लिए भी उपयोगी होगे क्योकि वह भी सामाजिक सत्य के आधार तथा वैधता के प्रश्न पर विचार करता है।

घटना (या दृश्य) व्यवहार, अन्त: क्रिया और विचार (या दृष्टिकोण) के आधार पर साहित्यिक कृतियों का विश्लेषण किया जा सकता है। घटना; विचारों तथा अन्त: क्रियाओं में व्यक्तित्व की इकाई दृष्टिकोण है। यही दृष्टिकोण (जो किसी सामाजिक मूल्य पर आधारित होते है) प्रधान हैं इसलिये उसी को अधिक महत्व मिलना चाहिये इस प्रकार सामाजिक मूल्यों का महत्व स्पष्ट होता है।

उपन्यास की कथा वस्तु भी कुछ घटनाओं सामाजिक परिस्थितियों तथा व्यक्तित्व का चित्रण करतीहैं। इस कारण कथा वस्तु के विश्लेषण के द्वारा सामाजिक मूल्यों का अध्ययन करना सरल हो जाता है।

---

[1] मूल्यों एवं दृष्टिकोणों का सम्बन्ध पोटल ने इस प्रकार स्पष्ट किया है :—
"Values are the core of respondent's internalised conscience. (They) are those principles which give organization and meanings to the respondent's life.—Laureence Podell "An Interview Problem in Value Research "in" Sociology and Social Research. Nov-Dec. 1956 Vol. 2 P. 123.

विषय वस्तु विश्लेषण के उदाहरण

उपन्यासों की विषय वस्तु का विश्लेषण किस प्रकार किया जाय कि उनका समाज शास्त्रीय म.त्व स्पष्ट हो ? यह प्रश्न महत्वपूर्ण है । कुछ उपन्यासों की विषय वस्तु का प्रमुख मूल्यों के आधार पर विश्लेषण इस प्रकार है :—

पूंजीवाद की आलोचना

रेत का महल—यह साम्यवादी उपन्यासकार की रचना है। इस कारण उसने पूंजीवाद की आलोचना की है। पूंजीवाद का आधार है धन। पूंजीपति का प्रत्येक कार्य धन को ध्यान में रखकर किया जाता है। कृष्ण चन्दर ने लिखा है :—

"..........अमीर कोई भी ऐसा कार्य नहीं करता जिसमें उसका कोई लाभ न हो।"[1]

पूंजीवाद की प्रेरणा समझ लेने पर उसके व्यवहारों को समझना सरल हो जाता है। सेठ लोगों की गाड़ी उलटने पर इस बात की चिन्ता नहीं है कि यदि वे मर जाते तो क्या होता। उनका ध्यान इस बात पर रहता है कि शनिवार और इतवार को रेसों में व हिस्सा न ले सकेंगे' पात्रों की बातों से ही स्पष्ट होता है :—

खन्ना बोला "यार छगन, अपनी शनिवार की रेस गई।"
छगन बोला "टिप तो इस बार मुझे भी बहुत अच्छे मिले थे, मगर ऐक्सीडेन्ट ने..."
खन्ना ने बात पूरी की "कूंडा कर दिया"

+ + +

खन्ना बेचैन होकर बोला :—"लो यार इतवार की रेस भी गई"

+ + +

छगन ने कहा घबरा कर कहा "तुम इतवार को रोते हो म समझता हूं बुध की भी रेस गयी।"

"रेस गयी" गार्ड मुंह फुलाकर बोला "अरे सेठ साहब परमात्मा का धन्यवाद करो कि जान नहीं गयी, नहीं तो तुम वहीं पड़े होते।" गार्ड ने लाशों के ढेर की ओर संकेत किया और आगे बढ़ गया।

पूंजीवाद के मूल्य

पूंजीवाद का प्रमुख मूल्य है धन। भौतिकवाद और भोगवाद भी पूंजीवाद के मूल्य हैं। उपन्यासकार ने लिखा है :—

'नौकरी, मकान, अच्छा कपड़ा, एक छोटी सी कार रुपया देना चाहता था किन्तु बदले में वह मेरी बहन चाहता था"
नायक सुरेन्द्र ने ठीक ही कहा है :—

---

[1] रेत का महल—लेखक कृष्ण चन्दर पृ० ३०

(पूंजीवाद को) 'नौकरी, मकान, अच्छा कपड़ा, एक छोटीसी कार, बैंक बैलेन्स यह सब कुछ' चाहिए किन्तु स्वाभिमान, आदर महानता, सज्जनता, सच्चा प्रेम यह सब कुछ नहीं।"

व्यभिचारी पूंजीवादी का परिचय प्राप्त करने के लिए खन्ना छगन आदि का चरित्र देखिये:—

'छगन लाल ने पत्ते फेंक कर कहा "हम हर बाजी हार रहे हैं। मेरा खयाल है खन्ना हम लोग सीटें बदल लें"

खन्ना ने कहा—"यह क्यों नहीं कहते कि शकुन्तला के पास बैठना चाहते हो। याद रखो धरोहर में बेईमानी हो जायगी शकुन्तला तुम्हारे जिगरी दोस्त की धरोहर है।

"तो इससे क्या होता है?" छगन लाल अपनी हीरे की अंगूठी को अंगुलियों में घुमाते हुए बोला "यहां तो अपना धन्धा ही यही है। इसकी पगड़ी उसके सर......"

शकुन्तला ने तमक कर कहा—"और इसकी औरत उसकी बगल में" डार्लिंग तुम तो समझदार होती जा रही हो। तुम्हे तो स्टाक एक्सचेंज में काम करना चाहिए।" खन्ना उसकी कमर में चुटकी लेकर बोला। वे चारों हँसने लगे।

नारी के प्रति सामन्तवाद भी अनुदार रहा है। उपन्यासकार ने सामन्तवादी दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है:—

"जब मैं जागीदार था तो मेने अपने इलाके में किसी सुन्दर स्त्री को नहीं छोड़ा। और उनमे से निन्नायवे प्रतिशत तो खुशी-खुशी मेरे पास आ जाती थी। बस इसी से समझ लो कि औरत क्या चीज होती है"

(रेत का महल पृ० २००)

पूंजीवाद और धर्म

पूंजीवाद समाज में धर्म का महत्व कम हो जाता है। लेखक ने लिखा है:—

ऐसा मालूम होता है कि आजकल धर्म का बाजार भी मंदा है इसलिए आपने भगवान की उपासना छोड़ दी है।"

केवल इतना ही नहीं उपन्यासकार कार का दृष्टिकोण है कि "..........यदि उसे कहीं परमात्मा मिल जाता तो वह भी टोकरी में रखकर गली गली-बेचने लगता:—

"परमात्मा ले लो, दो आने में परमात्मा को ले लो। सस्ता लगा दिया है, दो आने में, दो आने में।"

बजार में रहकर आदमी परमात्मा को नाराज कर सकता है किन्तु बाजार के नियमों में लापरवाही नहीं कर सकता[1]"

पद निर्धारण

हमारे समाज की मुख्य विशेषता है कि व्यक्तियो का पद उनके जन्म के पूर्व ही निर्धारित हो जाता है। यह विशेषता केवल जाति के ही कारण नहीं है। पूंजीवाद

[1] रेत का महल पृ० ३०

भी लोगों को अपनी योग्यता दिखलाने का अवसर ही नहीं देता। यदि अवसर मिलता होता तो सुरेन्द्र समाज का नेता होता। पद निर्धारण सम्बन्धी व्यवस्था का उल्लेख उपन्यासकार ने इस प्रकार किया है "एक बच्चा था, फुटपाथ की उपज, जिसे समाज ने उत्पन्न होने के पहले ही भिखारी बना दिया था।"[2]

पूंजीवादी समाज मे लोगों की वर्गभावना काफी गहरी होती है। इसका चित्रण उपन्यासकार ने रेल दुर्घटना के बाद किया है। रेगिस्तान में भी लोग अपने सामाजिक स्तर के लोगों के साथ मिलकर रहते हैं।" एयर कण्डीशण्ड के लोग अलग, फर्स्ट क्लास के अलग और तीसरे दर्जे के अलग। सैलून में सफर करने वाली राजकुमारी सबसे अलग।

सुरेन्द्र को लगा मानो यह मरुस्थल नहीं है एक शानदार दरबार है जिसमें सब लोग अपने-अपने स्तर और अपनी पदवी के अनुसार अलग-अलग बैठे हैं।

(रेत का महल पृ० १७)

इसी वर्ग भावना का चित्रण उपन्यास के अन्त में भी किया गया है। अन्त में गाड़ी आने पर जो सामाजिक व्यवस्था और वर्ग भेद डाकुओं के भय के कारण मिट गये थे फिर से मजबूत बन गये।

उपन्यासकार ने लिखा है :—

"अब सब कुछ समाप्त हो गया था। वह समता, वह सहानुभूति वह भाई चारा, वह स्वप्न जो कि डाकुओं के भय की सन्तान था। आज वह सब कुछ टूट टूट गया था गाड़ी क्या आयी थी अपने साथ समाज के सारे वर्ग और सारे भेद ले आयी थी।" (पृ० २१५-२१६)

इस नवीन सामाजिक व्यवस्था में सेकेण्ड क्लास मे सफर करने वाले हाजी, ईसा ताजदीन से बात नहीं करते हैं जिन्होंने पहले उसे चार सौ रुपये प्रतिमास की नौकरी दिलाने का वायदा किया था। सुरेन्द्र, राजकुमारी और अन्य उच्च वर्ग के लोगों से अलग हो जाते हैं। उसे स्नेह मिलता है अपने ही साथियो से।

पूंजीवादी समाज का सबसे बड़ा दोष है कि मनुष्यों की कोई कीमत नहीं रह रह जाती कुछ धन इकट्ठा करने के लिए सैकड़ो मनुष्यों को अपना जीवन कष्टमय बनाना पड़ता है और यदि उन्हें मरना भी पड़े तो भी पूंजीपतियों पर कोई असर नही पड़ता। इसी तथ्य का उद्घाटन उपन्यासकार ने किया है। सेठ पुत्ती लाल कुँआ दस दिन के लिए किराए पर लेते हैं। चार आने गिलास पानी बेचा जाता है। आधा गिलास पानी लेने वालों के पैसे फेंक दिये जाते हैं।

पूँजीवाद धन, धर्म, शक्ति और बुद्धि का एक ऐसा सन्तुलन है जिसने सारे मनुष्यों को जकड़ रक्खा है अपने नियमों के द्वारा जो बाजार के नियमों को ही नहीं मानता वह रह नहीं पाता इसका उदाहरण डा० कामथ है। उसका दृष्टिकोण मनुष्यों की सेवा करना था। इसलिए बाजार में इतना कर्ज बढ़ गया कि उन्हें रात में ही नगर छोड़कर भागना पड़ा।

---

[2] वही पृ० ९०

आधुनिक शिक्षा की आलोचना

पेट का धन्धा केवल साहित्य, दर्शन और इतिहास से हल नहीं होता और यदि बम्बई की जलवायु आद्र है तो उनको पेट की भूख पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और दो भाग हाईड्रोजन में एक भाग ऑक्सीजन मिला देने पर पानी तो अवश्य बन जाता है किन्तु पानी पीने के लिये भी नगरपालिका को पैसा देना पड़ता है तब हमें मालूम होता है कि हम कुछ नहीं जानते। हम हथौड़ा चलाना नहीं जानते, करघे पर कपड़ा बुनना नहीं जानते मछलियाँ पकड़ना नहीं जानते और इंजन चलाना भी नहीं जानते—यद्यपि पेट के इंगत बराबर चलता रहता है और इंजन पेट्रोल भागता है। किन्तु हम उसमें पेट्रोल भरना नहीं[1] जानते।"

इस शिक्षा के कारण ही बी. ए. पास सुरेन्द्र बेकार रहता है। चोरी का प्रयत्न करता है और पकड़ा जात है।

सामाजिक संगठन

मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था का आधार है 'पूंजी' और इसी कारण पूंजीपति समाज का केन्द्र है। इसी तथ्य को कृष्णचन्दर ने इस प्रकार व्यक्त किया है :—

"शिक्षा, राजनीति, संस्कृति कानून और समाज मुझे ऐसा मालूम हो रहा था जैसे ये सब एक ही हाथ की लाखराम के हाथ की अंगुलियां हों। कोई छोटी हो, कोई बड़ी किन्तु है सब उसी एक हाथ की अंगुलियाँ। मुझे महसूस होने लगा जैसे मैं इन अंगुलियों के बीच चल रहा हूं और इनसे बचने का प्रयत्न कर रहा हूं। किन्तु इनकी पकड़ से बाहर नहीं जा सकता।"[2]

उपन्यास में सेठ लाखाराम स्कूल के संचालक, मकान के मालिक और अखबार के भी मालिक हैं। इन्हीं कारणों से उसकी सुनवायी कहीं नहीं हुई। अन्त में वह चोरी करने के लिए मजबूर हो गया।

मार्क्सवादी अपराध शास्त्र

अन्य आधुनिक अपराध शास्त्रियों की भांति मार्क्सवादी अपराधशास्त्री भी यही मानता है अपराधी पैदा नहीं होते वरन् बनाए जाते हैं (Criminals are not born but are made)। उपन्यासकार कृष्ण चन्दर ने इसी मत को अपने उपन्यास 'रेत के महल' में स्पष्ट किया है। उसका नायक सुरेन्द्र है जिसे समाज ने अपराधी बनाया परन्तु परिस्थति ने जिसकी हथकड़ियों को खुलवा कर उसे योग्य सामाजिक कार्यकर्त्ता के रूप में प्रस्तुत किया।

मन्मथ नाथ गुप्त ने भी अपने 'दुश्चरित्र' में इसी मत को पुष्ट किया है। सरल, आज्ञाकारी, त्यागी, अपने भाई के लिये जेल जाने वाले व्यक्ति को समाज ने ही अपराधी बनाया।

---

[1] रेत का महल पृ० १० [2] वही पेज ११

अपराध के मुख्य प्रेरक हैं समाज की बुराईयाँ जिनमें पूँजीवाद सबसे प्रमुख है पूँजीवाद लोगों को खरीदना चाहता है। जो अपना ईमान नहीं बेचना चाहता वही गरीब और बेकार हैं। उदाहरण के लिए 'रेत का महल' का नायक सुरेन्द्र इसलिए बेकार है क्योंकि वह अपनी बहन को सेठ लाखाराम के हाथ नहीं बेचना चाहता। इसी प्रकार डा० कामथ भी गरीब और कर्जदार है क्योंकि वह समाज की सेवा करना चाहता है न कि शोषण।

पूँजीवाद में अपराधी (समाज का वास्तविक अहित करने वाले-शोषक पूँजीपति) तो छोड़ दिये जाते हैं पर गरीब और असहाय लोगों को झूठे अपराधों के बहाने जेल मे भेजने का प्रयास किया जाता है। ("समय के पंख"—आदिल रशीद)

IV

इसी प्रकार उपन्यासों की कथा वस्तु का विश्लेषण किया जा सकता है। अब देखना यह है कि इस प्रकार के विश्लेषण का समाज शास्त्र के लिए क्या उपयोगिता रखते हैं?

उपन्यासों के विश्लेषण से व्यक्तियों, समूहों और संस्कृतियों के मूल्यों दृष्टिकोण उनकी व्यवस्थाओं, असंगतियों, परिवर्तनो आदि का अध्ययन हो सकता है। इसका एक उदाहरण प्रस्तुत किया गया।

विषयवस्तु विश्लेषण द्वारा ज्ञान के समाजशास्त्र के कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों का भी उत्तर दिया जा सकता है। मूल्य या अन्य सामाजिक ज्ञान का आधार पद या परिस्थित (Perspective) होता है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न उपन्यासों के उदाहरण दृष्टव्य है :—

"भारत का बटवारा उन्होंने [कांग्रेस] क्यों किया। इसलिए क्योंकि वे राज्य सत्ता को हस्तगत करने के लिए उतावले हो रहे थे······अंग्रेजी साम्राज्यवाद की जड़ें ढीली पड़ गयी थी खोखली हो चुकी थी वे स्वय ही उखड़ना चाहती थी और भारत का महान गौरव प्रतिपल उन्हें काल की भाँति दिखायी दे रहा था। इस समय इन कांग्रेसियों ने सत्ता को हस्तगत करने में देर न हो जाय इसलिये भारत विभाजन को मान कर अपने मतलब को सिद्ध किया।

[अन्तिम चरण ले० यज्ञदत्त पृ० १०]

लेखक ने जनसंघ के दृष्टिकोण से तथ्य को प्रस्तुत किया है। कांग्रेस का विचार रहा है कि देश का विभाजन इसलिए स्वीकार किया गया कि साम्प्रदायिकता की लपटों से देश को बचाने का यही तरीका उचित था।

इसी प्रकार एक मार्क्सवादी उपन्यासकार ने गांधी जी के १६४२ के आन्दोलन को सामूहिक आत्महत्या का नाम दिया है। (दे० बीज—ले० अमृत राय पृ० ४२) इसी लेखक ने इस मत का भी प्रतिवाद किया है कि उस समय साम्यवादी लोग अंग्रेजों से भिड़ गये थे तथा उन्होंने देश के साथ दगाबाजी की थी। स्पष्ट है कि उपन्यासकार अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयत्न करते है।

नारी स्वभाव के प्रति उपन्यासकारों का दृष्टिकोण बहुत अधिक भिन्न है उदाहरण के लिए कन्हैयालाल ओझा (मकड़ी का जाला—राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली १९४९) स्वतंत्र नारी को अव्यवस्थित मानते हैं। अपनी स्वतंत्रता का प्रदर्शन उसने धर्म प्रकार, कमल कपूर से यौन सम्बंधों की स्थापना के द्वारा प्रदर्शित की। बीमार पति के प्रति विश्वासघात करने वाली नारी की उद्दण्डता अक्षम्य है। नारी के इसी रूप का चित्रण प्रो० दयाव्रत ने भी किया है :—

'स्वीकृति का अर्थ दुर्बलता नहीं है और अकारण विरोध का अर्थ स्वतंत्रता या स्वाभिमान नहीं है। तुम यह क्यों नहीं समझती हो कि शरीर या मन की आवश्यकता उन्हें किसी प्रकार से हीन बनाती है।'' (नहीं नहीं मरेंगे'—१९५९ पृ० १८६) आधुनिक नारी की अनैतिकता—(वास्तव में आधुनिक नारी नैतिक मूल्यों को इन सम्बधों के साथ नहीं जोड़ती इसी मत को अन्य उपन्यासकारों ने भी व्यक्त किया है। ''पत्थर युग के दो बुत'' (में रेखा) एक लड़की एक समस्या'' (ले० आदिल रशीद) ''उजड़े हुए लोग'' (राजेन्द्र यादव) में मायापुरी, ''इन्दुमति'' [ले० सेठ गोविन्ददास'] आदि उपन्यास द्रष्टव्य है। कहीं पर अनैतिकता का कारण परिस्थिति हैं। उदाहरण ''दासता के नए रूप'' (ले० गुरुदत्त) में सरकार, हिन्दू पति की मुस्लिम पत्नी को पाकिस्तान भेज देती है जहां उसे बल प्रयोग द्वारा वैश्या बनाया जाता है। इसी प्रकार 'आम्रपाली' (ले० चतुरसेन) में आम्रपाली के वेश्या बनने का कारण सामाजिक प्रथा है। इच्छा से लादी हुई, अनैतिकता के प्रति आम्रपाली का विद्रोह विचारणीय है। इस प्रकार का दृष्टिकोण आधुनिक पात्रों में कम ही पाया जाता है। स्पष्ट है कि यों न नैतिकता के प्रति धारणा बदल रही है। यह परिवर्तन बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसी चित्रण ''रुकोगी नहीं राधिका'' नामक उपन्यास में किया गया है। राधिका का सम्पर्क अनेक व्यक्तियों से रहा परन्तु वह अनैतिकता से बचा रहा।

बहुत से मूल्य परस्पर विरोधी पाये जाते हैं। इन्हीं के कारण सामाजिक समस्याएं उत्पन्न होतीं है। उदाहरण के लिए व्यक्तिगत इच्छा को विवाह में महत्वहीन मानने के कारण ही (धर्मपुत्र—ले० चतुरसेन)''गुनाहो के देवता''(धर्मवीर)'' समय के पंख (आदिल रशीद) आदि उपन्यासों की समस्याएँ उत्पन्न हुई यदि सामाजिक आदर्शों को युग के अनरूप बनाया जाए तो इस प्रकार की अनेक समस्याएँ सुलझ सकती हैं। विवाहों के आधुनिक रूप जी मान्यता बीज (ले० अमृतराय)' 'उजड़े हुए लोग, (ले० राजेन्द्र यादव) आदि उपन्यासों में हुयी है। बीज में पात्र को इसलिए संयुक्त परिवार छोड़ना पड़ा और उजड़े हुए लोग में पात्र घर से भागा। दूसरे नगर के लोग (कपिल की पत्नी) भी उसके वैवाहिक सम्बन्धों की आलोचना करने मे नहीं चूकते। आधुनिक दृष्टिकोण वाले व्यक्ति (सूरज जी) इसको उचित समझते हैं। स्पष्ट है कि लोगों की धारणायेंबदल रही हैं और समस्या का हल अधिक सरल होता जा रहा है। उपन्यासों के प्रभाव स्वरूप जन साधारण के भी दृष्टिकोण बदल सकते हैं।

इन तथ्यों की वैधता के बारे में शका उठाई जा सकती है। क्या वास्तव में जिन मूल्यों की चर्चा की गई है उन्हें उपन्यासकार मानते हैं। इस बारे में दो तथ्यों पर ध्यान देने की आवश्यकता है (अ)साहित्यकारों के मूल्य राजनीतिक विचार धाराओं से अपनाये गये हैं। उदाहरणार्थ प्रगतिवाद के मूल्य साम्यवाद के मूल्य है। इस कारण उनके अस्तित्व में अविश्वास नही किया जा सकता। (ब) मूल्य सही है या नहीं इस बारे में यह कहना ही पर्याप्त होगा कि मूल्य (ज्ञान या दृष्टिकोण अथवा चेतना) की भाँति भ्रमपूर्ण (false) नहीं हो सकता दृष्य के दृष्टिकोण [जिसका सम्बन्ध उसकी स्थिति से है] उसके विचार सही है। निष्कर्ष रूप में सभी दृष्टिकोण [या ज्ञान] वास्तविक और सरल है।

विषय वस्तु विश्लेषण द्वारा किस प्रकार के तथ्य प्राप्त हो सकते हैं उसकी विवेचना का प्रयत्न किया गया। इन तथ्यों की समाजशास्त्रीय महत्व स्पष्ट है। इस विषय पर ध्यान देने की आवश्यकता है।

गवेषणा

दर्शन, मनोविज्ञान, परामनोविद्या
समाजशास्त्र, धर्म

इत्यादि विषयों की

त्रैमासिक पत्रिका

वर्ष—तृतीय दिसम्बर १९६६ अंक—तृतीय

विषय सूची

सम्पादक मन्डल

सम्पादकीय—

भारतीय और पश्चिमी दार्शनिक अध्ययन पद्धतियों का समन्वय

दार्शनिक चिन्तन और दर्शनों के अध्ययन अध्यापन की परम्परा भारतवर्ष में प्रागैतिहासिक काल से चली आ रही है ईसा से कम से कम ढ़ाई हजार वर्ष पहले संकलित किये गये वैदिक साहित्य में अत्यन्त प्रौढ और प्रगण्य ऐसे तत्वचिन्तन के उदाहरण नासदीय सूक्त अस्यवामीय सूक्त, अघ मर्षण सूक्त, स्कंभ सूक्त, काल सूक्त आदि रूप में दिखाई पड़ते हैं। उपनिषद तो एक मात्र तत्व चिन्तन के विविध प्रकारों को हमारे सामने संकलित रूप में उपस्थित करती है। उपनिषद के बाद रचे गये दर्शन सूत्रों के काम से—जो ईसा से कम से कम पाँच सौ वर्ष पूर्व का ही माना जा सकता हैं--बीसवीं सदी तक भारत में दर्शनों के अध्ययन, अध्यापन और चिन्तन की परम्परा अविच्छिन्न रूप से बनी हुई है। विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों में आकर ग्रन्थों, जैसे सूत्र भाष्य आदि पर टीकायें, टिप्पणियां, व्याख्यायें, वार्तिक, वृत्तियाँ आदि समय समय पर विद्वानों द्वारा लिखे जाते तथा पढ़े पढाये जाते रहे हैं। कुछ ग्रन्थों का तो ऐसा भाग्य रहा है कि कई सदियों तक इन पर टीका, भाष्य, वार्तिक, वृत्ति आदि अनेक प्रकार की व्याख्यायें, उपव्याख्यायें आदि की रचना का तांता सा बंधा रहा है। उदाहरण के तौर पर गौतम प्रणीत 'न्याय सूत्र' को लें जिस की रचना ईसा की पूर्व दूसरी या तीसरी सदी मानी में जाती है। इस ग्रंथ पर जो न्ययाय दर्शन का मूलाधार है—वात्स्यायन ने ईसा की दूसरी सदी के लगभग भाष्य नामक व्याख्या की रचना की। भाष्य में उपस्थित किये गये अनेक सिद्धान्तों पर दिङ् नाग नामक बौद्ध पडित ने अनेक तार्किक आघात किये। इनका निवारण करने के हेतु भारद्वाज उद्योतने चौथी पाँचवी शताब्दी के लगभग भाष्य पर वार्तिक नामक विशेष प्रकार की व्याख्या लिखी। वार्तिकान्तर्गत विचारों पर पुन:बौद्ध पंडित धर्म कीर्ति ने आक्षेप उपस्थित किये। इनके खंडनार्थ श्री वाचस्पति मिश्र ने आठवी शताब्दी में वार्तिक पर 'न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका' नामक व्याख्या की रचना की लेकिन बौद्ध पंडितों ने वाचस्पति को भीं नहीं छोड़ा। महान बौद्ध तार्किक धर्मोत्तरा

चार्य ने तात्पर्य टीकान्तर्गत प्रमेयों को तर्कपुष्ट सिद्ध कर दिखाने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न को निष्फल करने के लिये दसवी शताब्दी में असामान्य बुद्धि के नैयायिक उदय नाचार्य ने तात्पर्य परिशुद्धि नामक व्याख्या 'तात्पर्य टीका' पर लिखी। 'परिशुद्धि' पर भी परवर्ती बौद्धों ने खंडन परक ग्रन्थो की रचना की जिनके प्रत्युत्तर मे वर्धमानों पाध्याय ने ग्यारहवीं शताब्दी में 'प्रकाश' नामक व्याख्या 'परिशुद्धि' पर लिखी। इस व्याख्या की भी व्याख्या करना जब आवश्यक प्रतीत हुआ तब शंचदत्तोपाध्याय ने चौदहवीं शताब्दी में 'न्याय निबन्ध प्रकाश' नामक व्याख्या की रचना की।

इस प्रकार मूल सूत्र ग्रन्थों की सूत्रात्मक बातों का भाष्य, वार्तिक, वृत्ति, टीका, टिप्पणी आदि के द्वारा लगातार विस्तार करते जाना और इस प्रक्रिया के चलते विभिन्न मत मतांतरो का खण्डन मण्डन करते जाना यह भारतीय दार्शनिक चिन्तन का एक असामान्य विशेषता है। ऐसा विचार सागन्य शायद ही किसी अन्य देश के दर्शन मे दिखाई पड़े। यह बात नहीं कि प्राचीन काल के पंडितों ने ही दार्शनिक चिन्तन की अविच्छिन्न धारा बनाये रक्खी। ग्यारहवी सदी के बाद जिस नव्य तर्कशास्त्र का नवद्वीप और मिथिला में विकास हुआ उसके अधिकाधिक सूक्ष्म और गहन अध्ययन की परम्परा तेरहवीं सदी से जो चल पड़ी वह बीसवीं सदी के मध्य तक बराबर चली आयी हुई है। (प्रस्तुत निबध के लेखक इसी परम्परा मे शिक्षित होने के बाद पश्चिमी दर्शनों के अध्ययन की ओर अग्रसर हुए है) नव्य तर्कशास्त्र का आकर ग्रथ 'तत्व चिन्तामणि' जिसकी रचना मिथिला के महान तार्किक गगेशोपाध्याय ने बारहवी सदी के आसपास की थी, एक सौ सवासौ उसी साइज के पृष्ठो का ग्रंथ हो सकता ह। लेकिन पिछली सात आठ सदियों में इस ग्रंथ के एक प्रकरण ग्रंथों पर जो असामान्य विचार मंथन हुआ उसके फलस्वरूप इतना विस्तृत टीका वाङमय— जिसे 'क्रोड ग्रन्थ' कहा जाता है रचा गया कि उसकी परिमाण में बराबरी कई विश्वकोष मिल कर भी नहीं कर सकते। दुर्दैव से और विशेषकर आधुनिक भारतीय नवदार्शनिको की संस्कृत भाषा विषयक तथा भारतीय तर्किक परिभाषा विषयक प्रगाढ़ अनभिज्ञता के फलस्वरूप इस अगाध वाङ्मय विस्तार का मूल्यांकन करना तो क्या उसका सामान्य परिचय प्राप्त करना भी कुछ इने गिने प्राचीन पद्धति अध्ययन किये व्यक्तियों को जोड़ अन्य लोगों के लिये बिलकुल असंभव बना हुआ है। जब कभी इस वाङमय की बात नवदार्शनिकों की गोष्ठी में चलती है तब उसपर 'Scholasticism' या 'शुष्क तार्किकता का आरोप लगाकर उपेक्षणीय ठहरा दिया जाता है। किन्तु जब इन दार्शनिकों को यह समझाया जाता। किन्तु जब इन दार्शनिकों को यह समझाया जाता है कि पश्चिम के आज के गण्य मान्य तर्कशास्त्रीय कार्नेप, क्वाइन, एडेल, टास्को वगैरह भी शुष्क तार्किक प्रक्रियाओं में ही अपने को पिछले कई वर्षों से उलझाये हुए है, तब उनके लिये भारतीय तर्कशास्त्री वाङमय मेरे किसी अन्य कल्पित दोष को थोपने के सिवा अपनी तद्विषयक उपेक्षा भावना के समर्थन का कोई अन्य आधार नहीं रह जाता।

इधर भारत में विश्वविद्यालयों की स्थापना जबसे हुई तब से पश्चिमी दर्शनों का नयी समालोचनात्मक पद्धति से अध्ययन प्रचलित हुआ। दर्शन के विश्वविद्यालयीय पाठ्य क्रमों में एकाध प्रश्न पत्र के लिये संस्कृत की किसी सामान्य दार्शनिक पुस्तक का सरसरी तौर पर किया गया अनुवाद मात्र पढ़ाया जाता है। जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत के ही दर्शन के विद्यार्थी और अध्यापक पश्चिम के दार्शनिकों से भली भाँति परिचित होते किन्तु प्राचीन भारतीय दार्शनिकों के तो क्या अर्वाचीन भारतीय दार्शनिकों के नाम तक नहीं जानते। उदाहरण के तौर पर आधुनिक तर्कशास्त्र की शिक्षा पाया हुआ और तर्कशास्त्र के अध्ययन में रुचि रखनेवाला कोई भारतीय नव दार्शनिक शायद ही यह जानता हो कि बीसवी सदी के प्रारम्भकाल में वाराणसी के राजकीय महाविद्यालय में एक असामान्य प्रतिभाशालीतार्किकविद्वान श्री वामाचरण भट्टाचार्य अध्यापन किया करते थे। उन्हीं के जैसे अनेक उद्भट तार्किक उनके किंचित पूर्व वाराणसी में ही विद्यमान थे। इन विद्वानों के नामों तक का अर्वाचीन दार्शनिकों को जब तक का अर्वाचीन दार्शनिकों को जब पता नही होता तो वे उनकी कृतियो को कहाँ से जाने और उनके महत्व को भी कैसे परखें? जो कुछ इन लोगों ने लिखा है वह सदा संस्कृत में और दर्शनों की पारिभाषिक शब्दावली में निबद्ध है जिसका आकलन जानकार गुरू की सहायता से ही किया जा सकता है।

इस तरह एक ओर आधुनिक दर्शन और उनकी अपनी अध्ययन और विचार पद्धति है और दूसरी ओर भारतीय दर्शन और उनकी अपनी स्वतन्त्र तथा परम्परागत अध्ययन विचार पद्धति है जो समानान्तर रूप से इस देश के विश्वविद्यालयों तथा अन्य विद्यालयों में प्रचलित हैं। इनके बीच किसी प्रकार का सामन्जस्य तो क्या सम्बन्ध तक अभी तक प्रस्थापित नहीं हुआ है और न इस दिशा में कोई सही कदम उठाया गया या जा रहा है। यदि भारतीय दर्शन और पश्चिमी दर्शन एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न होते और इनके विषयों में कोई साम्य न होता तो इन दोनो को एक दूसरे के पास लाने की विशेष आवश्यकता प्रतीत न होती। किन्तु वस्तु स्थिति ठीक इस बात के विपरीत है। न केवल इन दोनों के विषयो में समानता है इन विषयों के विकास क्रम में तथा उनसे सम्बद्ध अन्य अनेक बातों में भी इनका सादृश्य है कि भारतीय दर्शन के विद्यार्थी पश्चिमी दर्शन के अध्ययन से और पश्चिमी दर्शन के विद्यार्थी भारतीय दर्शनों के अध्ययन से लाभान्वित हुए बिना नहीं रहेंगे। लेकिन इन दोनों में संबंध प्रस्थापित हो तो कैसे यह समस्या यहाँ उपस्थित होती है। इसका व्यवहार्य समाधान ढूँढ निकालना आसान बात नही है। पिछले कुछ वर्षों में भारतीय तथा पश्चिमी दर्शन की अध्ययन तथा विचार पद्धतियों का समन्वय चाहने वाले कुछ व्यक्तियों ने एतदर्थ कुछ प्रयत्न किये थे किन्तु वे विशेष सफल हुए प्रतीत नहीं होते। इनकी असफलता का कारण जानने तथा इस दिशा में सही कदम उठाने के लिये उक्त प्रयत्नों के बारे में यहां कुछ कहना आवश्यक है।

कुछ वर्ष पूर्व वाराणसी के राजकीय संस्कृत महाविद्यालय में भारतीत दर्शनों के पाठ्यक्रमों में पश्चिमी दर्शनों के ग्रन्थों का विस्तृत रूप से समावेश कर एक सम्मिश्र पाठ्यक्रम इस हेतु से तैयार किया गया कि इसके अध्येता शास्त्रीय और

पाश्चमी दानों दर्शनो के जानकार बने और दोनों की अपनी अपनी विचार पद्धतियों से परिचित हों। इस प्रयत्न का लक्ष्य तो बहुत अच्छा था किन्तु वह सफल होना बिल्कुल असम्भव बात थी। आवश्यकता थी ऐसे समन्वय की जिसमे भारतीय तथा पश्चिमी दर्शनों के अध्ययन पद्धतियों के सभी गुण समाविष्ट हो और उनके दोष न आ पायें। लेकिन प्रत्यक्ष मे घटित हुआ एक चोंचों का मुरब्बा जिसमें दोनों चीजे अलग अलग अपना अस्तित्व बनायें रहीं। इस प्रकार के सम्मिश्र पाठ् क्रम से लाभान्वित होना तो दूर रहा पहले से कहीं अधिक अध्ययन सामग्री को आत्मसात करने का अतिरिक्त परिश्रम ही विद्यार्थियो के पल्ले पड़ा। लगभग ऐसी ही बात विश्वविद्यालयों व पाश्चात्य दर्शन के विद्यार्थियों को संस्कृत की भारतीय दर्शन की पुस्तके पढ़ाने के परिणाम के बारे में कही जा सकती है। आधुनिक दार्शनिक पदावली से ही परिचय रखने वाले विद्यार्थी जब भारत की प्राचीन दार्शनिक परिभाषाओं में निबद्ध ग्रथो को पढते है तब या तो उन ग्रन्थों को वे बिल्कुल ही नही समझ पाते या उनके विचारों को वे बिल्कुल दकियानूसी समझ कर उनकी ओर से उदासीन हो जाते है। उदाहरणत: कांट के दर्शन के साथ ब्रह्मसूत्र भाष्य दर्शन के विद्यार्थी को पढ़ाया जाय तो भाष्य व प्रत्यक अधिकरण में उपनिषद्वाक्यो के बारे मे जो विचार आता है उसकी उपयुक्तता उस विद्यार्थी की समझ मे शायद ही आ पाये।

भारतीय दर्शनो के कुछ अध्येताओ ने संस्कृत में लिखे गये दार्शनिक ग्रन्थों का सारांश अंग्रेजी के माध्यम से दर्शन का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियो तथा विद्वानो के लिये अपने ग्रथों द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। जैसे प्रो० दास गुप्ता ने अपने भारतीय दर्शन के इतिहास के १ से ५ तक के खण्डो में संस्कृत दार्शनिक ग्रन्थो का सारांश प्रस्तुत किया हुआ है। इन्हें पढ़ने वाले किसी भी दर्शन के विद्यार्थी की भारतीय दर्शनो के सम्बन्ध मे यदि कोई धारणा बनेगी तो वह यही कि इनमें पढने समझने योग्य बातें बहुत कम है। उदाहरणत: इस इतिहास के दूसरे खण्ड मे प्रो० दास गुप्ता ने दो एक सौ पृष्ठों में संस्कृति के कई विशालकाय वेदान्त के ग्रंथों का सारांश प्रस्तुत कर दिया है। इन ग्रथों की तो बात ऐसी है कि इनकी एक एक पंक्ति और उसके एक एक शब्द के सही अर्थ को समझने के लिए भारतीय दार्शनिक गम्भीर चर्चा किया करते है। ऐसे ग्रन्थो के सैकड़ों अत्यन्त विचार परिप्लुत ऐसे पृष्ठों का दो दो चार पृष्ठों मे जो सारांश उपस्थित किया जायगा उसमें कोई भी लेखक कितनी महत्वपूर्ण बातें भर सकता है? दास गुप्ता जी ने मधुसूदन सरस्वती के अद्वैत सिद्धि नामक अद्वैत वेदान्त के विशालकाय आकार ग्रन्थ के लिये केवल दो चार पृष्ठ दिये है। इतने पृष्ठों मे अद्वैत सिद्धि के एक विषय की भी चर्चा पूर्ण नहीं हो सकती। यदि ऐसे सारांशों को पढ़कर कोई भारतीय दर्शन के प्रति उपेक्षा भाव महसूस करने लगे तो उसे दोषी समझना उचित नहीं होगा।

इन सभी बातों को विचार करते हुए इस निष्कर्ष पर अनिवार्य रूप से पहुँचना पडता है कि भारतीय दर्शनों के पाठ्यक्रमों में पश्चिमी दर्शनो के ग्रन्थों का समावेश कर जैसे इन दोनों दर्शनों का समन्वय असम्भव है, वैसे ही अंग्रेजी में संस्कृत के ग्रन्थों का

संक्षेप प्रस्तुत कर भी कोई लाभ या समन्वय होने वाला नही है । ऐसा समन्वय नाम मात्र का समन्वय होगा जो दोनों दर्शनो के अध्येताओं को भी विशेष लाभप्रद नही हो सकता ।

अत: यदि इन दोनों का उचित और स्थायी स्वरूप का समन्वय निर्माण करना हो तो प्रथम इनकी विशेषताओं को अलग अलग स्पष्टता के साथ जान लेना आवश्यक है । साथ ही भारतीय और पश्चिमी दर्शनों के सम्बन्ध में जानबूझ कर या अनजाने कई तरह की गलतफहमियां तरह तरह के लोगों के द्वारा फैलायी गयी है उनका निराकरण भी असीम आवश्यक है । पहले इसी के सम्बन्ध में यहां कुछ विचार कर लें ।

भारत में प्राचीन काल मे भी ऐसे लोग हुआ करते थे जिनके लिये अंग्रेजी में 'Jack of all trades' ('हरफन मौला' ऐसे लोगों को कह सकते हैं) इस सार्थ अभिधान का प्रयोग हुआ करता है । इनसी विद्वता का 'पल्लवग्राहि पाँडित्य' इस उपहास गर्भ विशेषण से वर्णन किया जाता था ये लोग हरेक दर्शन की कुछ मोटी मोटी बातें जानकर अनभिज्ञ लोगों के बीच में अपने प्रगाढ़ पाँडित्य का प्रदर्शन किया करते और उन पर अपनी विद्वत्ता की धाक जमाने का प्रयत्न करते । एक हास्य पूर्ण संस्कृत सुभाषित में इन लोगोंके पांडित्य का इस प्रकार वर्णन उपलब्ध है :—

> गुरोगिर: पञ्चादिनान्य धीत्य
> वेदान्त शास्त्राणि दिनमयं च ।
> अमी समाधानकुतकवादा:
> समागत: कुक्कुट घट मिश्र: ।

पाँच दिन में गुरुमन और तीन दिन में सारा वेदान्त दर्शन पढ़कर तथा कुतर्क पद्धतियों को आत्मसात् कर ये 'कुक्कुट मिश्रपाद' पधार रहे हैं । इस तरह उपहास करने के पीछे यही धारणा है कि प्रत्येक दर्शन का अध्ययन एक सम्पूर्ण जीवन काल में भी यथावत् पूर्ण नहीं हो सकता अनेक दर्शनों को एक ही व्यक्ति के द्वारा थोड़े ही समय मे आत्मसात् करने की बात तो बिल्कुल असम्भव है किन्तु आज भारत मे ऐसे सर्वज्ञ तुल्य तथा काबिल दार्शनिकों की संख्या बढती जा रही है जो संस्कृत भाषा या दार्शनिक परिभाषा आदि से नितान्त अनभिज्ञ होते हुए भी भारतीय दर्शन के इतिहास की एकाध पुस्तकों को उलट पुलट कर अपने को इनका अधिकारी ज्ञाता समझने लगते है । पारम्परिक अध्ययन पद्धति के विषय में अतीव विपर्य सा धारणायें प्रस्तुत होने की जड़ में अधिक तर इन 'अधिकारियों' की उक्तियाँ तथा लेख ही हुआ करते हैं । आज भी मूल ग्रन्थों में से भारतीय दर्शनों का अध्ययन करना संस्कृत से अपरिचित पश्चिमी दार्शनिकों के लिये बिल्कुल असम्भव होने से इन्हें उक्त 'अधिकारियो की' बातों पर ही विश्वास रखकर चलना पड़ता है । संतोष की बात है कि इधर कुछ समय से अमेरिका से दर्शन के कुछ अध्यता लोग भारत में आ कर मूल ग्रंथों में से ही दर्शनों का अध्ययन जानकार व्यक्तियों को सान्निध्य में करने में विशेष रुचि दिखाने लगे है।

अत: यदि पारम्परिक अध्ययन पद्धति को नष्ट न होने देना हो तो दर्शन के क्षेत्र में प्रचलित उक्त दांभिक दुष्प्रवृतियों को रोकने का प्रयत्न विद्वानों के द्वारा किया जाना

चाहिये। ऐसी ही एक दुष्प्रवृत्ति पारम्परिक अध्ययन पद्धति के पुरस्कर्ताओं में भी दिखाई पड़ती है जिसका निवारण भी नितान्त आवश्यक है। परम्परागत दर्शनों के अध्ययन के प्रति विद्वत्समाज में जो औदासीन्य व्याप्त है उसकी बहुत कुछ प्रतिक्रिया के रूप मे दर्शन के पंडितो में यह धारणा दृढ़मूल हो गयी है कि पश्चिमी दर्शन और उसकी चिन्तन पद्धति निरर्थक शब्दजाल मात्र है। इस धारणा से अत्यधिक अभिभूत होने के कारण ही पंडित लोग पश्चिमी दर्शनों का अध्ययन तो क्या उनसे थोड़ा बहुत परिचय भी प्राप्त करना आवश्यक नहीं समझते। इस तरह गलत फहमियाँ दोनों ओर हैं किन्तु पंडितों की गलतफहमी भी बहुत कुछ सकारण है जबकि नव दार्शनिकों की गलतफहमी केवल अहंकार मूलक अज्ञान का परिणाम है।

असलियत यह है कि प्राचीन और अर्वाचीन दोनो पद्धतियों की कुछ अच्छाईयां व बुराइयां है जिनको पहचान कर दोनों की अच्छाइयों का समन्वय किया जाना सद्य: स्थिति की मांग है। पारम्परिक पद्धति की निम्न निर्दिष्ट विशेषतायें है जिनका संरक्षण दर्शन की दार्शनिकता बचाये रखने के लिये नितान्त आवश्यक है:—

१ दार्शनिक विचारों को अनावश्यक शब्दाडंबर न करते हुये नपे तुले और यथा सम्भव पारिभाषिक शब्दों मे तथा निगमनात्मक पद्धति से प्रस्तुत करना। विचारों के क्षेत्र में शब्द प्रयोगों के विषय में सावधानी बरतने में भारतीय दार्शनिक अद्वितीय हैं। वैयाकरणों के बारे में तो यह युक्ति प्रसिद्ध ही है कि 'अर्धमात्राधवान् पुत्रोत्सव मन्यन्ते वैयाकरणा:।' किन्तु अन्य दार्शनिक भी परिमित सतुलित एवं संक्षिप्त और अर्थवादी शब्द प्रयोगों को असाधारण महत्व देते हैं। यदि शब्द प्रयोगों में किसी प्रकार की अस्पष्टता रह जाय तो न तो उसके द्वारा सही सही ढग से विचारों को प्रस्तुत किया जा सकेगा न विचारोंका खण्डन मण्डन निश्चित रूप से ही किया जा सकेगा। महान पश्चिमी दार्शनिक हेगल ने स्वयं और अन्य विचारकों ने हेगल के दर्शन पर हजारों पृष्ठ लिख डाले हैं फिर भी उसके मूलभूत सिद्धान्तों को स्पष्ट शब्दों में उपस्थित करना एक अच्छे दार्शनिक के लिये आज भी आसान नही है। इसका कारण हेगल की सही ढंग से शब्द प्रयोग करने की असमर्थता ही है। न केवल विचारों की स्पष्टता के लिये ही आकलन की सुविधा के लिये भी नपे तुले और थोड़े शब्दों का प्रयोग उपयुक्त होता है। भारतीय दार्शनिक इस विषय में कितने जागरूक होते हैं इस बात के दो सामान्य उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं। (ऐसे उदाहरण दार्शनिक ग्रन्थों में एक एक पंक्तियों में उद्धृत किये जा सकते हैं।) बल्लभाचार्य ने अपनी न्यायटीकावली में 'तेज' पदार्थ का निरूपण करते हुए यह लिखा है 'औषधिकं हि चन्द्रमसि शैत्यम्। न्याय दर्शन के अनुसार सूर्य, चन्द्र ग्रह ने जो रूप हैं किन्तु चन्द्र मण्डल में तेज का गुण उष्ण स्पर्श उपलब्ध नहीं होता इस बात का स्पष्टीकरण करने के लिये ऊपर की पंक्तियों में कहा गया है कि चन्द्रमा में शैत्य नैसर्गिक न हो औपाधिक है। यहाँ इस सम्भाव्य प्रश्न को कि चन्द्रमा में तेज है या नहीं अलग रखकर (क्योंकि यह न्याय दर्शन की मौलिक भूमिका से ही सम्बद्ध है और इसका विचार दूसरे संदर्भ में किया गया है) एक दूसरी सम्भाव्य आशंका का विचार करना प्रस्तुत होगा। वह आशंका यह है कि चन्द्र मंडल का कोई स्पर्श

तो कर नहीं सकता। तब चन्द्र के शैत्य का प्रत्यक्ष अनुभव तो असम्भव है उसका अनुमान भले ही किया जाय। लेकिन ग्रन्थकार ने न अनुमान की बात कही है न चन्द्र किरणों के ही शीत होने की बात स्पष्ट की है। इस आशय को ध्यान में रखकर उक्त ग्रंथ के टीकाकार महान तार्किक रघुनाथ शिरोमणि टीका में कितना संक्षिप्त किन्तु कितना कितना अर्थ पूर्ण स्पष्टीकरण देते हैं यहां यह देखने लायक है। टीका में उनका वाक्य यह हैं 'चाद्रमपि, चन्द्रमहमीत्यर्थः। इसका अर्थ यह है कि चन्द्रमा मे इस कथन का मतलब चन्द्रमा के किरणों में ऐमा लेना चाहिए।' चन्द्रमपि इस पद मे केवल ह कार को जानकर सारा स्पष्टीकरण टीकाकार ने उपस्थित कर दिया है। इस स्पष्टीकरण मे उक्त आशंका और उसका प्रत्युत्तर दोनों समाविष्ट हैं।

दूसरा उदाहरण 'रघुनाथ शिरोमणी की ही तत्व चिन्तामणि नामक ग्रन्थ पर लिखी हुई दीधिती नामक टीका मे से उद्धृत है। मूल ग्रंथ में ' प्रत्यक्षोपजीवकात्वात्... ......अनुमानं निरूप्यते' ऐसा वाक्य है। इसका संक्षेप में अर्थ यह है कि प्रत्यक्ष पर निर्भर होने से प्रत्यक्ष के अननाट अनुमान का विवेचन किया जा रहा है। यहां मूल के 'प्रत्यक्षोपजीवकत्वात्' इस पद मे 'प्रत्यक्ष' और 'उपजीवकत्वात्' ये दो शब्द अंतर्भूत है और वे समस्त होने के कारण 'प्रत्यक्ष' का 'प्रत्यक्षो' यह समास के अंर्तगत रूप हो गया है। इस पद की व्याख्या करते समय प्रतीक के रूप में रघुनाथ शिरोमणि जब इस पद को उद्धृत करते है तब वे लिखते है ....प्रत्यक्ष वित्यादि।' यदि शब्द विस्तर वे क्षम्य समझते तो 'प्रत्यक्षोपजीवकत्वा दित्यादि' इस तरह मूल को उद्धृत करते। किन्तु शब्द गौरव के और मूल ग्रथ के शब्दो के विपर्यास के डर से 'प्रत्यक्ष-वित्यादि' ऐसा टीकाकार ने मूल पंक्ति को उद्धृत किया है।

ये उदाहरण का प्रतिनिधिक स्वरूप है। इन पर से भारतीय दार्शनिक शब्द प्रयोगों के सम्बन्ध मे कैसी आत्यांतिक सावधानी बरतने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। हीकारण है कि दार्शनिक चर्चा मे पंडित लोग 'पदकृत्य' अर्थात् एक एक पद के प्रयोग (या वाक्य लक्षण आदि में प्रवेश) की सूक्ष्म छानबीन किया करते है।

पारम्परिक विचार पद्धति की दूसरी विशेषता यह है कि अधिकारी विद्वानों के अतिरिक्त सामान्य शिक्षित समाज तक दार्शनिक विचारों को पहुँचाने के लिये विभिन्न उदाहरणों, प्रतिमानों, सुन्दर भाषा शैली, अलंकार आदि का प्रयोग कदापि नही किया जाता। शुद्ध तर्कों के आश्रय से ही विचारों का खंडन या मंडन किया जाता है। किसी मत विशेष के प्रचार के साधन के रूप में दार्शनिक ग्रन्थों की रचना करना दर्शन के मूल उद्देश्य के ही प्रतिकूल माना जाता है। आज यह सब लोग मानते है कि बर्गसॉ, शिलर क्रोचे आदि के दर्शन उनके तर्कों मे अधिक उनकी प्रतिपादन शैली के प्रभावकारी होने से ही दार्शनिक जगत् में अपना स्थान बनाये हुए हैं। साहित्य में यह बातें 'गुण' माने जाते हैं किन्तु दर्शन में इनकी गणना विग्रह—स्थानों (दूषण के आधार) में ही की जानी चाहिये ऐसा भारतीय दार्शनिकों का मन्तव्य है।

तीसरी विशेषता तो पारम्परिक अध्ययन पद्धति मे इधर कुछ सदियों से दृढ़मूल हो गयी है वह है विषय विशेष पाण्डित्य प्राप्ति की (Over specialasatic n) और झुकाव। गूढ़ (Abstract) दार्शनिक चिन्तन म हमेशा उलझे रहने के कारण और विशेष कर बारहवीं सदी के बाद जिस नवीन तर्कशास्त्र का और नवद्वीप में विकास हुआ उसका प्रयोग सभी दर्शनों में धड़ल्ले से किया जाने के कारण सर्वकष पांडित्य अधिगत करने के स्थान में दर्शन के एक एक विषय या प्रश्न के सम्बन्ध में ही गहन ज्ञान प्राप्त करना पडित लोग अधिक महत्वपूर्ण मानने लगे। इसके कारण पहले जमाने में जहां छ: दर्शनों के विद्वान (इनके लिये ही 'भट्टाचार्य' यह समानार्थक विशेषण प्रयुक्त होता था) चार दर्शनों के विद्वान (इनको 'भट्ट भट्ट' कहा जाता था) तीन दर्शनों के ज्ञाता (इन्हे 'भट्ट' कहते थे।) एक एक दर्शन के ज्ञाता (इनकी 'उपाध्याय' संज्ञा थी) हुआ करते थे वहां प्राचीन न्याय के पंडित, नव्य न्याय के पडित, अनुमान एव उनके अध्येता, व्याप्तिवाद के जानकार ऐसे विषय विशेषों के तज्ज्ञ विद्वान लोग तैयार होने लगे। आज ज्ञान में स्पेशलिस्ट लोगों का ही बोलबाला है। भारत में पिछली कुछ सदियों से दर्शन के क्षेत्र में विद्वानो का झुकाव विषय विशेष पांडित्य की प्राप्ति की ओर जो हुआ वह इस बात का प्रमाण है कि आज आक्सफोर्ड जसे विश्व-विद्यालयों म जितने लगन के साथ दर्शनों का अध्ययन किया जाता है वैसी ही लगन के साथ भारत में भी इस समय दार्शनिक चिन्तन मनन किया जा रहा है।

किन्तु दर्शन के क्षेत्र मे इस प्रवृत्ति को हद से बाहर जाने देना दर्शन के मूल उद्देश्य का ही विनाशक सिद्ध हो सकता है। शायद पंडितों ने इस प्रवृत्ति को हद से ज्यादा पनपने दिया जिसके फलस्वरूप वे मानव जीवन की महत्वपूर्ण समस्याओं की ओर दृष्टिपात करना भी अनावश्यक मान उनका हल ढूंढ निकालने के कार्य मे बिल्कुल उदासीन रहे। यही कारण है कि बहुजन समाज उन्हे 'घट पट' की बेकार रट लगाने मे समय गवाने वाले मानकर उनके प्रति कुछ तिरस्कार की भावना अपने मन मे बनाये हुए है।

जो विशेषतायें भारतीय दर्शनों मे ऊपर बतलायी गयी है वे पश्चिमी दर्शनों में (कुछ अपवाद छोड दिये जायें तो) कम ही दिखायी पड़ती है। आधुनिक काल में प्रतीकाधारित तर्कशास्त्र (Symbolic logic) के विकास और उसकी पद्धतियों के व्यापक प्रयोग के फलस्वरूप ऊपर बतलायी गयी विशेषताओं को अर्वाचीन पाश्चमी विचारक बहुत अधिक महत्व देने लगे हैं। अतः जिन बातों को भारत के नवीन दार्शनिक (Scholasticism) इस अस्पष्टार्थक शब्द के प्रयोग के द्वारा दूषणाई सिद्ध करने के अभ्यस्त हो गये थे वे ही बातें अब दर्शन के क्षेत्र में मान्यता पाने लगी है। शब्दों का बहुत ही नपे तुले ढंग से प्रयोग किया जाना चाहिये, विचारों को तर्कशास्त्र की निगमनात्मक तथा प्रतीकात्मक पद्धति से ही उपस्थित करना चाहिये, और दार्शनिक को सर्वज्ञता की अभिलाषा करने के बजाय दर्शन के विषयों के सम्बन्ध मे आंशिक पांडित्य प्राप्ति के लिये ही प्रयत्नशील होना चाहिये, ये सारी बातें अब पाश्चमी दार्शनिको की दृष्टि में प्रतिष्ठा प्राप्त करने लगी है।

तथापि पश्चिमी दर्शन की एक निजी विशेषता की ओर इस सन्दर्भ में ध्यान देना नितान्त आवश्यक है। वह विशेषता 'तुलनात्मक समीक्षण या समालोचना पद्धति' है जिसको भारत ने कई सदियों से बिल्कुल भुला सा दिया है। विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों की एक दूसरे के साथ तुलना कर उनके मूलाधारों और मूलभूत प्रेरणाओं को पहचानने का तथा उनके गुण दोषों को परखने का प्रयत्न करना, यह इस पद्धति का कार्य है। इस प्रकार के अध्ययन से दार्शनिक दृष्टि का परिष्कार तथा विस्तार होता है और दर्शन जीवन की अन्यान्य समस्याओं को सुलझाने में सहायक हो सकता है। बारहवी सदी के बाद के भारतीय चिन्तन में इस दृष्टि का बहुधा अभाव ही दिखलाई पड़ता है जिसके जिसके कारण दैनदिन जीवन से उसका सम्बन्ध ही छूट सा गया है। इस सकुचित दार्शनिक चिन्तन के लिये ही रामानुजाचार्य ने 'स्वगोष्ठी निष्ठः प्रलापः' ऐसे अर्थपूर्ण विशेषण का प्रयोग किया है।

दार्शनिक प्रवृत्तियों के विकास के तथा उनके समझने के दो ही तरीके होते है। एक खंडन मंडन के रूप में विभिन्न दार्शनिक सिद्धन्तों का स्वय समर्थन या विरोध कर देखने का और दूसरा इन सिद्धान्तों की तटस्थ दृष्टि से परस्पर तुलना कर देखने का। भारत मे मुख्यतया पहले तरीके को अपनाया गया है जबकि पश्चिम में दूसरे तरीके पर ही अधिक जोर दिया गया है। दोनो तरीकों को अपना कर दार्शनिक चिन्तन को गम्भीर भारतीय परम्परा के अनुसार और विस्तृत पश्चिमी परम्परा के अनुसार बनाने की आज जरूरत है। यह समन्वय तभी घटित हो सकता है जब प्रथम भारतीय पद्धति से दर्शनों का अध्ययन कराये गये विद्यार्थी पश्चिम की तुलनात्मक विचार पद्धति से बाद में परिचित कराये जायें। प्रारम्भ में ही विद्यार्थियों को तुलना के लिए प्रवृत करने से पल्लवग्राहि पांडित्य प्राप्ति की ओर ही उनका झुकाव होगा और दर्शन की कुछ मोटी बातों को जानकर ही वे अपने को स्वतन्त्र दार्शनिक या विचारक समझने की गलती कर बैठेंगे। केवल दर्शन के पाठ्यक्रमों में परिवर्तन कर या पुराने संस्कृत ग्रंथों का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत कर प्राचीन अर्वाचीन दर्शनों तथा उनकी विचार पद्धतियों का समन्वय नहीं किया जा सकता।

सांख्य दर्शन मीमांसा

वाक्य की सार्थकता के अंग

शान्ति प्रकाश आत्रेय

वाक्य पदों के समूह को कहते हैं। पदों के समूह के द्वारा सार्थक वाक्य का बनना कुछ बातों की अपेक्षा रखता है। वाक्य की सार्थकता के लिये (१) आकांक्षा (२) योग्यता (३) सन्निधि को सबने माना है। गंगेश ने (४) तात्पर्य को भी सार्थकता मे आवश्यक अंग मानकर इन तीनो में जोड़ दिया है। इस प्रकार से वाक्य की सार्थकता में इन उपर्युक्त चारों अंगों की आवश्यकता है। हर वाक्य आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि, तात्पर्य की अपेक्षा रखता है।

आकांक्षा

प्रत्येक वाक्य में उद्देश्य और विधेय दोनों ही होने चाहिये, क्योंकि एक पद दूसरे पद की अपेक्षा रखता है। अर्थात् उद्देश्य, विधेय की अपेक्षा रखता है। बिना उद्देश्य विधेय के परस्पर अन्वय हुए वाक्य निरर्थक रहता है। केवल शब्दों के समूह से हमें सार्थक वाक्य प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि वे शब्द अलग अलग सार्थक होते हुए भी मिलकर कोई अर्थ प्रदान नहीं करते। जैसे गाय, घोड़ा, जिन्न, खुदा, भूत, प्रेम, चलता, मरता, जूता, उल्लू, पहाड़, हाथी आदि आदि स्वयं अलग अलग सार्थक होते हुए भी कोई अर्थ प्रदान नहीं करते। अत: पदों का समूह ऐसा होना चाहिए जिसमें उद्देश्य के साथ-साथ विधेय भी हो। जैसे—राम लिखता है। यदि हम केवल राम ही कहकर छोड़ दें तो कोई भी वाक्यार्थ नहीं निकलता, क्योंकि राम पद को किसी अन्य की आकांक्षा बनी रहती है, जो कि इसके बारे में कहा जाता है। प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि राम क्या? तो जब तक हम राम के साथ "लिखता है" नहीं जोड़ते तब तक अर्थ नहीं प्राप्त होता, इसी प्रकार "लिखता है" शब्द से भी हमें कोई अर्थ तब तक प्राप्त नहीं होता, जब तक इस विधेय में उद्देश्य राम नही जोड़ते। अत: "राम लिखता है" यह वाक्य सार्थक हुआ, क्योंकि उद्देश्य विधेय का परस्पर अन्वय होता है।

तर्कसंग्रह में आकांक्षा की परिभाषा निम्नलिखित दी है:—

"पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकांक्षा" अर्थात् जिस दूसरे शब्द के उच्चारण हुये बिना जब किसी अन्य शब्द का अभिप्राय समझ में न आवे त इस प्रकार के उन दोनों पदों का सम्बन्ध 'आकांक्षा कहा जाता है।

योग्यता

पदों में बिना सामंजस्य हुये हमको वाक्य का अर्थ प्राप्त नहीं होता। जिन शब्दों से वाक्य बनता है उन शब्दों का आपस में सामंजस्य अति आवश्यक है। हमारे वाक्य के अर्थ को वास्तविकता के विरुद्ध नही होना चाहिए। निज शब्दों का सम्बन्ध ठहर नहीं सकता, उन शब्दों को वाक्य में नहीं रखना चाहिए। तर्कसंग्रह में योग्यता की यह परिभाषा दी गई है:—

"अर्थाबाधो योग्यता"

अर्थात् अर्थ का बाध न होना योग्यता है। इसका अभिप्राय यही है कि वाक्य के बोध के लिये यह आवश्यक है, कि उद्देश्य और विधेय दोनों में परस्पर वि होना चाहिये। अर्थात् उन्हें एक दूसरे से बाधित नहीं होना चाहिए। जिन दो शब्दों के मिलने पर अर्थ की संगति ठीक बैठ जाये उनमें परस्पर योग्यता समझनी चाहिए। इसके विपरीत अवस्था में वाक्य के अर्थ का यथार्थ बोध नहीं होता। उद्देश्य और विधेय दोनों के रहते हुए भी, बिना योग्यता के, वाक्य सार्थक नहीं होता। जैसे:—"पहाड़ों से छत को छिड़ को", "आग से प्यास बुझाओ" इत्यादि बहुत से ऐसे वाक्य हैं जो कि विरोधी होने के कारण वाक्य का अर्थ प्रदान नहीं करते। पहाड़ों से छत का छिड़काव नहीं होता, वह तो जल के द्वारा ही हो सकता है। इसी प्रकारसे अग्नि से प्यास नहीं बुझ सकती। प्यास तो जल से ही बुझती है। इस प्रकार से विरोधी पदों से निर्मित वाक्य आकांक्षा के होते हुए भी सार्थक नही हो सकता।

सन्निधि या आसत्ति

अगर वाक्य के पदों में योग्यता भी हो और आकांक्षा भी हो, किन्तु सामीप्य न हो तो वाक्य सार्थक नहीं होता। जब तक प्रत्येक शब्द एक दूसरे के निकट नहीं होगा तब तक सार्थक वाक्य नहीं बन सकता इसलिये वाक्य के सार्थक होने में पदों की निकटवर्तिता अत्यन्तावश्यक है। इस निकटवर्तिता को सन्निधि या आसत्ति कहा गया है। तर्क संग्रह में सन्निधि की परिभाषा इस प्रकार दी गई है:—

पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधि:

अर्थात् पद के बिना विलम्ब के उच्चारण को सन्निधि कहते हैं। बिना व्यवधान के उच्चारित शब्द ही सार्थक वाक्य का निर्माण कर सकते हैं। जैसे—

नरसिंह.........रोटी.........तथा.........जल...........खेत............ पर...............ले............जाओ।

इनमें से प्रत्येक शब्द यदि एक एक घण्टे पश्चात् उच्चारित किया जाय वा एक शब्द प्रात: एक दोपहर एक सायंकाल उच्चारित किया जाय तो उन शब्दों से कोई

[illegible] आता है कि यदि एक वाक्य के पदों को दूसरे किसे वाक्य के पदों [illegible] जिससे कि उनका कोई सम्बन्ध न बैठ पावे, [illegible] नहीं होता। जैसे राम घोडा चरता है। इस वाक्य मे [illegible] क्योंकि सम्बन्धित पद एक साथ नहीं है। उपर्युक्त [illegible] आकांक्षा और योग्यता होते हुये भी आसक्ति के बिना [illegible]।

तात्पर्य

किसी एक विशिष्ट परिस्थिति मे वक्ता के अभिप्राय का ज्ञान तात्पर्य ज्ञान कहलाता है, जिसको वाक्य के अर्थ को समझने के लिए आवश्यक समझा जाता है। बिना वक्ता के अभिप्राय को समझे वाक्यों का अर्थ बहुधा गलत लगा लिया जाता है, क्योकि एक ही शब्द के अनेक अर्थ हो सकते है, अर्थात् एक ही शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों मे किया जा सकता है। जैसे पेपर लाओ! ऐसी आज्ञा मे जब तक मालिक का तात्पर्य नौकर न समझ पाये तो उसके लिए बहुत कठिन हो जाता है कि वह कागज ले जाय या अखबार ले आवे। इसलिये यहां पर अर्थ प्रकरणानुसार लगाया जाता है। उसी के आधार पर वक्ता के अभिप्राय को समझा जाता है। इसमे प्रसंग का ध्यान अर्थ लगाने मे अवश्य रखना चाहिये। जैसे भोजन के समय किसी ने अगर यह कहा कि सैन्धव लाओ तो उसका अर्थ यहां पर प्रसंग देखकर लगाना चाहिए, क्योकि सैन्धव के दो अर्थ होते है (१) नमक (२) घोडा। भोजन करते समय घोड़ा कोई नही मँगवायेगा इसलिये यहाँ 'सैन्धव पद का अर्थ घोडा न होकर नमक जानना चाहिए। इस प्रकार से अर्थ को समझना तात्पर्य ज्ञान कहलाता है।

वक्ता की इच्छा को तात्पर्य कहा है, अर्थात् वक्ता पुरुष की कथन विशेष की इच्छा ही का नाम तात्पर्य है। इस तात्पर्य ज्ञान को भी शाब्द बोध मे कारण माना है। परन्तु यह तात्पर्य ज्ञान भी सर्वत्र शाब्द बोध मे कारण नही है। अपितु तात्पर्य ज्ञान को वहां के लिये कारण माना है जहां एक ही पद के अनेक अर्थ होते है।

सैन्धवमानय यहाँ पर यात्रा के प्रकरण के अवसर पर घोड़े रूप अर्थ का बोध होता हैं, और भोजन के प्रकरण के अवसर पर नमक का बोध होता हैं क्योकि वक्ता के तात्पर्य का निश्चय प्रकरण के आधार पर ही सर्वत्र हुआ करता है। जैसे हरि शब्द बन्दर रूप अर्थ का भी वाचक है और इन्द्र तथा विष्णु आदि अर्थों का भी, परन्तु सामने बन्दर को देखने के बाद जो हरि शब्द का प्रयोग होता है यह बड़ा बलवान् हरि है अथवा यह अत्यन्त ही सुन्दर हरि है इत्यादि रूप मे उससे हरि शब्द से बन्दर का बोध होता है न कि उस समय इन्द्र या विष्णु रूप अर्थ का। विष्णु भगवान् की पूजा अथवा उसकी मूर्ति के निर्माण आदि के समय पर प्रयुक्त हुये हरि शब्द से विष्णु रूप अर्थ का ही बोध होता है न कि बन्दर का। क्योकि उस समय विष्णु भगवान् ही का प्रकरण अवसर प्राप्त है। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये।

इन उपर्युक्त बातो की पूर्ति होते हुये भी एक बात ध्यान मे रखने के योग्य है कि यह सब उपर्युक्त बातें केवल वाक्य को सार्थक ही बनाती है उसको आप्त नही बना

सकती है। आप्त वचन का अर्थ युक्त श्रुति है। आप्त तो मुक्त को कहते हैं तथा वाक्य से उत्पन्न ज्ञान को श्रुति कहते हैं। जिन विषयों का यथार्थ ज्ञान प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा नहीं प्राप्त होता उनका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए शब्द प्रमाण का आश्रय लेना पड़ता है। चित्त का शब्द अर्थ विषयाकार होना ही शब्द प्रमाण है। इसे सांख्य ने स्वतन्त्र प्रमाण माना है। साँख्य केवल वैदिक वाक्यों को ही प्रमाण मानता है क्योंकि वेद अपौरुषेय होने के नाते वे मानव कृत त्रुटियो से रहित है। वेद वाक्यो में त्रिकाल मे भी भ्रम प्रमाद आदि दोष नहीं हो सकते हैं। वेद मूलक सब शास्त्र (गीता, उपनिषद् आदि) भी वेदों के समान ही स्वयं प्रमाण हैं, तथा इनके द्वारा प्रदान किया हुआ ज्ञान स्वतः प्रमाण है। महर्षि कपिल के वाक्य भी पूर्व जन्म के वेदाध्ययन की स्मृति के कारण प्रामाणिक है। द्रष्टा ऋषियो की अपरोक्ष अनुभूतियों पर आधारित वेद वाक्य सार्वदेशिक और सार्वकालिक सत्य है। बौद्ध, जैन, चार्वाक आदि दार्शनिको के वचन वेद के ऊपर आधारित न होने के कारण, परस्पर मे विरोधी, प्रमाण विरुद्ध तथा बहुत कम लोगों को मान्य होने से शब्द प्रमाण की कोटि में नही आते।

अतिरिक्त प्रमाणों का तीन ही प्रमाणों में अन्तर्भाव

अन्य दार्शनिको तथा शास्त्रवेत्ताओं ने इन तीन प्रमाणो से अतिरिक्त, अन्य उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि आदि प्रमाणो को भी यथार्थ ज्ञान के स्वतन्त्र साधन माना है।

उपमान

नैयायिको ने साँख्य द्वारा स्वीकृत तीन प्रमाणों के अतिरिक्त चतुर्थ प्रमाण को भी स्वीकार किया है। साँख्य योग के अनुसार इसका अन्तर्भाव, सांख्याभिमत तीनों प्रमाणों के अन्तर्गत ही होता है। नैयायिकों का आशय यह है कि जो नागरिक पुरुष गवय (नील गाय) को बिलकुल नही जानता, लेकिन जानना चाहता है और जानने की इच्छा से जंगल में जाकर किसी जंगल में रहने वाले पुरुष से उसके विषय में पूछता है, जिसको 'गो सदृशो: गवयो भवति' अर्थात् 'गौ के समान गवय होता है' उत्तर प्राप्त होता है। इसके बाद वह बन में पहुंचने पर गवय को देखने पर समानता के कारण मनमें सोचता है कि यह गवय है तो इस प्रकार से यहाँ पूर्व कथित वाक्य के स्मरण के आधार पर उपमिति रूप ज्ञान होता है। इसी को उपमान प्रमाण के नाम से नैयायिक लोग कहते हैं। पहले तो गवय को देखने से जो चाक्षुष प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञान होता है, वह तो प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा प्राप्त ज्ञान हुआ। दूसरे साँख्य योग के अनुसार उपमान, अनुमान के ही अन्तर्भूत है क्योंकि गवय स्थल में भी यह अनुमान किया जा सकता है, कि "अयं गवय: पदो:' वाच्य: गौसादृश्यत्वात्"—यह गवय पद से वाच्य है, गौ सदृश्य होने से "जो गौ सदृश होता है, वही गवय पद से कहा जाता है।" यहां पर गवय में जो सादृश ज्ञान है, वह अनुमान रूप है, अनुमान नाम व्याप्ति ज्ञान का होता है। वहाँ पर यह व्याप्ति बन जाती है, कि जो गौ के सदृश नही होता है, वह गवय पद से नहीं कहा जाता है जैसे घटादि। अत: इस केवल व्यतिरेकी अनुमान में ही उपमान अन्तर्भूत है। इसके अतिरिक्त भी ज्ञान हमको अरण्यक से 'गौ सदृश: गवयो भवति' प्राप्त होता

है, वह तो शब्द प्रमाण ही हुआ इसलिये उपमान का स्वतन्त्र प्रमाण होना सिद्ध नहीं होता ।

अर्थापत्ति

मीमांसकों (प्रभाकर सम्प्रदाय) और वेदान्ती दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष अनुमान शब्द और उपमान के अतिरिक्त अर्थापत्ति को भी एक स्वतन्त्र प्रमाण माना है, अर्थापत्ति शब्द का अर्थ है अर्थ की आपत्ति (कल्पना) उदाहरणार्थ फूलचन्द दिन में नहीं खाता है, फिर भी मोटा ताजा है। यहां पर रात्रि भोजन रूप अर्थ की आपत्ति (कल्पना) करते हैं—फूलचन्द निश्चय ही रात्रि में भोजन करता है कारण कि भोजन के बिना पीनता (मोटा ताजा होना) सर्वथा असम्भव है। सांख्य योग का कहना है कि यह अर्थापत्ति स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह अनुमान के ही अन्तर्गत आ जाता है, अर्थात् यह अनुमान ही है। फूलचन्द अवश्य रात्रि में भोजन करता है क्योंकि दिन में न खाते हुए भी मोटा ताजा है, रात्रि में भोजन करने वाले सच्चिदानन्द शुक्ल की भाँति। इस अन्वय व्यतिरेकी अनुमान से अथवा यों कह सकते है कि जो व्यक्ति रात्रि में नहीं खाता वह दिन में भी न खाने पर कैसे मोटा ताजा रह सकता है? क्योंकि रात और दिन में न खाने वाला कृष्ण जन्माष्टमी का व्रतोपवासी पुरुष तो दुर्बल हो जाता है। यह फूलचन्द उस प्रकार के कृष्ण जन्माष्टमी व्रतोपवासी पुरुष की तरह दुर्बल नहीं है। इसलिये यह दोनों समय भोजन न करने वाला भी नहीं है, अर्थात् रात्रि को अवश्य भोजन करता है। इस केवल व्यतिरेकी अनुमान से रात्रि भोजन रूप अर्थ, जो कि अर्थापत्ति रूप प्रमाण का विषय माना गया था, गतार्थ हो रहा है। इसलिये अर्थापत्ति स्वतन्त्र प्रमाण नही माना जा सकता है।

अनुपलब्धि

प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति प्रमाणों के अतिरिक्त वेदान्तियों और भाट्ट मीमांसकों ने अनुपलब्धि को भी स्वतन्त्र माना है। अनुपलब्धि का अर्थ है—प्रत्यक्ष न होना। वेदान्तियों का कथन है कि किसी भी वस्तु के अभाव के ज्ञान के लिये अनुपलब्धि को स्वतन्त्र प्रमाण मानना आवश्यक है। साँख्य दार्शनिकों का कथन है कि यह अनुपलब्धि प्रमाण, प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न नहीं है अर्थात् यह एक प्रकार का प्रत्यक्ष ही है, क्योंकि यदि इस स्थल पर घट होता तो वह भी भूतल के समान स्वतन्त्र रूप से देखने में आता, परन्तु भूतल के समान 'घट' यहां देखने में नहीं आ रहा है। इस प्रकार के तर्क से सहगत अनुपलब्धि युक्त इन्द्रिय रूप प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर ही अभाव का ग्रहण होता है। अत: अभाव का ज्ञान जब कि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो रहा है तो इसके लिये अनुपलब्धि को स्वतन्त्र प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

यहाँ पर प्रश्न होता है कि इन्द्रियां तो सम्बद्ध अर्थ की ही ग्राहक होती हैं, और अभाव सर्वथा असम्बद्ध अर्थ है, क्योंकि अभाव के साथ इन्द्रियों का यदि कोई भी सम्बन्ध हो सके तब अभाव इन्द्रिय से सम्बद्ध हो सकता है। परन्तु अभाव का इन्द्रिय के साथ जबकि कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है, तब इन्द्रियां अभाव की ग्राहक भी नहीं हो

सकती हैं, जैसे आलोक-प्रकाश किसी घट-पट आदि वस्तु का ज्ञान उस घट-पट आदि वस्तु के साथ सम्बन्धित होने पर ही करा पाता है अन्यथा नहीं।

अथवा जैसे त्वचा रूप इन्द्रिय अपने प्रत्यक्ष योग्य विषय को प्राप्त करके ही उसका ज्ञानात्मक प्रकाश कर पाती है अन्यथा नहीं, इसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रिय रूप प्रमाण भी अभाव रूप अर्थ से सम्बन्धित होने पर ही अभाव रूप विषयात्मक अर्थ का ग्राहक अर्थात् प्रकाशकारी हो सकता है अन्यथा नही।

इसका उत्तर यह है कि भाव पदार्थ के लिये ही सम्बद्धार्थग्राहकत्व का यह नियम है अर्थात् इन्द्रिय भाव स्वरूप पदार्थ से सम्बद्ध होकर ही उसका ज्ञान कर सकती है परन्तु अभाव के लिये यह नियम नहीं है कि अभाव से भी सम्बद्ध होकर ही वह उसका प्रकाश करे। अभाव के विषय मे तो ऐसा नियम है कि इन्द्रिय, विशेषण विशेष्य-भाव सन्निकर्ष सम्बन्ध के द्वारा ही अभाव का ज्ञान करती है।

सम्भव

पौराणिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द अर्थापत्ति, अनुपलब्धि के अतिरिक्त सम्भव और ऐतिह्य को भी स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। सम्भव को नवीन ज्ञान न इस रूप से माना जाता ह कि वह किसी पदार्थ का ज्ञात पदार्थ के अन्तंगत होने के नाते ज्ञान प्राप्त कराता है। जैसे अगर चाकू को जानते हैं तो चाकू के फलके को भी चाकू का हिस्सा होने के नाते जान लेंगे। गज का ज्ञान होने पर गिरह का ज्ञान स्वभाविक रूप से हो जाता है। सांख्य 'सम्भब' को भी अनुमान से अतिरिक्त स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। उपर्युक्त उदाहरण में इस प्रकार कीं व्याप्ति हो जाती है कि जो चाकू को जानता है वह चाकू के 'फलके' को अवश्य ही जानता है। और जो गज के नाप को जानता है वह गिरह अवश्य ही जानता है। इस प्रकार से इसमें व्याप्ति सम्बन्ध होने के कारण 'सम्भव' अनुमान के ही अन्तंगत आ जाता है। अत: 'सम्भव' अनुमान से अतिरिक्त प्रमाण नहीं हे।

ऐतिह्य

पौराणिकों ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव, के अतिरिक्त, ऐतिह्य को भी स्ववन्त्र प्रमाण माना है। उपर्युक्त सम्भव-प्रमाण जो पौराणिकों द्वारा स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है उसका साँख्य दर्शन में अनुमान, प्रमाण में ही अन्तर्भाव कर दिया गया है। ऐतिह्य प्रमाण में, ज्ञान किसी अज्ञात व्यक्ति के वचनों के ऊपर परम्परागत चला आता है। सर्वप्रथम हमारे जितने भी ऐसे विश्वास जो परम्परा के ऊपर आधारित हैं, उन्हें पौराणिकों ने स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में माना है, किन्तु सांख्य का कहना है कि प्रथम तो इस ज्ञान को प्रमाणिक मानना ही उचित नहीं क्योंकि यह परम्परागत ज्ञान जहां से चला आ रहा है, उस व्यक्ति विशेष के आप्त पुरुष होने का ज्ञान हमें नहीं है। आप्त पुरुष के अतिरिक्त जितने भी शब्द हैं वे 'प्रमाज्ञान' का साधन नहीं माने जा सकते अर्थात् वे प्रमाण की कोटि में ही नहीं आते। अगर वे आप्त पुरुष के ही वचन मान भी लिये जाये, तो भी 'ऐतिह्य' स्वतन्त्र प्रमाण नहीं रह जाता, वह शब्द प्रमाण के ही अन्तंगत आ जाता है।

चेष्टा

तांत्रिकों ने उपर्युक्त आठों प्रमाणों के अतिरिक्त चेष्टा को भी एक स्वतन्त्र प्रमाण माना है। चेष्टा नाम एक क्रिया विशेष का है। वह क्रिया चेष्टा करने वाले व्यक्ति की तथा जिसके प्रति चेष्टा की जाती है, उन दोनों व्यक्तियों के हित की प्राप्ति तथा अहित के परिहार का कारण मानी गई है। वह क्रिया एक विलक्षण व्यंग्य अर्थ के बोध को उत्पन्न करने वाली है। नेत्रों के भंगाभंग तथा हाथों के संकोच-विकास शाली व्यापार स्वरूप चेष्टा फलात्मक प्रमा बोध की जननी मानी गयी है। इसीलिये विलक्षण प्रमा बोध की जनिका होने के कारण इसे स्वतन्त्र प्रमाण माना है।

परन्तु यह मत भी ठीक नहीं है। कारण कि किसी कामिनी के नेत्रों के निमेषोन्मेषन सम्बन्धी व्यापार स्वरूपा चेष्टा को देखने वाला दर्शक पुरुष यह अनुमान करता है कि यह कामिनी इस पुरुष को बुलाना चाहती है क्यों कि बुलाने वाली चेष्टावाली होने से अर्थात् "इयं कामिनी पुरुषामाह्वयन्ती एतद् आह्वानानुकूलचेष्टावत्वात्" अतः चेष्टा अनुमान स्वरूप ही है। अनुमान से अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं है।

परिशेष

कुछ विचारकों ने उपर्युक्त नौ प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव, ऐतिह्य, चेष्टा) के अतिरिक्त 'परिशेष' को भी स्वतन्त्र-प्रमाण माना हैं। गणित-शास्त्र में इस प्रमाण को प्रयोग में लाया जाता है। गणित-शास्त्र वेत्ता इस परिशेष प्रमाण के आधार पर बहुत से प्रश्नों को हल करते हैं। इसमें ज्ञान प्राप्त करने का यह तरीका है कि जब अनेकों पदार्थ सम्मुख हों तो उनमें से छटाई करते-करते वास्तविक पदार्थ जिसे जानना है, उस पर पहुंच जाते हैं। इसी प्रकार गणित में बहुत से प्रश्नों के उत्तर भी इस छंटाई की विधि से प्राप्त होते हैं। इस लिये ही कुछ लोगों ने परिशेष प्रमाण को अन्य प्रमाणों से अतिरिक्त स्वतन्त्र प्रमाण माना है। सांख्य इस प्रमाण को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। वे इसे अनुमान का ही एक रूप मानते हैं। वे इसे परिशेषानुमान कहते हैं। इस प्रकार से सांख्य ने प्रत्यक्ष, अनुमान, और शब्द केवल तीन ही प्रमाणों को माना है इसके अतिरिक्त जितने प्रमाण हैं, उन सबका इन्हीं तीन प्रमाणों में अन्तर्भाव कर दिया है।
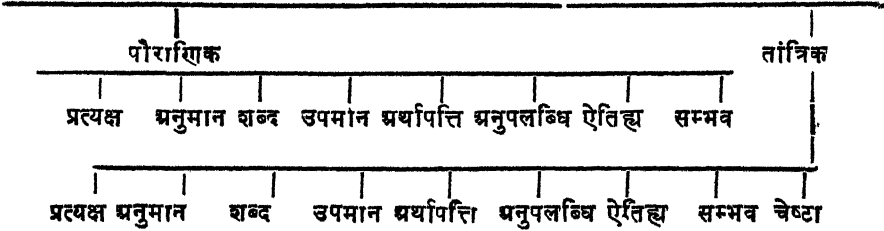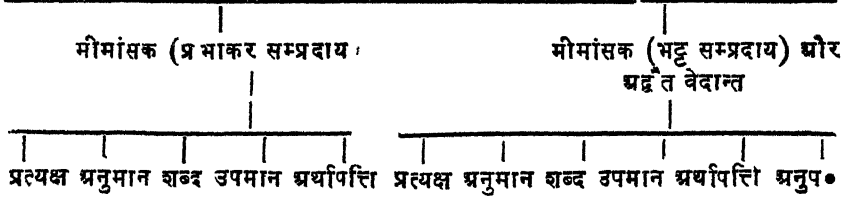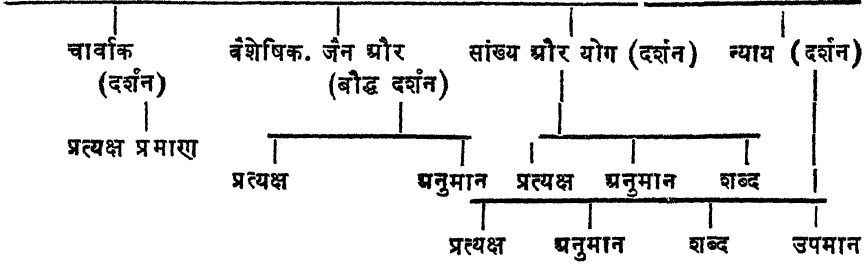
कुछ विचारकों ने परिशेष भी अलग प्रमाण माना है।

सन्निकर्षों के आधार पर होने वाले प्रत्यक्ष
सविकल्पक त्यक्ष
निर्विकल्पक प्रत्यक्ष
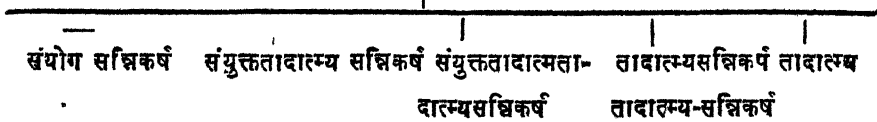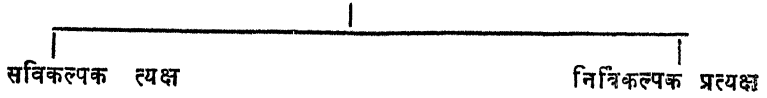
अलौकिक सन्निकर्ष
ज्ञान लक्षणा सन्निकर्ष
योगज सन्निकर्ष

लौकिक सन्निकर्षों के आधार पर होने वाले प्रत्यक्ष
ज्ञान लक्षणा प्रत्यक्ष
योगज प्रत्यक्ष

अनुमान
स्वार्थानुमान
परार्थानुमान
असाधारण कारण 'परामर्श
प्रतिज्ञा
हेतु
उदाहरण या उदाहरण
उपनय
निगमन

अवयव
हेतु
उदाहरण
उपनय
निगमन
जिज्ञासा
संशय
प्रयोजन
शक्य प्राप्ति
संशय-व्युदास

न्याय परार्थानुमान में अवयय
प्रतिज्ञा
हेतु
उदाहरण
उपनय
निगमन

सांख्य
प्रतिज्ञा
हेतु
उदाहरण
उदाहरण उपनय
निगमन

अनुमान
वीत
अवीत
पूर्ववत् वा (केवलान्वयी) या
(दृष्टस्वलक्षण सामान्यविषय)
सामान्यतोदृष्ट या (अन्वयव्यतिरेकी)
या अदृष्टस्वलक्षण सामान्यविषय)
शेषवत् तथा परिशेष अनुमान
वा (केवलव्यतिरेकी)
दोष
व्यभिचार
विरोध
सत्प्रतिपक्ष
असिद्ध
बाध
साधारण
असाधारण
अनुपसंहारी
हेत्वाभास
सव्यभिचार
विरुद्ध
असिद्ध
सत्प्रतिपक्षित
बाधित
साधारण व्यभिचारी
असाधारण व्यभिचारी
अनुपसंहारी व्यभिचारी
असिद्धि हेत्वाभास अनेक प्रकार का .
आश्रयासिद्ध
स्वरूपासिद्ध
साध्या प्रसिद्ध
साधना प्रसिद्ध
व्याप्यत्वासिद्ध
इत्यादि,
इत्यादि
हेत्वाभास
शब्द अर्थ के बीच सम्बन्ध
शक्ति
लक्षणा
शक्ति
समुदाय शक्ति
अवयव शक्ति
मिलित शक्ति
योगरूढ़ शक्ति
यौगिकरूढ़ शक्ति

शक्ति ज्ञान और अर्थोपस्थिति के अतिरिक्त शाब्द बोध के चार प्रकार के कारणीभूत उपाय
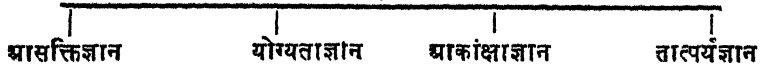
अन्य सब प्रमाणों का तीन ही प्रमाणों में अन्तर्भाव
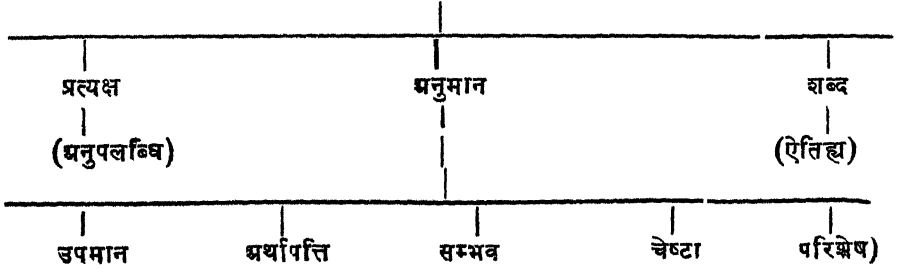
सर्वांग जीवन दर्शन

राम नाथ शर्मा

दर्शन में एकांगी दृष्टिकोण—

मानव जीवन में नित्य प्रति ऐसी अनेक समस्यायें उपस्थित होती रहती हैं जनको सुलझाने में दार्शनिक दृष्टिकोण का विशेष महत्व होता है। अधिकतर पाश्चात्य दार्शनिक दर्शन का लक्ष्य ज्ञान की प्राप्ति मानते हैं परन्तु भारतीय दार्शनिकों के अनुसार दर्शन का महत्व केवल बौद्धिक नहीं है। यह ठीक है कि दर्शन से ज्ञान मिलता है परन्तु फिर जब तक वह ज्ञान वास्तविक जीवन में नहीं उतरता तब तक उसे जीवन का सत्य न कहकर एक अमूर्त विचार, एक मृतक वस्तु मात्र कहा जायेगा। आधुनिक युग का अस्तित्ववादी दार्शनिक व्यक्ति के जीवन, उसकी अनुभूतियों, आशाओं और निराशाओं आदि के लिये दर्शन के महत्व पर जोर देता है। यह तार्किक अथवा प्रकृतिवादी व्यवस्था, विश्लेषणवादी बुद्धिवाद और मृतप्राय: विचार के विरुद्ध एक विद्रोह है। थोथा बुद्धिवाद दर्शन के प्राण केन्द्र को खोकर उसको ऐसे सिद्धान्तों की निरर्थक खोज मात्र बना देत है जिनका मानव के व्यावहारिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीलिये आधुनिक युग में व्यवहारवादी दार्शनिकों ने सत्य के व्यावहारिक मूल्य पर जोर दिया है। मानवतावादी के दार्शनिक मानववादी कसौटी के प्रोटेगोरियन सिद्धान्त को पुनर्जीवित करना चाहते हैं। जॉन डिवी का 'साधनवाद' जीवन में सफल कर्म के साधन मात्र के रूप में ज्ञान और बुद्धि की व्याख्या करता है।

कोरे बौद्धिक दर्शन के विरुद्ध इन सब दार्शनिक बिद्रोहों का महत्व इस बात में है कि इन्होंने व्यावहारिक जीवन में दर्शन के महत्व पर जोर दिया है। परन्तु इनमें से कोई भी जीवन को सर्वांग दृष्टिकोण से नहीं देखता। पूर्व और पाश्चात्य देशों में विभिन्न दार्शनिक मतवाद उपस्थित करने वाले अधिकतर दार्शनिक जीवन के किसी एक पहलू पर अन्य पहलुओं की तुलना में अधिक जोर देते हैं। इस प्रकार उनके दार्शनिक मत महत्वपूर्ण होते हुये भी एकाँगी बन जाते हैं और उनसे वास्तविक जीवन में दर्शन का प्रयोजन पूरा नहीं होता।

मानव की एकाँगी व्याख्या—

मानव जीवन के लिये एक सर्वांग (Integral) दार्शनिक सिद्धान्त पर पहुचने के पूर्व यह देखना आवश्यक है कि मानव जीवन क्या है ? मनुष्य एक सामाजिक-मनोवैज्ञानिक-भौगोलिक परिवेश में रहता है। उसके जीवन पर इन सभी परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। परन्तु मानव जीवन बाह्य परिस्थितियों से अधिक स्वयं मनुष्य की आन्तरिक परिस्थितियां पर निर्भर है। ये आंतरिक परिस्थितियां क्या हैं, यह पता लगाने के लिये मनुष्य की व्याख्या करनी होगी।

विभिन्न देश काल में विभिन्न दार्शनिकों ने मनुष्य की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की है। कोई उसे दो पैरों का जानवर कहता है तो कोई उसे एकमात्र बौद्धिक प्राणी अथवा धार्मिक प्राणी ठहराता है। परन्तु क्या मनुष्य मे केवल बुद्धि ही सब कुछ है या क्या उस के धार्मिक पहलू को लेकर उसकी व्याख्या की जा सकती है? नहीं, मनुष्य एक जटिल प्राणी है और उसकी इस जटिल संरचना के किसी भी एक पहलू को लेकर उसकी व्याख्या करने से केवल एकांगी सिद्धान्त पर ही पहुँचा जा सकता है। इस प्रकार मनोविश्लेषणवाद, व्यवहारवाद, पर्यावरणवाद आदि मनोविज्ञान के विभिन्न वादों के अनुयायी मनोवैज्ञानिकों ने मानव प्राणी की एकांगी व्याख्या प्रस्तुत की है। जीवविज्ञान, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, राजनीति विज्ञान इत्यादि विभिन्न प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानो ने मानव प्राणी के विभिन्न पहलुओं के विषय में खोज की है, उसे विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा है। अपनी जगह पर इन सब विज्ञानों के निष्कर्ष तथ्यात्मक हैं परन्तु जिस प्रकार केवल ईट, पत्थर, बालू, मिट्टी आदि को अलग अलग देखकर मकान की व्याख्या नहीं की जा सकती और न इनके समग्र से ही मकान को समझा जा सकता है उसी प्रकार इन विभिन्न प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों के निष्कर्षों से मानव प्राणी की व्याख्या नही होती। कहना न होगा कि इन विज्ञानों के निष्कर्षों का समग्र भी मानव प्राणी की व्याख्या नहीं करता क्योंकि मूल प्रश्न यह है कि इन विभिन्न विज्ञानों के तथ्यों के परस्पर सम्बन्ध क्या हैं ? दूसरे शब्दों में, विभिन्न विज्ञानों ने मनुष्य को जो रूप उपस्थित किये हैं इन विभिन्न रूपों को मनुष्य के पूर्ण चित्र में क्या स्थान दिया जायगा। यह कार्य विज्ञान नहीं कर सकता क्योंकि विज्ञान विशिष्ट ज्ञान है, विश्लेषणात्मक और एकांगी है। यह कार्य तो विज्ञानों का विज्ञान दर्शन ही कर सकता है। परन्तु फिर दार्शनिक की दार्शनिक प्रक्रिया के लिए तथ्य इन्हीं विज्ञानों से लेने होंगे केवल उसकी पद्धति दार्शनिक अवश्य होगी। अस्तु, इन विभिन्न विज्ञानों के निष्कर्षों पर दृष्टि रखकर दार्शनिक विधि से मनुष्य के सम्पूर्ण चित्र पर पहुंचा जा सकता है।

मानव की सर्वांग व्याख्या—

स्थूलरूप से मानव-प्राणी में शारीरिक, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक पहलू देखे जा सकते हैं। इन सब पहलुओं में परस्पर आन्तरिक सम्बन्ध है। अस्तु, केवल अमूर्त विचार के लिये ही इनको पृथक् देखा जा सकता है। ये पहलू क्या हैं, यह

समझने के लिये यह विश्लेषण करना पड़ेगा कि इनके मूल में कौन सी चेतन प्रवृत्तियां हैं क्योंकि सार रूप में मनुष्य एक चेतन प्राणी है और अन्य प्राणियों से उसका अन्तर चेतना का अन्तर है। मनुष्यों में भी जो व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से अधिक विकसित दिखलाई पड़ते हैं उसका मूल आधार चेतना ही है। दूसरे शब्दों में मनुष्य का विकास उसकी चेतना का विकास है। इस चेतना में शारीरिक, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक पहलू इन पक्षों में सम्बंधित प्रवृत्तियों और मांगों में अभिव्यक्त होते हैं। इस प्रकार मनुष्य शारीरिक, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक मांगों का समग्र है, यह उसका आन्तरिक रूप है जबकि उसका बाह्य रूप उसकी शरीर रचना उसके मस्तिष्क की रचना तथा उसकी विभिन्न क्रियाओं में देखा जा सकता है। यहां यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि आंतरिक और बाह्य रूप का यह अन्तर भी वास्तविक न होकर केवल बौद्धिक विचार के लिये किया गया है। वास्तव में जिस प्रकार मनुष्य के विभिन्न पहलुओं को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता उसी प्रकार उसके बाह्य और आँतरिक रूपों को भी एक दूसरे से पृथक मानना अनुचित है। मनुष्य के बाह्य रूप का ज्ञान शरीरशास्त्र, जीवशास्त्रतथा भौतिकशास्त्र आदि प्राकृतिक विज्ञान देते हैं। इस बाह्य रूप का विशेष महत्व यह है कि यह भौतिक परिवेश में मानवीय क्रियाओं की सीमा निर्धारित करता है। दूसरे शब्दों में, हमारी जो कुछ भी शारीरिक और मस्तिष्क की क्रियाएं होंगी वे हमारी शारीरिक और मस्तिष्क की संरचना से परिसीमित होंगी। इस विषय त्र अन्तर होने के कारण विभिन्न मनुष्यों में व्यक्तिगत विभिन्नतायें देखी जा सकती हैं।

मानव जीवन का सर्वांग रूप—

जैसाकि पीछे कहा गया है, मनुष्य का आंतरिक रूप उसकी विभिन्न प्रकार की माँगों से निर्धारित होता है। ये मांगें ही मानव जीवन की रूप रेखा प्रस्तुत करती हैं। अस्तु यह कहा जा सकता है कि मानव जीवन भौतिक और सामाजिक परिस्थितियों में व्यक्ति की विभिन्न प्रकार की मांगों को संतुष्ट करने की क्रियाओं की प्रक्रिया है। जहां भौतिक और सामाजिक परिवेश के कुछ माँगों के अनुकूल होने के कारण या माँगो के परिवेश अनुकूल होने के कारण वे संतुष्ट होती हैं वहां अन्य मांगे भौतिक और सामाजिक परिवेश के विरुद्ध होने से या इसलिये कि वे विशिष्ट परिवेश में उपयुक्त नहीं हैं, असफल होती हैं। इन हताश मांगों को मनुष्य सामाजिक विचलन (Social Deviance) मनोवैज्ञानिक विचलन (Psychologcial Deviation) अथवा किसी अन्य असामान्य प्रक्रिया से पूर्ण करने का प्रयास करता है। इस प्रकार मानव जीवन में सामान्य और असामान्य दोनों पहलू दिखेलाई पड़ते हैं। फिर मनुष्य व्यक्ति के रूप में शून्य (Vacuum) में नहीं रहता। प्रारम्भ से ही समाजीकरण की प्रक्रिया से वह मनुष्य बनता है और वयस्क जीवन बिताने के लिये सामर्थ्य जुटाता है। यह प्रक्रिया समाज में होती है। अस्तु, व्यक्ति की माँगों की सन्तुष्टि सामाजिक परिस्थितियों से सापेक्ष है। सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियाँ बदल जाने से मानव जीवन में बहुत कुछ परिवर्तन किया जा सकता है। यहां पर सांस्कृतिक परिस्थितियों में आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ भी

सम्मिलित है। आधुनिक समय में सन्देशवहन और यातायात के साधनों के अभूतपूर्व विकास से मानव मांगो को प्रभावित करने वाला सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र सम्पूर्ण भूमण्डल में विस्तृत हो गया है। अस्तु, अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएं और परिस्थितियां भी व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करती हैं।

मनोवैज्ञानिक–मूल्यात्मक दृष्टिकोण—

मानव प्रकृति और मानव जीवन की उपरोक्त जटिल झांकी से यह स्पष्ट होता है कि मानव प्राणी आंतरिक और बाह्य पहलुओं में सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश में अपनी शारीरिक, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक मांगों को सन्तुष्ट करने के लिये जो क्रिया प्रतिक्रियाएं करता है उसी का दूसरा नाम मानव जीवन है। इन विभिन्न मांगों के साथ मूल्य (Values) जुड़े होते हैं क्योंकि प्रत्येक मांग का विशेष लक्ष्य होता है। उदाहरण के लिये आनन्द की स्थिति एक मनोवैज्ञानिक मांग है और इसलिए आनन्द मानव प्राणी के लिये एक मूल्य है। इसी प्रकार हमारी बुद्धि सत्य का खोज करती है जिससे सत्य हमारे लिये एक मूल्य बन गया है। अस्तु मानव जीवन की व्याख्या मूल्यों के रूप में भी की जा सकती है। इस प्रकार मानव जीवन मे मानव प्राणी की भौतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों में अपने मूल्यों को प्राप्त करने के लिये क्रियाएं और अन्तंक्रियाएं सम्मिलित हैं।

मानव जीवन के लक्ष्य—

मानव प्रकृति और मानव जीवन की विवेचना से ही यह स्पष्ट होता है कि मानव जीवन के लक्ष्य क्या है क्योंकि मनुष्य जो नही है वह वह नहीं बन सकता। दूसरी ओर कोई यह सकता है कि मनुष्य जो कुछ नहीं है उसके वह बनने का भी प्रश्न नहीं उठता क्योकि वह तो वह हैं ही। यहां पर जहां तक पहली बात का सवाल है वह बिल्कुल स्पष्ट है अर्थात् मनुष्य के विकास की सीमाएं उसकी संरचना से निर्धारित होती हैं। प्रकृति ने जो शरीर हमें और मस्तिष्क दिया है उसकी सीमाओं से परे जाकर हम कुछ नहीं कर सकते। मनुष्य का समस्त ज्ञान चाहे वह दर्शन, धर्म, नीति कैसा भी उच्च ज्ञान क्यों न हो अन्ततोगत्वा सापेक्ष और आत्मगत् है। जगत् स्वयं कैसा है, यह मनुष्य कभी नहीं जान सकता। वह तो यही जान सकता है कि जहां तक उसकी इन्द्रियों और बुद्धि का परिवेश है वहाँ तक जगत कैसा है। इन्द्रियों और बुद्धि के स्वरूप में परिवर्तन होने से जगत् चित्र बदल जायेगा। अस्तु, मानव जीवन की क्रियाएं हमारी भौतिक और मानसिक संरचना से सीमित हैं। स्पष्ट है कि मानव जीवन के विकास या जीवन में लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रश्न इसी सीमित क्षेत्र के अन्तर्गत सुलझाया जाएगा। अस्तु, मनुष्य अनाभिव्यक्त (Potential) रूप में जो है वही उसे बनना है। दूसरे शब्दों में वह जो नहीं है, वह बनने के उसके सभी प्रयास व्यर्थ और अनुचित हैं। उदाहरण के लिये वह न तो जड़ है और न देवता। इसलिये न तो वह जड़ बन सकता है और न देवता बन सकता है। मानव जीवन मनुष्य के रूप में ही जिया जा सकता है। मानव जीवन के लक्ष्य और मूल्य मानवीय होने चाहिए। स्पष्ट है कि वे एक ओर प्रकृति की

वस्तुओं और पशुओं से भिन्न होंगे और दूसरी ओर तथा कथित देवताओं और असुरों के लक्ष्यों से भिन्न होंगे। स्मरण रहे कि मनुष्य की दैवी जीवन की कल्पना भी अन्त में मानवीय जीवन की कल्पना है और उसको मनुष्य से भिन्न देवता का जीवन समझना भ्रमपूर्ण है। मानव की ईश्वर की कल्पना श्रेष्ठ मानव की कल्पना तो हो सकती है परन्तु वह मनुष्य से परे या मनुष्येतर सत्ता की कल्पना है यह कहने का तात्पर्य यह भूल जाना है कि हमारे समस्त विचार और कल्पनायें हमारी मानसिक संरचना से निर्धारित होते हैं।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ऐसे समय समस्त जीवन दर्शन एकांगी और भ्रामक हैं जो मनुष्य को जड़ जीवन, पशु जीवन या दैवी जीवन की ओर ले जाते हैं। उदाहरण के लिये कुछ दार्शनिकों ने मनुष्य को प्रकृति के राज्य की ओर लौट जाने की सलाह दी है। यह ठीक है कि पृथ्वी का पुत्र मनुष्य, जब कभी अपने माता पृथ्वी से सम्बन्ध खो बैठता है और उसके पाँव जमीन पर टिके नहीं रहते, तब वह वास्तविक जीवन न जीकर कृत्रिम जीवन में पड़ जाता है परन्तु फिर दूसरी ओर मनुष्य ने जो कुछ भी सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि से अर्जित किया है, वह पृथ्वी से ऊपर उठकर ही किया है, जबकि अन्य प्राणी ऐसा नहीं कर सके इसलिये प्रकृति से सम्पर्क रखते हुये भी मनुष्य को विशेषतया सांस्कृतिक परिस्थितियों में जीवन व्यतीत करना है। कुछ मनोवैज्ञानिक मानव जीवन की किसी जैवकीय माँग के महत्व को पहचान कर उसे मानव जीवन में सब कुछ मान बैठते हैं। कोई दूसरा कहता है कि मनुष्य की सर्वोच्च माँग यौन प्रवृत्ति की संतुष्टि है तो कोई कहता है कि मनुष्य की सबसे बड़ी प्रवृत्ति शक्ति प्राप्त करने की प्रवृति है। मनुष्य की किसी विशेष मांग को अन्य सभी मांगों से इस प्रकार सर्वोपरि मान बैठने में इस तथ्य को भुला दिया जाता है कि मानव जीवन कई स्तरों (Levels) पर जिया जाता है और इन विभिन्न स्तरों पर भिन्न भिन्न मांगों की सन्तुष्टि खोजी जाती है इनमें से कुछ मांगें अपेक्ष कृत अन्य माँगों से अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत हो सकती हैं परन्तु छोटी से छोटी मांग भी ऐसी नहीं है जिसकी अवहेलना की जा सकती हो। यह गलती विशेषतया अधिकतर आध्यात्मिक जीवन दर्शनों में दिखलाई पड़ती है। आध्यात्मिक मूल्यों को सर्वोच्च महत्व देने के साथ साथ वे यह भूल जाते हैं कि मनुष्य कोरा आध्यात्मिक प्राणी नहीं है, उसके शारीरिक और बौद्धिक पहलू भी हैं और इन पहलुओं की मांगो का सन्तोष भी उतना ही अधिक आवश्यक है जितनी की आध्यात्मिक मांगों की सन्तुष्टि। अस्तु सर्वांग जीवन दर्शन में शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक सभी मूल्यों को उचित स्थान दिया जाता है। इनमें से किसी भी मूल्य की अवहेलना नहीं की जा सकती।

मूल्यों का वर्गीकरण—

परन्तु क्या इसका तात्पर्य यह हुआ कि मानव मूल्यों में उच्च और निम्न का कोई भी वर्गीकरण नहीं किया जा सकता? वर्गीकरण किया जा सकता है परन्तु समान स्तर पर मूल्य समान होते हैं। उदाहरण के लिये शारीरिक स्तर पर भोजन, निद्रा,

व्यायाम आदि सभी को समान रूप से महत्व दिया जाना चाहिये। परन्तु यदि प्रश्न शारीरिक और बौद्धिक मूल्यों की तुलना का है तो अवश्य ही बौद्धिक मूल्य शारीरिक मूल्य से ऊचे स्तर के मूल्य हैं। इसी प्रकार आध्यात्मिक मूल्य बौद्धिक मूल्य से उचे स्तर के मूल्य है। परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि आध्यात्मिक मूल्यो को प्राप्त करने में बौद्धिक मूल्यों और बौद्धिक मूल्यों को प्राप्त करने में शारीरिक मूल्यो को छोड देना पड़ेगा। सर्वांग जीवन दर्शन प्रत्येक मांग और मूल्य की सीमा दिखलाता है, उसे उसका उचित स्थान देता है। परन्तु किसी को भी छोड़ता नहीं क्योंकि मानव जीवन का बहुरंगी और विविध ताना बाना इन सबसे मिलकर बनता है और हम चाहे भी तो इनमें से किसी पहलू का काटकर निकाल नही सकते, उसका गला घोटकर भले ही अपने जीवन को एकांगी बनालें। इस प्रकार सर्वांग दृष्टिकोण से न तो सन्यासी ऊँचा है और न भोगी, वे विभिन्न स्तरों पर हैं। जहां तक स्तरों का प्रश्न है यदि सन्यासी भोगी के स्तर मे उठकर सन्यासी बना है तो अवश्य ही उसका स्तर ऊचा कहा जाएगा क्योंकि विकास की प्रक्रिया में वह बाद में आया है परन्तु ऐसा कहने से यह अर्थ निकाल लेना गलत होगा कि भोगी का स्तर त्याज्य या हेय है क्योंकि अपनी जगह पर मानव जीवन में प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक मांग, प्रत्येक प्रवृत्ति का विशिष्ट स्थान होता है। आध्यात्मिक मूल्यों को प्राप्त करने के प्रयास में यदि मनुष्य शारीरिक और बौद्धिक मूल्यो का तिरस्कार करता है अथवा इनको प्राप्त किये बिना ही आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति के लिए सीधी छलांग लगाना चाहता है तो यह एक भ्रामक प्रयास है क्योंकि सीढ़ी में ऊंचा सोपान वह होता है जो निचले सोपान को पार करने के बाद पार पहुंच जाता है।

अस्तु जो आध्यात्मिक दर्शन अपनी एकांगी आध्यात्मिक उड़ान में सैक्स, विवाह, परिवार, धनोपार्जन इत्यादि की अवहेलना करते हैं अथवा इनको निम्न जीवन ठहराते हैं वे यह भूल जाते हैं कि मानव जीवन के स्रोत यदि उच्च आध्यात्मिक स्तर पर हैं तो निम्न शारीरिक और जैवकीय स्तर पर भी हैं और इस स्तर से जीवन को अलग कर लेने का अर्थ इन स्रोतों से दूर हो जाना है। यूँ भी मानव जीवन में सब कहीं विरोधियों से विरोधी गुण निकलते हैं अच्छे से बुरा और बुरे से अच्छा उत्पन्न होता है उदाहरण के लिए अपराध रोकने के प्रयास अपराध बढ़ाते हैं, सामाजिक नियन्त्रण को कठोरता से लागू करने के प्रयास अनियन्त्रण बढ़ाते हैं और कानूनी उपायों से मनुष्य की अनेक प्रवृत्तियों पर रोकथाम करने से ये प्रवृत्तियां और भी अधिक संगठित रूप में अभिव्यक्त होती हैं। इस सम्बन्ध में अपराधशास्त्रियों की द्वारा गयी खोजें दृष्टव्य हैं। अस्तु ब्रह्मचर्य के मूल्य को महत्व देते समय यौन सन्तोष के मूल्य को भूल जाना एकांगी दृष्टिकोण है क्योंकि जीवन में जहाँ नियन्त्रण का मूल्य है वहां उन्मुक्तता (Freedom) भी कम मूल्यवान नहीं हैं। यदि ध्यान से देखा जाये तो मनुष्य की समस्त कला, साहित्य, संस्कृति और यहां तक कि अधिकांश दर्शन का विकास इसी उन्मुक्तता, इसी खुली छूट, इसी स्वतन्त्रता में हुआ है, यद्यपि इस तथ्य से सामाजिक नियन्त्रण का महत्व कम नहीं होता।

सर्वांग जीवन दर्शन—

संक्षेप में, सर्वांग दृष्टिकोण से मानव जीवन-शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक इन विभिन्न स्तरों पर इन स्तरों के मूल्यों को प्राप्त करने का प्रयास है। यही मानव

जीवन का लक्ष्य है। इनमें से किसी भी एक पहलू की अवहेलना या विशिष्ट स्तर पर किसी भी मूल्य को छोड़ देना एकांगी दृष्टिकोण है। जब तक मनुष्य में जीवन है, तब तक उसके साथ शरीर, बुद्धि और आध्यात्मिक पहलू लगे हैं। अस्तु जीवन रहते इनमें से किसी भी स्तर पर रहते हुये भी वह अन्य स्तर के मूल्यों की नितान्त अवहेलना नहीं कर सकता। यदि वह शारीरिक नियमो का पालन नहीं करेगा तो बौद्धिक और आध्यात्मिक मूल्यो की प्राप्ति में शरीर उसका साथ नहीं देगा जिससे उसका प्रयास असफल होगा। इसी प्रकार यदि बुद्धि और मस्तिष्क का विकास और संतोष प्राप्त नहीं किया गया तो बहुधा व्यक्ति आध्यात्मिक स्थितियों और प्रक्रियाओं को समझाने में गलती करेगा और कुछ को कुछ मान बैठेगा। इसी प्रकार यदि मनुष्य ने आध्यात्मिक पहलू का विकास नही किया तो या तो वह शारीरिक-मानसिक स्तर पर रह जाएगा या शुष्क बौद्धिक स्तर के ऊहापोह मे उलझा रहेगा, जीवन का आनन्द, जीवन का सर्वांग संतोष उससे सदैव दूर रहेगा। यही कारण है कि बड़े बड़े योगियों, दार्शनिकों, वैज्ञानिकों और विभिन्न क्षेत्रो के नेताओं के जीवन मे यदि उनकी आंतरिक स्थिति में झांक कर देखा जाए तो अनेक कोनो मे घोर निराशा, हताशा और संघर्ष दिखलाई पड़ते है। इनमें से अनेक यह जानते है कि उन्होंने अपने विषिष्ट क्षेत्र मे विशेष योग्यता और विशेष सम्मान प्राप्त करने के लिये शारीरिक मनोवैज्ञानिक मांगों की अवहेलना करके जो महंगा सौदा किया है उस कमी को वे पूरा नहीं कर सकते परन्तु फिर अब उनके पास यह अवसर नही होता कि वे अपने विशिष्ट स्थान से नीचे उतर कर फिर से सर्वांग जीवन प्रारम्भ करें क्योंकि वे अपनी स्थिति में जकड़ जाते हैं, उनके प्रशंसक उनको वहां से हिलने नहीं देते और वे जानते है कि अब स्थिति बदलने का तात्पर्य जो कुछ भी थोड़ा बहुत प्राप्त किया है, उसको भी खो देना है। होता यह है कि अधिकतर लोग अपने को दूसरों की आंखों से देखते हैं और इस प्रकार जीवन में बहुत दूर तक चले चलते हैं। बाद में जब उनको अपने अन्दर झांक कर अपनी वास्तविक स्थिति का पता चलता है तो उन्हें अपनी भूल मालूम पड़ती है परन्तु यह भूल मानव जीवन में उन भूलों मे से है जिनकी हानि को कभी पूरा नहीं किया जा सकता।

निष्कर्ष—

अस्तु मानव जीवन में सबसे बड़ी बात सम्पूर्ण जीवन पर, जीवन के सभी मूल्यों पर, बराबर दृष्टि रखना है। प्रमाणिकता और सच्चाई (Sincerity) सर्वांग जीवन दर्शन का आधार है। बाहरी सफलता उसकी कसौटी नहीं है, मूल बात है आत्म संतोष और यह कि व्यक्ति ने अपने जीवन के विभिन्न स्तरों पर विभिन्न मूल्यों को प्राप्त करने के लिये प्रयास किया है या नहीं। इस सर्वांग दृष्टिकोण और सर्वांग जीवन का अनिवार्य परिणाम आंतरिक संतोष और आनन्द में दिखलाई पड़ता है जो कि किसी भी जीवन दर्शन की सर्वोच्च कसौटी है। धर्म, नीति, राजनीति, सामाजिक जीवन आदि मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं में सर्वांग दृष्टिकोण से देखने से क्या निष्कर्ष निकलते हैं, यह प्रस्तुत सीमित निबन्ध क्षेत्र से बाहर की बात है। इनका विवेचन भविष्य में अन्य निबन्धों में किया जायेगा। इन सभी क्षेत्रों मे सर्वांग दृष्टिकोण ग्रहण करना आवश्यक है। सर्वांग दृष्टिकोण का महत्व इस तथ्य के कारण है कि उसमें किसी भी दृष्टिकोण की अवहेलना नही की जाती बल्कि प्रत्येक को उसका उचित स्थान दिया जाता है, उसमें सभी को स्थान मिलता है, उसमे व्यक्ति और समाज, निम्न और उच्च, शारीरिक और आध्यात्मिक, इहलोक और परलोक, ज्ञान और सुख इन सबका समुचित समन्वय करते हुए स्थूल से सूक्ष्म की ओर विकास है।

राधास्वामी मत के सिद्धान्त (३)

हंस नाथ त्रिपाठी

८—सुरतों का अलग अलग बनना

ये सुरतें जो कुल मालिक का अविभाज्य अंग थी, अलग २ रूपों मे इस प्रकार उत्पन्न हुई। एकाग्र ध्रुव या कुल मालिक से बाहर या नीचे की ओर चेतनता की क्षीणता क्रमशः बढ़ती जाने के कारण उस क्षीण चेतनता के क्षेत्र मे क्रमशः कम होती जाने वाली चेतनता की बहुत सी तहें पैदा हो गई। प्रत्येक तह अपने पास की तहों से अपने खोलों के द्वारा अलग थी। ये खोल उन तहों से कम चेतन थे और एकाग्रता पैदा करने वाली शक्ति की क्रिया के द्वारा उन अलग २ तहों के चारों ओर बन गये थे। उसी समय परम पिता से निकलने वाली आकर्षण शक्ति की सतत क्रिया-शील रेखायें, उन उत्पन्न होने वाली तहों की चेतनता को उस बिन्दु पर, जहा वे रेखायें उनको काटती थी, एकाग्र करती रहीं।

इस प्रकार जब २ चेतनता के तनाव मे स्पष्ट अन्तर उत्पन्न हुआ, तब तब चैतन्य के केन्द्र बहुत बडी संख्या में उत्पन्न हुए। आकर्षण की प्रत्येक बाहर की ओर जाने वाली रेखामे ऐसे केन्द्र एक दूसरे के बाद बनते गये। ऐसा प्रत्येक केन्द्र जब वह बना, अलग और निजी अस्तित्व रखने वाला था। वह गुप्त ज्ञान-शक्ति रखने वाला चैतन्य था। लेकिन उस समय वह बेहोशी की दशा मे था। वे केन्द्र खोलों के द्वारा एक दूसरे से अलग थे क्योंकि जो तहें उनके चारों ओर बन गई थी, वे उनकी व्यक्तिगत एकाग्रता के द्वारा एक दूसरे से अलग थी। इस अवस्था की समानता दिखलाने के लिये हम एक नारंगी को ले सकते हैं। उसके चारो ओर एक मोटा ढकने वाला पर्दा होता है जो उसके हर एक भाग को ढके रहता है। एक दूसरा खोल होता है जो उससे बहुत पतला होता है। प्रत्येक भाग मे रस से भरे हुए बहुत से कोष्ठ या दाने होते हैं। प्रत्येक कोष्ठ मकडी के जाले से इतना मिलता जुलता रहता है कि यदि हम उसको दबायें तो ऐसा मालूम होता है कि वह अपने भीतर के रस में घुल जायेगा।

सभी अलग २ व्यक्तियों के अलग २ खोल अवश्य होने चाहिये। खोल के बिना एक ही सतह की समान चेतनता रखने वाली सुरतें एक दूसरे मे मिल जाती। केवल इसी

प्रकार अलग २ व्यक्तित्व कायम रह सकता है। केवल राधास्वामी दयाल ही ऐसे है जो खोल से रहित हैं। हमारे देश अर्थात् पिंड देश मे खोल मन और शरीर का रूप ले लेते है। वह त्रिविध रूप जिससे हम परिचित हैं, हमेशा कायम रखा जाता है। होश कायम रखने के लिये उन तीनों अंगो का होना जरूरी है यदि उनमें से एक निष्क्रय हो जाता है, जैसे शरीर लकवा के कारण बेकार हो जाता है, तो होश हुआश जाता रहता है।

निर्मल चैतन्य देशो मे खोल वास्तव में मन या माया के नहीं है; परन्तु वे एक तरह की समानता रखते है। वे जिन सुरतों को ढके हुए है, उनकी अपेक्षा वे कम चेतन हैं खोल चेतनता की कमी से पैदा हुये और वास्तव मे वे चेतनता की कमी को जाहिर करते हैं। नीचे के देशों में खोल मुकाबले मे मोटे हैं और सुरतें कम चेतन है। परन्तु ऊपरी तह चाहे कितनी ही कम चेतन हो, सबसे भीतरी सतह मे वे सदा ही सार रूप मे सबसे ऊंचे दर्जे की चेतनता का सूत्र मौजूद है यदि ऐसा न होता तो विश्व छिन्न भिन्न हो जाता।

खोल अकेले अलग२ जीवन या अलग २ होष कायम नहीं रख सकते। उनके लिये एक सुरत के साथ सम्बन्ध होना जरूरी है। खोल और चैतन्य या सुरत एक दूसरे के पूरक हैं। जिस खोल का सम्बन्ध अपने उपयुक्त सुरत से जाता रहता है, वह बेहोश, जड़ और निर्जीव हो जाता है। शरीर का चमड़ा हमारा एक परिचित उदाहरण है। जब तक वह शरीर का एक भाग बना रहता है, तब तक वह चैतन्य और शरीर से जीवन पाता रहता है। परन्तु वह ज्यो ही वह अलग हो जाता है, उसकी जीवन-शक्ति जाती रहती है।

६—माया की उत्पत्ति

इस प्रकार की स्थिति वाले खोलों से जड़ता की उत्पत्ति हुई। माया या जड़ता प्रारम्भ में नही थी केवल निर्मल चैतन्य या शक्ति थी। जड़ता मानो शक्ति का ठोस या रवादार रूप में आना है। यह अवस्था चेतनता की कमी से उन कारणों के द्वारा पैदा हुई जिनका वर्णन हो चुका है।

विज्ञान का कहना है कि शक्ति बिना जड़-तत्त्व या द्रव्य के कायम नहीं रह सकती। इस गलती का कारण यह है. जिस ज्ञान पर विज्ञान आधारित है वह जड़ता से परे का ज्ञान नही है। इसलिये विज्ञान ने यह गलत नतीजा निकाल लिया है कि जड़ता या द्रव्य से अलग कोई जीवन सम्भव नहीं है।

परम स्रोत या कुल मालिक से लगे हुये प्रदेश के चैतन्य केन्द्रों को किसी हालत में भी तुच्छ नहीं समझना चाहिए; (यद्यपि वे उसके प्रचण्ड तेज के मुकाबले में वास्तव में ऐसे थे) क्योंकि उनमें बहुत बड़ी चैतन्य-शक्ति गुप्त थी, यद्यपि वे रचना से पहले बेहोश थे। यह बेहोशी पूर्णतः चेतनता की कमी के ही वजह से थी, यद्यपि इसका एक गौण कारण उन खोलों का होना भी था, जो चेतनता की क्षीणता से पैदा हो गये थे। इसी बात को कहने का एक दूसरा और सही तरीका यह है। वे बेहोश थे, क्योंकि उनमें प्रेम की वह क्षमता या काबिलियत नहीं थी, जो मालिक में है। वे उसके प्रेम की

इस प्रकार परम पिता के चरणों में क्षीण चेतनता से ढकी हुई अनगिनत सुरतें बेहोश पडी हुई थीं।

बेहोशी की हालत में पड़ी हुई उन सुरतों को जगाने का काम, जो रचना में दूसरा कदम था, इस प्रकार आगे बढ़ा:—

उस अन्डाकार रूप से बाहर निकलने वाली धार ने एक भारी कम्पन पैदा किया, जिससे खोल टूट गये और उनके भीतर की सुरतें आजाद हो गईं। उसी समय उस अण्डाकार रूप ने, जो आकर्षण का केन्द्र बन गया था, तथा उस धार ने बड़े जोर से उनको खींचा। इस प्रबल खिचाव से उनमें से बहुत सी उन फटे हुए खोलों से बाहर निकल आईं। और उस अण्डाकार रूप की ओर खिची। जिन सुरतों में चेतनता अधिक थी, वे उस अण्डाकार रूप में खिच गईं और मालिक के उस आदि देह मे मानो कोष्ठ बन गईं। परन्तु उन्होंने अपनी अलग हस्ती को खो नहीं दिया। उन सुरतों तथा उस भण्डार (राधास्वामी दयाल) के बीच की सीमा सदा रहने वाली है उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। यदि वह परिवर्तनशील होती तो नित्य नहीं होती। दूसरी सुरतें जिनमें चेतनता की तीव्रता मुकाबले मे कम थी, एक नीची सतह पर ठहर गईं और वहाँ उन्होंने अपने लायक मुस्तकिल जगह बना ली। उन सुरतो के बारे में यह कहा जा सकता है कि वे अपने उचित स्थान पर पहुंच गईं, जहाँ उन्हें पूर्णानन्द प्राप्त है। क्योंकि जैसा कि पहले समझाया गया है, कोई भी सुरत उस सतह या स्थान से जहाँ वह अपनी चेतनता के दर्जे के कारण ठहरने लायक है, ऊपर बिना बेहोश हुए नहीं जा सकती। अपने उचित स्थान पर तो वह होश में रहेगी, परन्तु उससे ऊपर जाने पर बेहोश हो जायेगी। जब तक कि उसे किसी ऊँची धार की मदद न मिले। वहां उस देश के आनन्द की तीव्रता के सामने उसमें वह चेतनता की ताकत नहीं रहेगी कि वह अपना होश कायम रख सकें। आनन्द के उस नशे में वह अपना होश खो बैठेगी।

यही कारण है कि यदि किसी जीव म इतनी चेतनता नहीं है कि जिस स्थान पर वह है, वहां होश कामय रख सके, तो उसे नीचे जरूर उतरना पड़ेगा ताकि वह अपना होश कायम रख सके और उसकी ज्ञान को ग्रहण करने की शक्ति नष्ट न हो सके। कभी २ किसी सुरत का मनुष्य रूप से उतर कर पशु रूप में आने का कारण यही है।

उन सुरतों पर अन्डाकार रूप और उस धार का प्रबल खिचाव होने से वे होश में आईं। इस होश में आने का कारण कुछ तो उनका खोल के दबाव से मुक्त होना है और कुछ उस चैतन्य-धार का नया जीवन देने वाला असर है। खोल भी कुछ ऊपर खिचे, परन्तु वे उतना ऊपर नहीं गये जितना कि वे सुरतें, जिन्होंने उन्हें छोड़ दिया था। सुरतों की अपेक्षा कम दर्जे की चेतनता रखने के कारण उस अण्डाकार रूप की

आकर्षण शक्ति के प्रभाव से वे उतना नहीं खिच सके और न तो वे उतना ऊपर जाने पर होश ही रख सकते थे। खोल सुरतों से पीछे रह गये। जैसा कि नीचे बतलाया गया है, वे खोल भी उस चैतन्य धार के प्रभाव से होश में आ गये। यदि वे जिन सुरतों के ऊपर बन गये थे, उन्हीं के साथ रह गये होते, तो होश में नहीं आये होते।

जब वे सुरतें, जो अपने खोलों से खीच ली गई थीं, अपने सदा रहने के स्तर या सतह पर पहुँची, तो उन्हें ऐसे खोल मिले, जो वहाँ ठहर गये थे। वे उनसे संयुक्त हो गईं। चूँकि सुरतें और खोल एक दूसरे के लिये जरूरी थे और एक दूसरे की कमी को पूरा करते थे और दोनों ही बुद्धियुक्त थे और हरएक अपने पूरक की खोज में था, इसलिये जब एक सुरत और खोल एक ही सतह पर मिले, तो वे तुरन्त जुड़ गये। उसकी समानता इन चीजों में पाई जा सकती है। जब हम पानी को धूल में गिरा देते हैं, तो पानी की बूँद धूल का खोल धारण कर लेती है, धनात्म और ऋणात्मक बिजली से भरे हुए दो गोले एक दूसरे को खींचने लगते है। इस तरह उन सुरतों और उन खोलों दोनो की ही जरूरतें पूरी हो गईं।

इस प्रकार उस अण्डाकार भण्डार के आकर्षण तथा उससे निकलने वाली धार के कम्पन से जो देश प्रभावित हुआ, उसकी बहुत सी सुरतें जाग उठीं। खोल और सुरतें दोनों ही पूरे होश में आ गये और परम पिता के प्रेम, आनन्द और ज्ञान-शक्ति से पूर्ण रूप से भर गये। इस प्रकार पहले देश या मण्डल की रचना हुई।

परन्तु इस देश की बहुत सी सुरतें इस प्रकार जगाई न जा सकीं। इनका बाद का हाल आगे बतलाया जायेगा।

११—राधा-धार का प्रकट होना, परम नाम की उत्पत्ति तथा उसकी शक्ति

उस बाहर निकलने वाली चैतन्य-धार से एक घोर चैतन्य-शब्द हुआ। उसके कम्पन से एक कम्पित करने वाला शब्द पैदा हुआ जिसकी वाणी में सबसे सही नकल 'रा' शब्द से हो सकती है। उसके बाद सुरतों और खोलों के ऊपर और अन्दर की ओर जाने से एक ऐसा शब्द उत्पन्न हुआ जिसको वाणी में 'धा' कह सकते हैं इसलिये यह शब्द जागी हुई सुरतों को अपने भीतर लेना जाहिर कहता है। यह उतना व्यापक नहीं है जितना कि स्वामी का 'मी' शब्द जो सभी को अपने भीतर लेना जाहिर करता है। इसलिये धार का शब्द 'राधा' था। यह उस अण्डाकार 'स्वामी' के शब्द से मिलकर शुरु में होने वाले रचना के काम को पूरे तौर से जाहिर करता था और इस लिये कर्त्ता का उचित नाम हो गया। इस प्रकार उस नाम की उत्पत्ति हुई जिसको उसने स्वयं प्रकट किया। ऊपर से तथा समय के क्रम से देखने पर वह नाम स्वामी-राधा था तथा भक्त के लिये वह नाम 'राधा-स्वामी हो गया। धार भक्त और मालिक के बीच की कड़ी है और इसलिये उसके लिये धार पहले अवश्य आनी चाहिए। केवल वही उसको मालिक के पास पहुंचावेगी।

इस प्रकार स्वयं राधास्वामी ने उस परम नाम को घोषित किया। कोई दूसरा उसको पूरे तौर से नहीं समझ सकता। परम पिता ने अपने नाम में ऐसी शक्ति भर

दी है कि जो कोई उसको प्यार के साथ सुनेगा (क्योंकि प्रेम के बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता), उसको वह नाम एक दिन राधास्वामी पद मे पहुंचा देगा, जहां वह पूर्ण रूप से पूर्ण आनन्द का उपभोग कर सकता है।

जब उस नाम की असली बड़ाई सुरत मे प्रकट हो जायेगी (वह बड़ाई मन में नहीं प्रकट हो सकती), तो प्रेम एक नव-विवाहिता वधू के प्रेम की तरह होगा। जिसका अपने पति के स्पर्श से सारा शरीर बिजली से भर जाता है। उसका रोआं खड़ा हो जाता है तथा उसके प्रत्यक रोम कूप में गुदगुदी पैदा हो जाती है। ऐसा असर उस नाम का होगा। तब सुरत नग्न-नृत्य करेगी। लेकिन यद्यपि यह अनुभव दूर की चीज है, फिर भी उस नाम तथा उसकी रक्षा करने की शक्ति मे विश्वास पैदा होना चैतन्य-मण्डलो मे प्रवेश पाने का एक निश्चित पासपोर्ट या परवाना है। इससे एक दिन सुरत सब बाधाओं पर विजयी होती हुई आनन्द के पवित्र देशों में प्रवेश पाने में समर्थ हो सकेगी।

१२—सुरत-धार और शब्द-धार

चैतन्य-धार के दो गुण थे। वास्तव मे वे एक दूसरे के साथ बहुत ही रली मिली सुरत और शब्द-धार की दो धारें थीं। ये दो धारें पूर्णतया एक दूसरे से रली मिली दशा में कार्य कर रहीं थीं उनके इस प्रकार रलने मिलने से भारी सुख पैदा हुआ। पहली धार में केन्द्र बनाने की शक्ति थी। दूसरी धार (शब्द की धार) का विशेष गुण आकर्षण की शक्ति का था। 'राधा' धार में सुरत की अवस्था प्रधान थी। परन्तु इस अवस्था से जो केन्द्र बना, उसमें शब्द की प्रधानता हुई। उस केन्द्र से फिर धार निकली। इस प्रकार सुरत से शब्द और शब्द से सुरत निकली। शब्द और सुरत मालिक के प्रकट शरीर के मानों अन्दर जाने वाली तथा बाहर निकलने वाली श्वांस है।

प्रथम अण्डाकार भण्डार राधा स्वामी पद या धाम के आकर्षण के प्रभाव से रचे गये देश की जागी हुई सुरतें परमहंस कहलाती है। पुरुष और स्त्री के मौलिक चिन्हों से मिलता जुलता कुछ अन्तर उनमें होने के कारण वे दो वर्गों में विभक्त हैं। यह कहा गया है,"यद्यपि निर्मल चैतन्य देशों मे स्त्री और पुरुष का भेद स्पष्ट नहीं है" तो भी वे सुरतें जिनमे शब्द-क्रिया की प्रधानता है, पुरुष वर्ग मे रखी जा सकती है, शेष सुरतें जिनमें सुरत-क्रिया की प्रधानता है, स्त्री वर्ग में आ सकती हैं। परन्तु यह बतलाना आवश्यक है कि उनमें किसी भी दशा मे स्त्री और पुरुष के बीच होने वाली वे लिंग-चेष्टायें नही है, जो इस संसार में पाई जाती है।

इन जागी हुई सुरतों के अलावे उस आदि महती धार के साथ बहुत सी छोटी धारें उसी प्रकार आईं जिस प्रकार एक फव्वारे से निकलने वाली जलधार के साथ छीटों की बूँदें आती है वे धारें राधास्वामी धाम की वासी चैतन्य हस्तियां हैं। उन्हें निज अंश कहते हैं। उनकी मालिक के आदि सार-रूप के साथ एकता है उन अंशों की मानों सन्तानें भी है, जिन्हें वंश कहते हैं।

१३—अगम लोक की रचना

दूसरा अण्डाकार रूप, जिसे बनाने के लिये राधा-धार रुकी, रचना के दूसरे मण्डल अगम लोक का बीज था। वह अगम पुरुष की काया बन गया। अगम पुरुष ने अपने चारों ओर जिस चेतनता को अपनी ओर आकृष्ट किया, उससे उसके शरीर का निर्माण पूरा हुआ। वह सांस लेने लगा। अर्थात् चैतन्य धारें-उसके शरीर से निकलने लगीं और शब्द करने लगीं।

अगम पुरुष की काया पहली चीज थी, जो रचनात्मक-क्रिया के परिणाम स्वरूप कुल मालिक से अलग हो गई।

१४—नये केन्द्र की आवश्यकता

अनिश्चित दूरी तक आगे बढते जाने के बदले जिस स्थान पर राधा-धार अगम-केन्द्र बनाने के लिये रुक गई, उसका निश्चय इस प्रकार हुआ। वह निकली हुई धार वास्तव में बहुत ऊंचे दर्जे की चेतनता रखने वाली थी। वह एक सीमित दूरी तक ही बेहोश पड़ी हुई सुरतों पर हितकर क्रिया कर सकती थी। अर्थात् जहां तक उसकी चेतनता की तीव्रता में तथा उसकी क्रिया के असर के भीतर आने वाली सुरतों की चेतनता की तीव्रता में बहुत अन्तर नहीं था, वहीं तक उसका उन सुरतों पर लाभकर प्रभाव पड़ सकता था। यदि वह अन्तर अधिक हुआ होता, तो यह क्रिया तोड़ फोड़ और विनाश करने वाली हुई होती। बिजली की क्रिया इस बात का उदाहरण है। बिजली तांबे से होकर गुजरेगी, लेकिन पत्थर से होकर नहीं, क्योंकि पत्थर में बिजली नहीं के बराबर है। यदि उसकी तीव्रता को बढ़ाकर उसे जबरदस्ती ले जाया जाय, तो यह उस पत्थर को नष्ट कर डालेगी।

हम कह सकते हैं कि वह धार एक निश्चित दूरी तक बढ़कर एक ऐसे स्थान पर पहुच गई, जहाँ से स्थित सुरतों से वह मानों अलग सी हो गई और अब उन पर कोई क्रिया नहीं कर सकती थी। वह धार तब तक रुक गई और उसने एक केन्द्र बनाया जिससे उसी मण्डल की चैतन्य शक्ति के द्वारा नये सिरे से रचना का कार्य शुरु हो। वह चैतन्य-शक्ति नीचे दर्जे की थी और उस मण्डल की बेहोश सुरतों पर क्रिया कर सकती थी। नये केन्द्र की जरूरत की एक दूसरी वजह भी है। एक केन्द्र अपनी आकर्षण-शक्ति का प्रभाव एक सीमित दूरी तक ही डाल सकता था। यदि खींचने वाले केन्द्र और बेहोश पड़ी हुई सुरतों के बीच की दूरी हद से ज्यादा हो जाती, तो उन सुरतों पर इस आकर्षण-शक्ति का प्रभाव ऐसा न पड़ता कि वे खिच कर होश में आ जायें।

उस चैतन्य भण्डार से, जिसे अगम पुरुष कहते हैं, एक धार निकली। उसकी चेतनता उस धार से जो पहले अण्डाकार भण्डार से निकली, कुछ कम दर्जे की थी। उसकी कम्पन पैदा करने वाली क्रिया से चारों ओर की सुरतें जाग उठीं। अगम पुरुष की आकर्षण शक्ति भी जो अपने उपर के देश की आकर्षण-शक्ति से कुछ नीचे दर्जे की थी, अपनी सतह पर क्रिया कर रही थी। उससे वे सुरतें उस केन्द्र की ओर खिची।

तब अगम लोक की रचना शुरु हुई और बिल्कुल उसी प्रकार से होती रही, जिस तरह कि राधास्वामी पद की। इस मण्डल की जागी हुई सुरतें परम हंस कहलाती हैं। इस देश में निज अंश और वंश भी हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में दर्शन की आवश्यकता

रामनारायण व्यास

दर्शन और शिक्षा का प्रारम्भ से ही चोली दामन का साथ रहा है। जितने भी शिक्षा शास्त्री हुए है उनकी विचार धारायें उनके शिक्षा कार्यक्रमो में प्रतिफलित हुई है। उदाहरण के लिये हम प्लेटो को लें। प्लेटो एक महान शिक्षा शास्त्री था। उसके विचारों में आदर्शवादिता का रंग था और वह शिक्षा के क्षेत्र में एक विशिष्ट प्रकार के अनुशासन का पक्षपाती था। हम उसके शिक्षा सम्बन्धी विचारों में इसलिये एक आदर्शवादिता, अनुशासन एवम् एक प्रकार की नियमनिष्ठता के दर्शन करते है। दूसरा उदाहरण रूसो का दिया जा सकता हैं। रूसो जिसे दुनिया फ्रेंच क्रान्ति का जनक मानती है, एक इस प्रकार का व्यक्तित्व था जो समाज की वर्तमान खोखली सभ्यता के सख्त खिलाफ था। उसने इसलिये एक ऐसी विचारधारा को अभिव्यक्त किया था जिसमें तत्कालीन सभ्यता के खिलाफ आवाज बुलन्द की गयी थी। इसलिये रूसो की शिक्षा-प्रणाली में भी हम वर्तमान सभ्यता का विरोध उभरता पाते हैं। और चूंकि रूसो यह मानता था कि आदिम मनुष्य छल, छिद्र रहित सहज, सरल मानव था, इसलिये उसकी शिक्षा प्रणाली में भी हम सहज स्वाभाविक मानव वृत्तियो को उभारने का प्रयास पाते हैं।

तीसरा उदहरण हरबर्ट स्पेंसर का लिया जा सकता है। स्पेन्सर सुख-वादी विचारधारा का पोषक था। इसलिये उसकी मान्यता थी कि बालक सुख को ही वरण करता है और दुख को अपने जीवन में नहीं आने देता है। इसलिये उसकी शिक्षा-सम्बन्धी विचारधारा में भी हम यह दृष्टिकोण पाते हैं कि बालक को अपने सहज स्वाभाविक ढंग से सीखने की आजादी दी जानी चाहिये। यदि वह गलती भी करे तो उसे ताड़ना नहीं दी जानी चाहिये। अन्त में बालक इन गलतियों के बावजूद सही प्रकार का काम करने लगता है। इस प्रकार प्रकृति उसकी वास्तविक शिक्षक है। एक उदाहरण हम व्यवहारिकतावाद से भी ले सकते है। व्यवहारिकतावाद यह मानकर चलता है

कि सिर्फ वही वस्तु सत्य एवं सही है जो हमारे लिये व्यवहारिक रूप से उपयोगी हो। यही दृष्टिकोण हम अमेरिकन विचारों से उद्‌बुद्ध प्रोजेक्ट मेथड नामक शिक्षा प्रणाली मे व्यक्त हुआ पाते हैं।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि व्यक्ति का दर्शन ही उसके शिक्षा सम्बन्धी विचारों में व्यक्त होता है। कभी कभी यह भी होता है कि आदमी जिस प्रकार का कार्य करता है या जिस प्रकार की शिक्षा प्रणाली अपनाता है वह उसकी शिक्षा विचार प्रणाली पर प्रभाव डालती है। इस प्रकार कभी दर्शन शिक्षा पर प्रभाव डालता है और कभी शिक्षा-प्रणाली दर्शन पर प्रभाव डालती है। इस प्रकार दर्शन एवं शिक्षा-प्रणाली मे एक आन्तरिक एवं अन्योन्य सम्बन्ध पाया जाता है। इस विषय में हमें जर्मन दार्शनिक फिक्टे के निम्नलिखित वचन अनायास याद आ जाते हैं जो उसने अपने 'ऐड्रेस टु दि जर्मन नेशन' में व्यक्त किये है।[1]

शिक्षा और दर्शन के इस अन्योन्य सम्बन्ध को ध्यान मे रखने पर इस बात से इन्कार करना असम्भव होगा कि दर्शन एवं शिक्षा में अविच्छेद सम्बन्ध पाया जाता है। दुःख की बात है कि आजकल कुछ ऐसे विचारक भी पाये जाते है जो दर्शन को शिक्षा के लिये जरूरी नहीं मानते हैं। इनका विचार है कि दर्शन और शिक्षा एक दूसरे के बिना भी रह सकते हैं। कुछ ऐसे व्यक्ति भी हैं जो शिक्षा को महत्व ही नही देते हैं। जहां तक शिक्षा को महत्व न देने का सवाल है हमें इस बात को स्पष्ट रूप में समझ लेना चाहिये कि अरिस्टॉटल, लॉक, कॉंट, रूसो आदि इस तरह के नाम नहीं हैं, जिन्हें आज का कोई भी समझदार व्यक्ति नजर अन्दाज कर सकता हैं, और इन लोगों ने शिक्षा को महत्वपूर्ण माना है। इसलिये शिक्षा के महत्व को नजर अन्दाज करना एक भयानक गलती सिद्ध हो सकती है। शिक्षा ही एक ऐसा माध्यम है जिसके सहारे व्यक्तिगत जीवन में ऐसे संस्कार तथा परिष्कार समुत्पन्न किये जा सकते हैं जिनसे वह सफल व समृद्ध बन सकता है और चूँकि व्यक्ति ही समाज की इकाई है, इसलिये व्यक्ति में उत्पन्न होने वाला परिष्कार सामाजिक जीवन को समृद्ध एवं स्वस्थ बना सकता है।

जहां तक दर्शन का सवाल है हम उस बात को नहीं भुला सकते हैं कि शिक्षा-प्रणाली इसके अभाव में जर्जर एवं पंगु हो जायेगी, निष्प्राण हो जायेगी, निस्पन्द हो जायेगी। कुछ विचारक शिक्षा दर्शन के महत्व को बिल्कुल ही नजर अन्दाज करना चाहते हैं उदाहरण के लिये—फ्रीमेन का कथन है कि जैसे जैसे शिक्षा की प्रगति होगी वैसे वैसे शिक्षा दर्शन का महत्व घटता जायेगा।[2] इसी प्रकार अमेरिकन चिन्तक डिवी का कथन है

---

[1] "The art of education will never attain complete clearness in itself without philosophy. Hence there is an interaction between the two and either without the other is incomplete and unserviceable."
—Fichte, Address to the German Nation

[2] "I have tried to show that scientific methods have very important contributions to make to a wide range of educational problems, Second

Contd.........

कि दर्शन का शिक्षा के क्षेत्र में एक साधन से अधिक महत्व नहीं, इससे यह ध्वनित होता है कि शिक्षा दर्शन शिक्षा के लिये नितान्त आवश्यक नहीं कहा जा सकता है।[3] इसी प्रकार एक दूसरे शिक्षा विचारक टी० पी० नन का कथन है कि शिक्षा दर्शन का शिक्षा में कोई स्थान नहीं है, क्योंकि हम दर्शनो मे वैभिन्न पाते हैं। उनमे किसी भी एकता को पाना असम्भव है।[4] इन शिक्षा दर्शन सम्बन्धी आलोचनाओं के विषय में हम इतना ही कहना पसन्द करेंगे कि वे एक भ्रांति पर आधारित हैं। फ्रीमैन का यह कथन है कि शिक्षा प्रसार के साथ शिक्षा दर्शन का अवमूल्यन हो जायेगा नितान्त असत्य है। शिक्षा प्रसार के साथ, सच पूछा जाए तो, शिक्षा दर्शनका महत्व और भी अधिक हो जायेगा; क्योंकि आखिर हमें शिक्षा प्रणालियों का मूल्यीकरण करना ही पड़ेगा और यह देखना होगा कि शिक्षा गलत रास्ते पर तो नहीं जा रही है।

जहाँ तक डिवी की आलोचना का सवाल है, सिर्फ यह बतलाना पर्याप्त होगा कि शिक्षा के क्षेत्र में जिन लोगों ने योगदान दिया है वे वास्तविक रूप मे देखा जाये तो धन्धे से शिक्षक नहीं थे। रूसो, हर्बर्ट और स्वयं डिवी, जिन लोगो ने शिक्षा के क्षेत्र में क्रान्ति लाने का प्रयत्न किया व्यवहारिक रूप मे शिक्षक नहीं थे यदि डिवी की बात मानी जाये तो शिक्षा जगत में होने वाली प्रत्येक क्रान्ति सिर्फ व्यवसायिक शिक्षकों से आना चाहिये। मगर इतिहास का साक्ष्य इसके विपरीत है।

टी० पी० नन का कथन भी शिक्षा दर्शन को अनुपयोगी साबित नहीं कर सकता। यह मान भी लिया जाये कि शिक्षा दर्शनो मे विभिन्नता एवं मतभेद है परन्तु इससे यह कहां सिद्ध होता है कि शिक्षा दर्शन अनुपयोगी है? इससे यही प्रगट होता है कि हमें ऐसे शिक्षा दर्शन की खोज करनी चाहिये जो इन विरोधों से परे हो। फिर विभिन्नता तो मानव प्रकृति की देन है। स्वयं शिक्षा क्षेत्र मे यदि आप देखे तो विभिन्नतायें यहां वहां बिखरी दिखाई देगी। दर असल पूछा जाए तो जीवन के हर क्षेत्र में मावन प्रकृति से समुत्पन्न विविधता ही का राज्य है।

इसलिये हमें शिक्षा दर्शन का विरोध करने के स्थान पर एक प्रौढ़ एवं सुलझे शिक्षा दर्शन को जन्म देना चाहिये।

जे० एस० मिल का भी कुछ इसी प्रकार का कथन है[5]:--

I have tried to show that the philosophical method is at best a provisional method and that it is often substituted for the Scientific method in cases where the scientific methed is available and is more appropriate·"

—Freeman on ' The contribution of Science to Education" School and Society. vol.XXX, 27th July, 1929

[3] "The philosophy of education neither orginates nor seettles ends."
—Dewey. J., Sources of a Science of Education.

[4] "Percy Nunn, T., Education: Its Data and First Principles."

[5] "There is little chance of making due amends in the super-structure of a theory for the want of sufficient breadth in its foundation."
—Mill, J. S, A System of Logic: Ratiocinative and Inductive."

यहां पर एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कुछ व्यक्ति विज्ञान एवं दर्शन में विरोध का भाव पाते हैं। इनका विचार है कि विज्ञान जिस ज्ञान राशि को प्रदान करता है वह सन्देह-विहीन एवं यथार्थ-वादी होती है। इसके विपरीत दर्शन जो ज्ञान हमें प्रदान करता है वह कल्पना-जन्य होता है, अवास्तविक के रंग मे डूबा होता है। मगर ये धारणायें बिल्कुल गलत है। दर्शन और विज्ञान में कोई मूलभूत एवं गहरा विरोध नही है। बल्कि एक सीमा तक वे एक दूसरे की पूरक हैं। विज्ञान जिस विशिष्ट ज्ञान को विच्छिन्न रूप से प्रदान करता है उसे दर्शन जीवन की सम्पूर्णता के परिप्रेक्षक मे रखता है, ताकि उसका सही मूल्यांकन किया जा सके। फिर दर्शन उन मूलभूत मुद्दो को उठाता है जिनका उत्तर कोई विज्ञान नही दे पाता। इसका मतलब यह है कि दर्शन की प्रकृति किसी भी सत्य की गहराई में प्रवेश करने की होती है। इन्हीं कारणों से दर्शन मानव जीवन की एक रचनात्मक प्रकृति बन जाता है और विज्ञानों के विश्लेषण वादी स्वरूप को संश्लेषण के तार में पिरोकर, वह जो चित्र मानव समाज के सामने प्रस्तुत करता है वह एक अत्यन्त ही ज्ञानवान एव सर्जन-शील प्रयोग होता है। इसलिये अमेरिकन चिन्तक व्हाइटहेड ने अपनी यह मान्यता प्रस्तुत की है, कि विज्ञान दार्शनिक आवश्यकता को और भी आवश्यक बना देता है।[6]

इस प्रकार विज्ञान और दर्शन में कोई आन्तरिक मतभेद नही है। वे एक दूसरे के पूरक है। विज्ञान अपने विभिन्न क्षेत्र में प्रायोगिक विधियों के द्वारा किसी सत्य को प्राप्त करने की कोशिश करता है। दर्शन विज्ञान की अनुभूतियों को महत्व देता है। मगर वह आगे बढ़ता है। विज्ञान की पद्धति से अलग हटकर सत्य को विच्छिन्न रूप मे नहीं वरन् उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण करने की कोशिश करता है। इस प्रकार दर्शन में सश्लेषण का प्रयास है। जो विज्ञान मे प्रयुक्त की जाने वाली विश्लेषणात्मक पद्धति से बिल्कुल दूर है। इसलिये विज्ञान तथा दर्शन को एक दूसरे का पूरक समझा जाना चाहिये न कि विरोधी। इस दृष्टि से देखने पर शिक्षा विज्ञान के लिये शिक्षा दर्शन परम उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

हमें यदि शिक्षा और दर्शन के अविच्छिन्न सम्बन्ध को देखना हो तो इस बात से हमें स्पष्ट ही दिशा-दर्शन मिल जाएगा कि शिक्षा के क्षेत्र मे जितनी भी समस्यायें खड़ी होती हैं उनका हल शिक्षा-दर्शन के माध्यम से ही ढूँढा जा सकता है। हमें अरिस्टॉटल के उस कथन को नहीं भूलना चाहिये कि व्यक्ति चाहे या न चाहे मगर वह किसी प्रकार का दर्शन स्वीकार करने के लिये बाध्य है। इसलिये दर्शन से दूर जाने का प्रयास भ्रांत एवं गलत है। हमे सिर्फ यही प्रयत्न करना चाहिये कि जिस दर्शन से हम प्रेरणा

---

[6] "Science does not diminish the need of metaphysic......"
"Science and philosophy mutually criticise each other, and provide imaginative material for each other. A philosophic system would present an elucidation of concrete fact from which the Sciences abstract. Also, the sciences should find their principles in the concrete facts which a philosophic system presents"
—Whitehead, A. N. Adventures of Ideas.

दर्शन और शिक्षा के अटूट सम्बन्ध का अनुभव हमें तब स्पष्ट हो जाता है जब हम शिक्षा के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग पाठ्यक्रम (कुरीकुलम्) की चर्चा करते है। 'कुरीकुलम' शब्द का अर्थ होता है वह रास्ता जो हमें कहीं ले जाता है। इसलिये पाठ्यक्रम एक पथ मात्र है; मगर हम कौनसा रास्ता चुने यह तो सिर्फ दर्शन की सहायता से जाना जा सकता है।

ब्रिग्स ने अपनी "कुरीकुलम् प्रावलेम" नामक पुस्तक में पाठ्यक्रम के महत्व को सही रूप से समझा है उसका यह कथन पठनीय है।[7]

इसका मतलब यह है कि पाठ्यक्रम का निर्धारण करने में हमें ऐसे नेताओं की जरूरत होती हैं, जिनका दर्शन प्रौढ़ होता है। ऐसे ही लोग पाठ्यक्रम के निर्धारण में अपना योगदान योग्यता पूर्वक दे सकते है।

हरबर्ट स्पेन्सर ने भी पाठ्यक्रम के महत्व को समझा था और लिखा था कि पाठ्यक्रम में मानवीय जीवन की उन महत्वपूर्ण कार्य विधियों को उनके महत्व के अनुरूप विभाजित करना होता है जो मनुष्य के जीवन में प्रमुख रूप से अवतरित होती है। स्पेन्सर ने जो अपने स्वभाव से प्रकृतिवादी था और अपने नीतिशास्त्र में सुखवाद का समर्थक था, पाठ्यक्रम के महत्व को अच्छी तरह समझ लिया था। इसीलिये उसने यह लिखा था कि हमें मानवीय कार्यविधियों के महत्व को आधार बनाकर उनका वर्गीकरण करना चाहिये।[8]

उसने 'महत्व' शब्द का उपयोग किया है। और जब हम किसी वस्तु का महत्व आँकना चाहते हैं तो दर्शन की सहायता लेनी ही पड़ती है। यह बात जरूर है कि स्पेन्सर ने अपने स्वभाव के कारण दर्शन को प्रमुख स्थान नहीं दिया है। स्पेन्सर ने व्यक्ति को स्वभाव से ही व्यक्तिवादी तथा स्वार्थी माना है। वह यह मानकर चलता है कि शिशु सुख को ही प्राप्त करना चाहता है। उसकी ये बातें उसकी ही उक्ति के खिलाफ हैं कि हमें कार्य के महत्व के अनुरूप उनका वर्गीकरण करना चाहिये। उसका दृष्टिकोण एक अन्य दृष्टि से भी अवांछनीय है। उसने शिक्षा के क्षेत्र में सांस्कृतिक एवं सामाजिक प्रभावों के मूल्यों को पूरी तरह नजर अन्दाज कर दिया है। निश्चय ही यह उपयुक्त नहीं।

सुप्रसिद्ध अमेरिकन चिन्तक एवं शिक्षा-शास्त्री डिवी पाठ्यक्रम के महत्व को पूरी तरह समझता है और वह जब यह कहता है पाठ्यक्रम में आवश्यक चीजों को पहला स्थान दिया जाना चाहिये तथा संस्कार डालने वाली वस्तुओं को द्वितीय स्थान दिया

---

[7] "It is just here that education seriously needs leaders—leaders who holds a sound comprehensive philosophy of which they can convince others, and who can direct its consistent application to the formulation of appropriate curricula"
—Briggs, B. H., Curriculum Problems.

[8] "Our first step must obviously be to classify, in order of their importance, the leadings kinds of activity which consititute life."
—Spencer, Education: Intellectual, Moral and Physical.

जाना चाहिये।[9] तब वह पाठ्यक्रम को दर्शन पर पूरी तरह आधारित कर डालता है।

इस प्रकार जहाँ तक पाठ्यक्रम का सवाल है, शिक्षा-दर्शन को महत्व देना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार जब हम शिक्षा के क्षेत्र में कल्पना के स्थान को समझने का प्रयास करते हैं या बच्चों के शिक्षण में परीकथाओं की चर्चा करते हैं, तो ये सब सवाल शिक्षा-दर्शन के आधार पर ही हल किये जा सकते हैं। कल्पना के आधार पर ही हम छात्र को, जीवन की भ्रांत एवं अनुपयुक्त वास्तविकताओं से ऊंचा उठाने के लिये आदर्श के लोक में ले जा सकते हैं। यदि शिक्षा आदर्श-वादिता के स्वर को न अपनायें तो वह मनुष्य के जीवन में उस महानता की सर्जना नहीं कर सकती जो व्यक्ति के जीवन में बहार लाती है और सामाजिक जीवन को समृद्ध करती है।

पाठ्यक्रम के बाद हमारा ध्यान सहज ही पाठ्यपुस्तकों की ओर आकर्षित हो जाता है। पाठ्यपुस्तकों के निर्माण में दर्शन की सहायता के बिना आगे बढ़ना असम्भव नहीं तो मुश्किल जरूर है। इस संदर्भ मे हमें ब्रिग्स का यह कथन पूरी तरह समझ लेना चाहिये कि बिना एक समुचित एवं तर्क-संगत दर्शन को आधार बनाये पाठ्यपुस्तकों का चयन नहीं किया जा सकता।[10]

पाठ्य पुस्तकों का चयन इस प्रकार एक प्राणवान एवं सशक्त दर्शन की अपेक्षा करता है। यदि इस प्रकार के दर्शन का सबल नहीं लिया जाए तो उचित पाठ्यपुस्तकें विद्यार्थियों को उपलब्ध नहीं हो सकेंगी जिसका भयंकर परिणाम यह होगा कि प्रगति का रास्ता ऊबड़-खाबड़ मार्गों में अटक जायेगा।

पाठ्य पुस्तकों के बाद एक और महत्वपूर्ण वस्तु की चर्चा की जा सकती है जो शिक्षा—शास्त्र की आधारशिला कही जा सकती है। वह वस्तु है शिक्षण पद्धति। इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता है कि शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षण-पद्धति का महत्व पढ़ाये जाने वाले विषय से कम नहीं है।

शिक्षण पद्धति का एक महत्वपूर्ण भाग यह है कि एक शिक्षक को किस सीमा तक शैक्षणिक कार्यक्रम में अपना निजी योगदान देना चाहिये। शिक्षक का हस्तक्षेप किस सीमा तक तर्क-संगत एवं न्याय-संगत है यह एक महत्वपूर्ण विषय है। इस प्रश्न पर सबका एक मत नहीं है। कुछ विद्वानों का यह मत है कि शिक्षक को शैक्षणिक कार्य में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। इसके विपरीत अन्य विद्वानों का मत है कि यह हस्तक्षेप आवश्यक है, जरूरी है। रूसो, फिक्टे, फ्रोइबेल, इस मत को व्यक्त करते हैं कि शिक्षा

---

[9] Dewey, Democracy and Education.

[10] "Everyone familiar with the ways in which text book are selected must be convinced of the need for ideals and standards. The reason they have not been prepared and accepted in practice is the same as that for slow progress in curriculum revision: they must be underlain by an entire and consistent philosophy of education"
—Briggs, Curriculum Problems.

एव अवांछनीय है। रूसो, जैसा कि सर्वविदित है, प्रकृतिवादी था और इसलिये उसकी यह धारणा थी कि शिशु नैसर्गिक रूप से ही सद्वृत्तियों की ओर उन्मुख होता है। इसलिये शिक्षा में शिक्षक का हस्तक्षेप न तो तर्कसंगत ही है और न उचित है। इसी प्रकार फ्रोइबेल जैसे आधुनिक शिक्षा-शास्त्री का भी मत है। वह 'पेसिव एज्युकेशन' या निष्क्रिय शिक्षण का हिमायती है। इन विद्वानों का, अर्थात् रूसो फिक्टे फ्रोइबेल का मत शिक्षक के हस्तक्षेप के खिलाफ इसलिये था कि उनके मतानुसार शिशु सहज रूप से अच्छाई की ओर प्रवृत्त होता है इसके विपरीत मैंडम माटेंसरी इस मत की थीं कि पाठशाला इस ढग की होनी चाहिये जिसमें बच्चे को एक आदर्श वातावरण उपलब्ध हो सके। जब वातावरण आदर्श होगा तब शिशु स्वयं आदर्श शिक्षा की ओर पैर बढ़ाता जायेगा। ऐसी स्थिति के अभाव में शिक्षक का हस्तक्षेप बालक के विकास में प्रगति के स्थान पर अवनति तथा उत्थान के नाम पर पतन कर सकता है।

जब हम इन विद्वानों के मतों की समालोचना करते है जो शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षक के हस्तक्षेप को अनुचित मानते हैं, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि शिक्षक के हस्तक्षेप को पूरी तरह अवांच्छनीय मानना गलत है। आखिर शिक्षक शिक्षा जगत में द्रष्टा मात्र ही रह सकता। उसके लिये यह आवश्यक एवं वांच्छनीय है कि वह विद्यार्थियों को समय आने पर हमने समझदारी-पूर्ण हस्तक्षेप के द्वारा उचित दिशा प्रदान करे। शिक्षक के लिये विवेकी होना जरूरी है, ताकि वह उन अवसरों को पहचान सके जब शिक्षक का हस्तक्षेप जरूरी हो जाता है। उसे यह भी पता होना चाहिये कि विद्यार्थी का विकास किस दिशा में किया जा सकता है और किस आदर्श की ओर या लक्ष्य की तरफ उसे उन्मुख किया जाना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि शिक्षक को दर्शन का मार्ग अपनाना ही चाहिये क्योंकि दर्शन केवल तर्क-सम्मत, सुस्पष्ट एवं समझदारी पूर्ण चिन्तन का ही नाम है। इस तरह शिक्षक को एक द्रष्टा बनाने के बजाय हमें उसे एक विवेक-शील नेता का पद देना चाहिये, जो शिशु के विकास में सुमुचित योगदान अवसर पड़ने पर दे सके, मार्ग बता सके।

किलपट्रिक ने एक नया शब्द प्रयुक्त किया है, वह है प्रणाली का दर्शन (फिलॉसफी ऑफ़ मेथड) प्रणाली का महत्व तो शिक्षा के क्षेत्र में सर्व विदित है ही। पद्धति का, प्रणाली का लक्ष्य होता है। विद्यार्थी तथा पढ़ाई जाने वाली विषय वस्तु में तारतम्य स्थापित करना तारमेल बैठाना और यह कार्य तब तक सम्पन्न नहीं किया जा सकता जब तक समस्त शिक्षा-प्रणालियों का हम एक तर्क-सम्मत एवं समझदारी पूर्ण विवेचन नहीं कर डालते। इसी सम्यक् विवेचन को हम दूसरे शब्दों में प्रणाली-दर्शन कह सकते हैं।

और तो और हमें शिक्षा के क्षेत्र मे छात्र की बौद्धिक उपलब्धि के नापतौल के लिए भी दर्शन की सहायता लेना आवश्यक हो जाता है। जब भी हम शिक्षा-जगत की या छात्रों की मानसिक तथा बौद्धिक उपलब्धियों की नापतौल करना चाहते हैं तो हमें

अपने नापतौल के लिये किसी उद्देश्य को अपनाना होता है। उदाहरण के लिये यदि हमें बच्चों की शैक्षणिक प्रगति को आँकना हो तो उसका मापदण्ड किसी उद्देश्य के आधार पर ही हम निर्धारित कर सकते हैं।[11] यदि हम शिक्षा को सिर्फ आर्थिक दृष्टि-कोण से देखें तो हमारा मापदण्ड अलग होगा, और यदि हम शिक्षा का उपयोग छात्र के सामाजीकरण से करते है तो हमारा मापदण्ड अलग होगा। जीवन के क्षेत्र में जब भी कोई मापदण्ड किसी भी क्षेत्र में अपनाया जाता है, तो उसका मूलाधार कोई उद्देश्य ही होता है. इस सन्दर्भ में सम्भवतः इस छोटे से उदाहरण से यहाँ तथ्य की बात समझ में आ सकती है कि जब हम किसी कमरे के लिये दरी का चयन करते हैं तो हमारे सामने उस कमरे की लम्बाई चौड़ाई का नक्शा खिच आता है। एक उदाहरण और ले लिया जाए। जब हम टेबल का चयन करते हैं तो हमारे उद्देश्य साफ रहता है कि उसे लिखने के लिये ले रहें हैं या खेलने के लिये। एक उद्देश्य की तस्वीर हमारे दिमाग मे झूलती रहती है। इस तरह मापदण्ड के क्षेत्र में भी हमें दर्शन का उपयोग एवं प्रयोग करना जरूरी हो जाता है, क्योंकि उद्देश्य-निर्धारण हमारे दर्शन से प्रभावित अवश्य ही होता है। एक और विषय है जो शिक्षा के लिये बहुत ही आवश्यक समझा जाता है और समझा जाता रहा है, वह विषय है अनुशासन। अनुशासन की समस्या शिक्षाकी मूल समस्या है शिक्षा का एक उद्देश्य छात्र के जीवन में अनुशासन का प्रकाश लाना है। जैसा कि स्पष्ट है, अनुशासन में किसी आदर्श की गन्ध हमेशा मौजूद रहती है।

हरबर्ट स्पेन्सर के अनुसार अनुशासन का रूप राजकीय प्रणाली पर अवलम्बित होता है। जिस प्रकार का राज्य होता है उसी प्रकार का अनुशासन शिक्षा के माध्यम से मूर्त किये जाने का प्रयास किया जाता है। यदि शासन निरंकुश हुआ[12] तो वह छात्रों मे राज्य के प्रमुख के प्रति वफादारी शिक्षा के माध्यम से उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार की स्थिति हिटलर के जमाने मे जर्मनी में रही थी, और यही स्थिति आजकल चीन में उपस्थित नजर आती है। कहा जाता है कि चीन में मोत्सेतुंग के प्रति वफादारी का पाठ बच्चों को पढ़ाया जाता है। यदि राज्य प्रजा-तन्त्रीय होता है तो वह बच्चों में प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के प्रति आदर की भावना पैदा करने की कोशिश करता है। इस प्रकार अनुशासन राजकीय शासन प्रणाली के

---

[1] "If measurement is to continue to play an increasingly important role in education, measurement workers must be much more than technicians. Unless their efforts are directed by souud educationol philosophy, unless they accept and welcome a greater share of responsibility for the selection and clarification of educational objective, unless they show much more concern with what they measure as well as with how they measure it,much of their work will prove futile or ineffective."
—Lindquist. E. F., Educational Measurement.

[12] "There cannot fail to be a relationship between the successive systems of education and the successive social states with which they have co-existed."
—H. Spencer, Education: Intellectual and Physical.

अनुरूप होना है। मगर सिर्फ राज्य को ही अनुशासन के रूप निर्धारण में प्रभावशील तत्व मानना गलत होगा। अनुशासन के स्वरूप के निर्माण में साधारणत: व्यक्ति की मानवप्रकृति के विषय में धारणायें, प्रचलित विचारों, शिक्षा-विधी तथा समाज में उसका प्रभाव, सभी का असर पड़ता है, यह बात साफ है। उदाहरण के लिये, रूसो स्पेन्सर आदि प्रकृति-वादी विद्वान जिनकी धारणा है कि मनुष्य स्वभाव से ही अच्छाई की ओर प्रवृत्त होता है। यह सिद्ध करने की कोशिश करते हैं कि छात्र की प्रवृत्तियां स्वाभाविक रूप से ही सद् या अच्छाई की ओर दौड़ती है। इसलिये शिक्षक को किसी भी हालत में अपना हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये और न ही उन्हें किसी विशिष्ट दिशा में मोड़ने का प्रयत्न किया जाना चाहिये। इसके विपरीत उपयोगितावादी विद्वान जिन्हें अंग्रेजी में प्रेग्मेटिक्ट कहा जाता है, इस मान्यता को लेकर चलते है कि जो कुछ समाज अच्छा समझता है और महत्वपूर्ण मानता है। शिशु को उसी दिशा में प्रेरित किया जाना चाहिये। विलियम जेम्स तथा अन्य विद्वान बहुत कुछ इसी प्रकार के सिद्धान्त के परिपोषक हैं। प्रकृतिवादी तथा व्यवहारवादियो के विपरीत आदर्शवादी विद्वान कुछ अन्य प्रकार की सलाह शिक्षा के क्षेत्र में देते हैं। उनका विचार है कि मनुष्य स्वभाव से ही असंस्कृत होता है। अपनी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाना वह नहीं चाहता हैं इसलिये वह बहुत कुछ जंगली प्रकृति का होता है। शिक्षा का कर्तव्य है कि वह शिशु को शनैः शनै. सभ्यता की ओर उन्मुख करे और जो कुछ उसमे असंस्कृत है उसे संस्कृत बनाये। एक वृक्ष को भी जिसका स्वभाव बढ़ना है यदि माली योग्य दिशा प्रदान न करे तो उसका विकास गलत प्रकार का हो सकता है। इसलिये उसे सहेजना जरूरी हो जाता है इसी प्रकार शिशु की प्रवृत्तियों को यदि हम उचित शिक्षा के द्वारा दिशा नहीं देंगे तो शिशु की गति संस्कृति के स्थान पर असंस्कृति, और प्रगति के स्थान पर अवगति की ओर बढ़ने लगेगी इसलिये राधाकृष्णन् ने शिक्षा को द्वितीया जन्म कहा है। पहला जन्म माता पिता देते हैं। मगर शिशु का सांस्कृतिक जन्म शिक्षक ही दे पाता है। क्योंकि शिशु से अपेक्षा करना कि वह यह विवेक रखे कि किस प्रकार का व्यवहार उत्तम एवं वांछनीय हे, गलत होगा, इस प्रकार एक आदर्शवादी विद्वान अनुशासन का यही मतलब समझता है कि छात्र में उसके जीवन में उन आदर्शों को जगाया जाए जो सोये हुये हैं; उन अच्छाइयों के बीज बोये जाएं जोकि जीवन में हरियाली एवं बसन्त ला सकें उसका प्रबुद्ध व्यक्तित्व समाज को आश्रय एवं उन्नति प्रदान कर सके।

इस प्रकार अनुशासन का रूप एवं स्वरूप इस बात पर निर्भर करता है कि शिक्षा-शास्त्री मानव प्रकृति को किस रंग में रगा मानते हैं।

अनुशासन के विषय में अन्तिम निर्णय इन समस्त दृष्टिकोणों के दार्शनिक विवेचन के माध्यम से ही किया जा सकता है। इस प्रकार हम अनुशासन के क्षेत्र में भी दार्शनिकता को आवश्यक मानने के लिये बाध्य हैं।

हमने शिक्षा के स्वरूप, पाठ्यक्रम, अनुशासन इत्यादि बातों के विवेचन के समय यह भली भाँति समझ लिया हैं कि दर्शन इन तमाम क्षेत्रों में आवश्यक आवश्यकता है। इसलिए शिक्षा के क्षेत्र में बिना दर्शन का प्रकाश लिए आगे नहीं बढ़ा जा सकता है।

यहां यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि मनुष्य में दर्शन की वृत्ति भी स्वभाविक रूप से पाई जाती है अरिस्टॉटल ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना दर्शन होता है। इसलिए प्रश्न दर्शन को स्वीकार करने का नहीं है। प्रश्न यह है कि किस प्रकार परिपुष्ट दर्शन को प्राप्त किया जाए

इसी प्रकार शोपेन हॉवर ने लिखा है कि प्रत्येक व्यक्ति जन्मजात दार्शनिक होता है। ह्यूम ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हुमेन अण्डरस्टेन्डिग' में लिखा है कि हमें इस बात से सावधानी रखना चाहिये कि कहीं भ्रांत एवं दोषपूर्ण दर्शन को हम स्वीकार न कर डालें। इस तरह शिक्षा के क्षेत्र में दर्शन से दूर भागना असम्भव है। अच्छा तो यह होगा कि हम बजाय दर्शन के शिक्षा के क्षेत्र से दूर भागने के यह प्रयत्न करें कि एक प्रोढ़, सुलभ, दर्शन की सहायता से शिक्षा के अन्तिम स्वरूप, उसके अन्तिम लक्ष्य, उसकी विभिन्न प्रणालियों का रूप, पाठ्यक्रम का बौद्धिक विश्लेषण, तथा अनुशासन के महत्व को समझने की दिशा में सक्रिय हो। इससे शिक्षा के क्षेत्र मे किसी प्रकार की गन्दगी नहीं आयेगी उसका स्वरूप निर्मल एवं कीर्तिमान होगा। उसकी प्रणालियां सुलझी एवं प्राण-वनि होंगी, और वह वैयक्तिक एवं सामाजिक क्षेत्रो में प्रगति के लिये चरण रखने में मनुष्य की महायक हो सकेंगी।

आज जब व्यक्ति जीवन में भ्रांति एवं क्लान्ति से पीड़ित है, जब समाज भ्रष्टाचार, दुराचार एवं अनाचार की व्याधियों से ग्रस्त है, जव राजनीति मनुष्य के जीवन को उभारने एवं संवारने के बजाय उसे नष्ट-भ्रष्ट कर रही है, जब विज्ञान मनुष्य की समृद्धियों को बढ़ाने के बजाय, हवा, पानी तथा पृथ्वी पर जहर के बीज बो रही है, तब निश्चय हमें ही इस बात का पूरी तरह चिन्तन एवं मनन करना होगा कि किस तरह इस स्थिति से हमें मुक्ति मिल सकती है। और चूंकि शिक्षा ही वह माध्यम है जिसकी सहायता से हम मानव को किसी विशिष्ट दिशा में ले जा सकते हैं। इसलिये आज की परिस्थिति में शिक्षा के लिये दर्शन एक अत्यन्त ही आवश्यक वस्तु बन गया है। इस चीज से इन्कार नहीं किया जा सकता है हमें बड़ी सावधानी एव समझ के साथ एक समुचित शिक्षा-दर्शन की ओर प्रयत्नशील होना चाहिये। तभी हम शिक्षा के क्षेत्र में उन बीजों को बो सकेंगे, कालान्तर में जो वृक्ष बनकर व्यक्ति व समाज के जीवन में पतझड़ के बजाय वसंत, नाश के बजाय सृजन, क्रंदन के बजाय हास की सर्जना कर सकेंगे।

मनवेन्द्र नाथ राय का बौद्धिक समाजवाद

धर्मेन्द्र गोयल

भारतीय चिन्तन के पिछले कुछ शतको में जिन जिन बुद्धिवादियों ने परम्परा एवं रूढ़िगत समाज व्यवस्था की अनिवार्य आलोचना प्रस्तुत की है, उन सभी विचारकों में मनवेन्द्र नाथ राय (मूल नाम नरेन्द्र नाथ भट्टाचार्जी) का अपना विशेष महत्व है। क्रिया, एवं मनन का जितना ओजपूर्ण सम्मिश्रण उनके महान जीवन में मिलता है उतना अन्यथा दुर्लभ है। सशस्त्र क्रांति के संगठन के सम्बन्ध में भारत से जो वे २०वीं सदी के आरम्भ में विदेश गये तो काफ़ी अर्से तक लेनिन, स्तालिन, एवं बारोदिन, के सहकारी रहे। वहां उन्होंने विचार और क्रिया दोनों में आधुनिक क्रांति इतिहास को एक नया मोड़ दिया। चीनी सामजवाद के विधायक एवं परामर्शदाता के रूप में ऐशिया के पिछले दौर पर उन्होंने एक मजबूत प्रहार किया। यह आवश्यक नहीं था, क्योंकि वह एक महान क्रान्तिकारी रहें हैं इसलिये वह महान विचारक भी हों, वैसे ऐशियाई क्रान्ति में क्रिया एवं विचार एक ही व्यक्ति में कई बार उपस्थित रहे हैं। हमारी राष्ट्रीयता के निर्माताओं में दादा भाई नारोजी लोकमान्य तिलक, अरविन्द घोष, महात्मा गाँधी एवं सुभाष बाबू भी अपनी भिन्न भिन्न दृष्टियों में विचारक कहे जा सकते हैं। चीनी मार्क्सवाद को हम अच्छा कहें अथवा बुरा वह भी एक सशक्त प्राणवान विचारक एवं क्रांतिकारी के सतत् संघर्ष का द्योतक है। राय की कृतियों मनन् एव व्याख्या की भी उतनी ही उपज है, जितनी की उनके बहुमुखी एवं अनेक विश्व प्रसरत अनुभवों की। सोते रूस की अंगड़ाई लेती क्रान्ति का क्रेमलिन से, उन नाजुक क्षणों में भुखमरी एवं वीभत्स पूँजी वादी आंतरिक युद्ध की घड़ियों को राय सहकारी के रूप में अनुभव कर सके थे। लेनिन एवं क्रांति स्थापकों के पारस्परिक संघर्षों, कठिनाईयों एवं राजनीति की क्रियात्मक ग्रन्थियों का बड़ा गहरा, मजा हुआ एवं प्रगतिवादी दृष्टिकोण, उनकी आजीवन बुद्धिवादी आलोचना समाज चिन्तन को देन है। सामाजिक चिन्तन पर उनके दार्शनिक विवेचन सदैव खुले हुये हैं, तर्क एवं विज्ञान की मात्र आस्था पर उनका विचारक खड़ा है। इसी

निष्ठुर तार्किकता के फलस्वरूप भारतवर्ष की इस महान बौद्धिक निधि को हमारे भाव-प्रधान समाज विधायक और जन साधारण न समझ पाये और न समझने की विशेष रूप से इच्छुक ही हैं। तेज चीरती बुद्धि ढकोसलों और शब्द जाल को फाड़ती चली जाती है, और समाज की कठोर वास्तविकता को अन्त तक निर्मम वैज्ञानिक के कटु सत्य की भांति अछूना, निर्लिप्त एवं अस्पृह खड़ा करती है।

हमें, आज वैज्ञानिक विवेचन से मुँह नही मोड़ना चाहिये, परम्परा के वेद वाक्यों का आज जमाना लद चुका। सही पर नयी गुलामी आई है अमरीकी जबान में 'समाज विज्ञान'। यह भी एक नया घोरतम अनावश्यक बेइमानी तथ्यों की कांट छांट से भर-पूर फैशन है, जिज्ञासा एव अर्थ को भारी शब्दों की रचना में निगल जाने वाला यह शास्त्र तेज से तेज मस्तिष्क रखने वालों को पैर ने उठाकर एकदम पटक देता है, सार्थक एवं अनर्गल अनियंत्रित घटनाओं को तूल देकर चर्चित करना मात्र इसे अपना ध्येय रखा है। बड़े खर्चे पर सभी विधियों पर ३४५ भारतीय अनुसूचित जातियों की रीति रिवाजों की तमाशे बाजीयों की जाँच पड़ताल हो रही है। और चिन्तन के दिवालिये-पन की मोहर लगाने वाली इस अशुद्ध वैज्ञानिकता की आज बाढ़ है, तथ्य की 'तथ्यता' भी ज्ञान से ही प्रकाशित हो सकती है, इस साधारण तम चिन्तन विवेचन की भी आज के समाज विज्ञान में जगह नहीं है। राय इस प्रकार की वैज्ञानिकता से त्रस्त नहीं थे, भ्रम न हो जाये इस लिये पहले ही स्पष्ट कथन करना आवश्यक था।

राय के द्वारा लिखे ग्रन्थ मूलतया दो प्रकार के हैं एक वह जिनमे उन्होंने योरप एवं ऐशियाई क्रांति का ऐतहासिक अध्ययन किया है[1]। दूसरे वह पुस्तकें जिन में उन्होंने समाज की गति और लक्षण दोनों को ही पैनी सूझ बूझ से नवीन समाज दर्शन का रूप दिया है। पहले प्रकार के ग्रन्थो में सामाजिक विवेचन विषय संदर्भ में घुल मिल कर प्रस्तुत होता है, दूसरे प्रकार के ग्रन्थों को व्यापक विवेचन और संतुलित दृष्टिकोण के सहारे पूर्ण रूप से अबोध वैज्ञानिक समाज दर्शन का विस्तृत सफलतापूर्वक निर्माण किया हैं।

प्रारम्भ में राय का दृष्टिकोण मार्क्सवादी था, परन्तु समाजवाद के पिछले इतिहास का अध्ययन उन्हें मार्क्स के सिद्धान्तों तक ही सीमित न रख सका। उन्होंने पिछले कुछ वर्षों में जिस दृष्टिकोण की चर्चा अपने ग्रन्थों में की है वह बौद्धिक मानवबाद कहा जा सकता है। मौलिकता एवं स्पष्ट विवेचन उनकी शैली को समाज चिन्तन के क्षेत्र में वेजोड़ बना देते हैं। 'क्रान्ति' और 'इतिहास' के गहरे विवेचन उनके समाज चिन्तन के दो विशेष गुण हैं। समाजवाद एवं 'आर्थिक समानता' एक साथ ही एक प्रशासकिय रचना में उपस्थित किये जा सकते हैं अथवा नहीं, इस पर उन्होंने जो तर्क दिये हैं वह सिद्ध करते हैं कि जो कुछ भी प्रयत्न क्रान्ति के उपरान्त रूस में अथवा

---

[1] देखो प्रथम History of Russian Revolution और Revolution and Counter—Revolution in China, तथा दूसरी Reason Romanticism and Rovolution 2Vols· Materialism, 'Diaris Prisoners' '2 Vols. Indias Message'.

अन्यथा हुये है उनसे एक ही निष्कर्ष निकलता है कि क्रान्तियेतर व्यवस्था अपनी आत्म रक्षा के प्रयास में उन सभी 'मूल्यों' को मेट देती है जिनको स्थापित करने के लिये क्रांति' हुई थी। परन्तु राय इससे यह नहीं सिद्ध करते कि 'क्रांति' हो ही नहीं सकती, अथवा होनी ही नहीं चाहिये, केवल उस सारी प्रक्रियाओं के भीतर नीहित सम्भावनाओं को स्पष्ट करना, एवं विवेचन यदि कुछ सार्वभौमिक सिद्धांत रच सकें तो उनकी रचना करना अपने अध्ययन का ध्येय स्थापित करते है। राय की विचार प्रणाली वैज्ञानिक शब्दावली से पूर्ण तथा सम्प्रक्त नहीं है, परन्तु मनोविज्ञान, मानव शास्त्र, एवं इतिहास के जिन आधुनिक सिद्धांतों की आज के युग में चर्चा है उन सभी दृष्टिकोणों को सहज सहानुभूति के साथ राय अपनाते हैं, मौलिकता, उनकी दार्शनिक अलिप्तता में है, वह अनेक समस्याओं और विचार धाराओं को उनके विभिन्न मूल्य में नापते जोकते है और एक वैज्ञानिक समाज सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं। उक्त सिद्धांत का ही अध्ययन प्रस्तुत लेख का विषय है। एक बात और, राय लेनिन के कथन ······ क्रांति के बारे में विचार करने के स्थान पर स्वयं क्रांति करना अधिक मूल्यवान है[2] पूर्णतया स्वीकार करते थे, और यदि कुछ असहिष्णु आलोचक यह कहें कि राय भी अन्त तक केवल बौद्धिक-पैंतरेबाज बन सके तो उक्त प्राणवान परन्तु असफल क्रांतिकारी विचारक के प्रति एक बहुत अभद्र विद्रुप भले हो जाय, पर आलोचना कि जड़ता का भी संकेत मिले बिना न रहेगा।

राय किसी भी प्रकार के 'अप्रत्यक्ष-तत्व' की सत्ता स्वीकार नहीं करते। उन्होंने पदार्थवादी भौतिक विज्ञान का सांगोपाँग विवेचन उक्त ग्रन्थ Materialism) में उपस्थित किया है, उक्त चिन्तन में आधुनिक मानववाद का तार्किक आधार आधुनिक विकासवाद एवं भौतिक विज्ञान पर स्थिर है। वहीं पर उन्होंने मार्क्सवादी सिद्धांत द्वन्द्वात्मक-भौतिकवाद की जड़ता को भी प्रगट किया है, और अपने नवीन सिद्धांत तार्किक भौतिकवाद को स्थापित किया है। संक्षेप में राय के मत से 'तत्व' सदैव क्रियाशील है, उक्त क्रिया के फलस्वरूप विभिन्न आयामों में विभिन्न रचनायें प्रगट होती हैं, पारस्परिक अवगुंठन इन विभिन्न आयामों को एक निश्चित जटिलता दे देता है, और जैसे हो चिन्तन की उपलब्धि मानवता को प्राप्त होती है, इसके क्रियात्मक प्रयास से संस्कृति, विधि, व्यवहार का बोध, राजनीति, एवं जैविक पूर्ति के प्रयास जोर पकड़ते हैं। जीवमात्र में प्रजनन क्रिया के कुछ सीमित संगठन खड़े होते रहे है, परन्तु विश्व योजना में मानव क्रांति प्रथमतय नियोजित समाज रचना गढ़ती है और मानव मन चेतन एवं भौतिक उद्वेगों को एक आकार देकर अपने जैविक जगत पर तर्क एव बोध की श्रेष्ठता स्थित करता है। परन्तु चैतन्य के प्रादुर्भाव के फलस्वरुप अविकसित जैविक सम्भावनायें उदभासित होती है। संस्कृति, कला एवं विज्ञान इस तन्द्रिल चैतना का क्रमश: प्रस्फुफ्टन मात्र है, परन्तु भाषा, परम्परा, स्मृति, एवं इतिहास इस प्रस्फुटन को न केवल स्वच्छन्द विकास पर बढ़ाते ही हैं, बल्कि यदा कदा इसके प्रशस्त मार्ग में बाधा

---

[2] देखिये लेनिन:—'State and Revolution'.

भी डालते है। उक्त गतिरोध का स्वरूप भिन्न भिन्न युगों में आत्म प्रवंचना, मूल्यात्मक विरोधाभास एवं सैद्धांतिक पक्षपात का कारण होता रहा है। मन की अपनी आंतरिक वृत्तियों को निर्धारित करना संस्कृति सोपान में अनिवार्य है, राय, पदार्थवादी चिन्तन को सर्वप्रथम चेतना की आत्म क्रियाशीलता से परिचित कराते हैं, और इसी चेतन क्रियात्मकता का विवेचन उनके बौद्धिक मानववाद का शिलान्यास करता है। मानव की आन्तरिक प्रज्ञा का जैविक आधार स्वीकार करते हुये भी राय ने अवैज्ञानिक जड़वादी चिन्तन के दुराग्रह से अपने समाज सिद्धांत को मुक्त रख पाया है। इस केन्द्रीय तथ्य को मूलतया ग्रहण कर सकने के फलस्वरूप राय की व्याख्या मानव के संस्कृत एवं परिष्कृत स्वभाव का यथार्थवादी स्तर पर वैज्ञानिकता का अच्छा दृष्टाँत है। जहाँ आत्म निहित क्रिया मूल्य निर्माण करती है वह ही उनका ध्वंस एवं गतिरोध कर पाने में भी सफल है केवल पदार्थ न 'मूल्य' दे सकता है और न ही बाधा डालने में भी समर्थ हो सकता है। राय के द्वारा समाज की परम्परा एवं व्यवस्था का यह यथार्थवादी इतिहास पूर्णतया स्पष्ट होता हैं। वह अविचल एवं अनैतिहासिक दृष्टिकोण को भली प्रकार सुलझाने का प्रयत्न करते हैं, सामाजिक आयाम में प्रत्येक परम्परा अपने क्रियाशील युग में एक स्पष्ट आवश्यकता को पूर्ण करती है, जोकि युग के धरातल पर उस सगठन को जन्म देती है जो समाज की रचना एवं सत्ता का दृष्टिकोण रचता है। युगीन इतिहास इस प्रकार की समाज व्यजना एवं ऐतिहासिक घटनाक्रम के परस्पर सम्मिश्रण का कथानक होता है, तार्किक पदार्थवाद का मौलिक अन्तर उसकी सीधी तथ्यात्मक विवेचना है- मार्क्स एवं अन्य सामाजिक चिन्तन सदैव मूल्यों को अविचल एवं नित्य स्वीकार करते है[3]। भले ही किन्हीं दो समाज दर्शनो मे 'मूल्य' का स्वरूप भिन्न हो) जिनको कि प्रत्यक मानवीय समाज विभिन्न सीमा तक अपना पाते हैं। इस प्रकार की अपरिवर्तनवादी समाज व्याख्या प्रतिक्रियावादी एवं प्रगतिवादी दोनों ही प्रकार के समाज विचारकों में उपस्थित है। यदि सभी आदर्शवादी सामाजिक नैतिकता को एक चिरतंन बोध पर आश्रित देखते हैं तो बहुतायत यथार्थवादी भी मानव के द्वारा अभिजात मूल्यों को एक पूर्व निश्चित दिशा में गतिशील मानते हैं। दोनों ही प्रकार के दृष्टिकोण राय भ्रामक मानते हैं। क्रांतिबोध का सफल स्वरूप मनुष्य की आँतरिक एवं अबाध परिष्कृत विकासोन्मुख चेतना में ही निहित होना चाहिये। उक्त चेतना का सम्पूर्ण अर्थ अनैतिहासिक (तदनुसार अवैज्ञानिक) कालातीत एवं स्पष्ट यथार्थ से अलग रख कर कोई भी नहीं समझ सकता। मनुष्य की क्रिया उसकी रचना को गढ़ती ही नहीं दिशा भी देती है, परन्तु साथ ही साथ चेतन मन एक ऐतिहासिक व्यापार भी है, स्मृति एवं परम्परा क्रिया के धरातल पर भी उसे किसी एक ही के द्वारा निर्धारित नहीं होने देते, वास्तविक धारा कहीं अधिक गूढ़ होती जाती है, जब एक विस्तृत क्रिया का क्षेत्र केवल एक व्यक्ति न होकर, एक संगठित अथवा विगडित 'समुदाय' से होता है। इन परिस्थितियों को राय ने दृष्टांतों के द्वारा स्पष्ट किया है और एक भी अधूरी विचार प्रणाली को मुक्ति सम्मत नहीं पाया है। यदि किसी

[3] देखिये.—The Idea of Progress: J. B. Bury.

समाज में एक समाज रचना एक विशेष परम्परा को टिकाये हुये है- तो इसका कोई भी यह अर्थ नहीं कि वहां दूसरी समाज रचना आ ही नहीं सकती। नवीन बौद्धिक और मूल्यात्मक शक्तियों के विकास के साथ नवीन रचना के लिये सभी मानव समुदायों में विकास अथवा पतन का मार्ग बराबर खुला हुआ है। यहाँ यह स्वाभाविक है कि राय यह भी बतलाते हैं कि उनका 'पतन' एवं 'विकास' किस प्रकार से परावर्ती दार्शनिकों के 'प्रगति' एवं 'प्रतिगामी' अथवा 'मूल्य' एवं 'निमूल्य' इत्यादि व्याख्याओं से अधिक युक्ति सगत है। एक बात उनके आलोचक कह सकते हैं, यह कि, यद्यपि उन्होंने 'प्रेय' (good) एव 'पतित' (evil) को केवल सामाजिक चेतना का उसकी अपने मान्यता मूल्यों के निरूपण में समझा है, उनकी स्वयं की पद्धति भी इस प्रकार की अव्यक्त मान्यता से मुक्त नहीं है। यहाँ शंका का निवारण आवश्यक है। यदि राय की चिन्तन की व्याख्या हम करना चाहते हैं तो राय के द्वारा स्वीकृत दो प्रमुख दृष्टिकोण को अलग करके देखना बहुत आवश्यक है। राय केवल विश्लेषक मात्र ही नहीं है, यद्यपि उनके विश्लेषण मे उनकी तत्कालीन वैज्ञानिक मानववादी यथा सम्भव नियंत्रित है। उन्होंने कितने ही अवैज्ञानिक विश्वासों को काटा है, उदाहरणार्थ उनका इस्लाम[4] का ऐतिहासिक अध्ययन सम्भवतया पहला युक्ति संगत विवेचन है जिसमें प्रचलित अंधविश्वास पर पुनर्विचार प्रस्तुत हुआ है, उनका मत आधुनिक योरोपीय इतिहासकारों के मत से भिन्न है और उन्होंने इस्लाम की क्रांतिकारी प्रवृत्ति और मध्ययुगीन संस्कृति के इतिहास पर उसकी छाप का सम्वेदना के साथ विश्लेषण किया है. जिससे स्पष्ट है कि वे संहार अथवा ध्वंस को पतन का आवश्यक रूप से प्रतीक नहीं मानते बल्कि कभी यदि नवीन चेतना को एक जर्जरित व्यवस्था पनपने न देती हो तो उसके संहार एवं ध्वंस को ऐतिहासिक आवश्यकता स्वीकार करते है। इस प्रकार के विवेचन से एक तत्कालीन पीढ़ी को जो निष्कर्ष उपलब्ध होते हैं उनको राय 'वैज्ञानिक क्रांति बोध' की संज्ञा देते हैं, यह ऐतिहासिक हैं. पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह उक्त पीढ़ी के लिये भी सत्य नहीं है। समाज के सम्बन्ध मे जितने भी विचार हो सकते हैं, वह सदैव इसी प्रकार की अनुभूति एवं व्यक्तिगत अज्ञान की सकीर्णता से उठकर पूर्ण युग की सम्भावना को ग्राह्य करने में सफल दृष्टिकोण में ही मिल सकते हैं, राय के द्वारा 'विकास' एवं 'पतन' का जो स्वरूप दिखलाया गया है वह इसी प्रकार के सहज परन्तु व्यवहृत बोध के मूर्त होने की स्थति है। कोई भी समाज केवल बाह्य घटना एवं परिस्थिति मात्र से विकासोन्मुख अथवा पतनोन्मुख नहीं होता, समाज के विकास के लिये जिन तत्वों को वैज्ञानिक निस्पृहता से तत्कालीन बोध अंगीकार करता है वह कहाँ तक व्यवहृत घटना पर प्रभाव डालते हैं, और किस भीतरी विश्वास के साथ तत्कालीन समाज की व्यवस्था अपने बोध को बाध्य घटना की पृष्ठभूमि क्रियान्वित करती हैं विकास का स्तर इसी प्रक्रिया के दृष्टत्व में होना चाहिये। राय नियतिवादी नहीं है परन्तु मानववादी होने के फलस्वरूप ही वह सत् एवं असत् के वैभिन्न्य को हटाते नहीं परन्तु उसकी नवीन ऐतिहासिक एवं 'निस्पृह तत्कालीन बोध' के आधार पर यथार्थ

---

[4] देखिये:— Historic Role of Islam.

वादी एवं युक्ति ग्राह्य परिभाषा देते हैं। राय मानते हैं कि जिसे वह 'तत्कालीन बोध' कहते हैं वह सर्वसाधारण के विश्वास अथवा सहम 'मूल्य-चेतना' नहीं है, परन्तु एक वैज्ञानिक की भांति उनका यह दावा है कि प्रत्येक युक्तिवादी यदि अपनी तत्कालीन क्षुद्रता से ऊपर उठकर ऐतिहासिक स्थिति का तटस्थ विवेचन करे तो उस विशेष ऐतिहासिक अवसर पर जो विभिन्न 'तात्कालिक बोध' होंगे उनमें बड़ी सीमा तक एक पारस्पारिक सामंजस्य होगा, कठिनाईयों से राय भलि प्रकार अवगत हैं, पूर्व परम्परा ढ़कोसला व्यक्तिगत अज्ञान, स्वार्थं एवं बौद्धिक अकर्मण्यता जनसाधारण की स्वतंत्र बुद्धि को इतनी व्यापक मात्रा में आज तक के पिछले सामाजिक इतिहास में तड़ित किये रही हैं, कि वह केवल चमत्कारी नेताओं का ही आदर एवं अनुसरण करती रही है परन्तु आज जबकि इन चमत्कारी नेताओं ने नवीन भौतिक विज्ञान को अपने स्वार्थों के शोषण के लिये क्रूर दासता का औजार बना लिया है, एवं नवीन शिक्षा एवं बोध का प्रसार पिछड़े समाजों में भी बढ़ रहा है नवीन विचारक जन साधारण में उत्पन्न हो सकते हैं, परन्तु जन साधारण उन्हें पुष्प एवं हार से चमत्कारी नेता न बनने दे, बल्कि 'समकालीन बोध' को युक्ति से व्यापक प्रसार दे जिससे समाज अपनी सुषुप्त सम्भावनाओं से परिचित हो और विकास की आवश्यक सोपान चढ़े।

राय का दूसरा पक्ष वैज्ञानिक न होकर उपर्युक्त सिद्धाँत के व्यापक प्रसारक एवं स्वीकृति दिला सकने में सलंग्न रहा है, इसमें उनको सफलता नहीं मिली यह तो स्पष्ट ही है। क्योंकि उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत को आज किसी भी सामाजिक स्तर पर कोई स्वीकार नहीं करता[5], उनके द्वारा आधुनिक भारतवर्ष के विचारकों के सम्बन्ध में जो आलोचनायें हुई हैं वह बहुत ही पैनी तथा जनसाधारण की भावनाओं से मेल नहीं रखतीं। उन्होंने India's Message नामक ग्रंथ में तत्कालीन भारतीय चिन्तन का एक सुगठित एवं विवेकपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया है, तत्कालीन 'असहयोग', 'अहिंसा' एवं श्रमिक वर्ग की भावी समस्याओं का भी एक विवेचन उनके अन्य ग्रंथों में मिलता है। आर्थिक नीति एवं बहुजन समाज की सम्भव एवं सफल रचना को भी राय गूढ़ यथार्थं पर विवेचन करने के पक्ष में रहे हैं। उन्होंने गांधी चिंतन के अवास्तविक आदर्श मूलक वाक्यों को कभी भी चिंतन की संज्ञा ही नहीं दी, उन्होने गाँवों की पद्धति एवं कार्य की एक बहुत ही शिष्ट पर सदैव तथ्य के ऊपर आश्रित पैनी आलोचना दी है, अपने अंतिम काल में बढ़ती आर्थिक योजना सम्बन्धी नीति को भी उन्हं ने यथार्थंवादी पलड़े पर नापा है।[6]

राय का समाज दर्शन केवल क्रांति और उसके सामाजिक विवेचन तक ही सीमित नहीं है, उन्होंने 'व्यक्ति' एवं उसके द्वारा अर्जित अनुभवों के फलस्वरूप निर्मित व्यक्तित्व

---

[5] लेखक यहाँ स्पष्ट कर दे कि कलकत्ते में Radical Humanist नाम का एक पत्र आज भी प्रकाशित होता है, श्री शिव नारायण रे नाम के सज्जन उसका सम्पादित करते हैं। लेखक को एक वार्ता में उनसे कुछ आलोचना करने का गत वर्ष अवसर मिला।

[6] Poverty or plenty

की विधिवत् परिभाषा दे सकने का भी प्रयास किया है। उनके द्वारा प्रतिपादित मानववाद बौद्धिक श्रृंगार के लिये नहीं रखा गया है बल्कि वह एक सशक्त समाज-विश्लेषण का तीक्ष्ण औजार बना है, जिसके द्वारा राय ने भारतीय जीवन की तत्कालीन समस्याओं को दूसरे पिछड़े समाजों जैसे रूस और चीन जिनमें परिवर्तन हुये हैं तुलनात्मक एवं संघात्मक (Synthetic) विधि पर अध्ययन किया है। उक्त अध्ययन के फलस्वरूप जो 'बोध' तत्कालीन भारतीय जीवन के सम्बन्ध में उन्हें मिला उसे उन्होंने वैज्ञानिक अथवा 'युक्तिवादी मानववाद' के नाम से प्रचलित किया है, यह वेदांतिक नवोदित हिन्दुत्व (आर्यसमाज) एवं गांधीवाद मानववाद अथवा आध्यात्मिक एकात्मवाद जैसे कुछ रवीन्द्र नाथ ठाकुर, राधाकृष्णन अथवा महर्षि अरविंद ने प्रस्तुत किये है, से बहुत तीव्र विरोध रखता है, राय ने इन सभी प्रकार की प्रचलित विचार प्रणालियों को भ्रामक बताया है क्योंकि मानव व्यापार की कटुता नृशंस यथार्थ एवं वैज्ञानिक तथ्यों से यह सभी कतराकर केवल भावात्मक उन्मेष को प्रश्रय देकर एक असफल चमत्कारिकता के पीछे भागते हैं।

गवेषणा

दर्शन, मनोविज्ञान, परामनोविद्या
समाजशास्त्र, धर्म

इत्यादि विषयों की

त्रैमासिक पत्रिका

मुरादाबाद

वर्ष–तृतीय मार्च १९६७ अंक–चतुर्थ

Works of Dr. B. L. Atreya

1. भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास — 20.00
2. The Philosophy of the Yogavasistha (Second Edition) [Under Print]
3. योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त — 10.00
4. Yogavasistha and Its Philosophy (Third Edition) — 12.00
5. An Introduction to Parapsychology — 6.00
6. वासिष्ठदर्शनम् (संस्कृत) with English Introduction [Saraswati Bhavan Varanasi] — 4.00
7. Yogavasistha and Modern Thought — 3 75
8. A Plea for Human Fellowship — 3.00
9. The Elements of Indian Logic — 3.00
10. योगवासिष्ठ की कहानियाँ और उपदेश — 2.50
11. The Spirit of Indian Culture — 2.00
12. Moral & Spiritual Foundations of Peace — 2.00
13. भारतीय सस्कृति — 1.00
14. The Essence of Yogavasistha — 1.00
15. An Epitome of the Philosophy of the Yogavasistha [under print] — 1.00
16. Deification of Man — 1 00
17. Essence of Yogavasistha — 1.00
18. शंकराचार्य का मायावाद — 1.00
19. श्री योगवासिष्ठसार (English, Hindi & Sanskrit) — 1.00
20. Practical Vedanta of Swami Rama Tirtha — 0.50
21. वसिष्ठयोग: (संस्कृत) — 0.50
22. परामनोविज्ञान (हिन्दी) — 7 00

Can be had of—

DARSHANA PRINTERS
MORADABAD - 19 (*India*)

गवेषणा

दर्शन, मनोविज्ञान, परामनोविद्या
समाजशास्त्र, धर्म

इत्यादि विषयों की

त्रैमासिक पत्रिका

वष—तृतीय | माच १९६७ | अंक—चतुथ

विषय सूची

सम्पादक मन्डल

सम्पादकीय—

धर्म क्या है ?

शान्ति प्रकाश आत्रेय

धर्म के विषय में अनेकानेक धारणायें प्रचलित हैं। धर्म के यथार्थ रूप को सामान्य व्यक्ति नहीं समझते हैं। हिन्दू शास्त्रों में धर्म का सही सही रूप मिलता है। उसी के आधार पर सूक्ष्म रूप से यहां धर्म के स्वरूप को बताने का प्रयत्न किया गया है।

परिभाषा—

धर्म के ठीक अर्थ को समझने के लिए सर्वप्रथम हमें व्युत्पत्ति के दृष्टिकोण से विचार करना आवश्यक हो जाता है। धर्म शब्द 'धृ" धातु से निर्मित है। जिसका अर्थ होता है धारण करना। अत: धर्म ही विश्व को धारण किये हुए है। इसी के आधार पर व्यक्तियों का जीवन भली प्रकार स्थित है। धर्म का अर्थ उन नियमों तथा उस व्यवस्था से है जो, जीवन को नष्ट वा बर्बाद होने से बचाती हैं। धर्म के द्वारा ही विश्व में शान्ति, पारस्परिक सहयोग तथा प्रेम रहता है। धर्म पर चलने वाला ही अपने को विकसित एवं कायम रख सकता है अन्य नहीं। धर्म के विरुद्ध चलने वाला नष्ट हो जाता है। मनुस्मृति में भी कहा है कि धर्म की रक्षा करने वाले की धर्म रक्षा करता है तथा धर्म को नष्ट करने वाले को धर्म नष्ट करता है।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित:।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥८, १५॥

धर्म की रक्षा करने का अर्थ है जीवन तथा विश्व व्यवस्था को ठीक ठीक कायम रखने वाले नियमों के अनुसार चलना। अगर उन नियमों का पालन नहीं किया जावेगा तो यह निश्चित ही है कि जीवन तथा विश्व व्यवस्था बिगड़ जायेगी; जीवन विनिष्ट हो जायेगा। समाज में मानव जीवन ही असम्भव हो जावेगा तथा उसमें विकृति आ जायेगी व पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति तथा कर्तव्य के बन्धन जो कि मानव को एक दूसरे से सम्बन्धित करते हैं के समाप्त होने पर मानव जीवन ही समाप्त जायेगा। जिस

हद तक धर्म का पालन होना है उस हद तकही जीवन ठीक चलता है अन्यथा नहीं। प्राचीन शास्त्रो में धर्म का बहुत विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। समस्त व्यक्तियों को व्यवस्थित एवं संयुक्त रूप से धारण करने को मत्स्य पुराण मे धर्म कहा है।

धारणाद्धर्मः इत्याहुर्धर्मेण विधृता: प्रजा: ।
य: स्माद्धारण संयुक्त: सधर्म इति निश्चय: ।।
तत्रेष्ट प्रापको धर्म: आचार्यों रुप दिश्यते ।
अधर्मश्चानिष्टफल: आचार्यैरपि दिश्यते ।।
धर्मेति धारणे धातु: महत्त्वे चैवमुच्यते ।
आधारणे महत्त्वे वा धर्म: सतुनिरूच्यते

मत्स्य पुराण अ० १४५

वैशेषिक सूत्र के अनुसार यहां इस जीवन में अभ्युदय तथा सुख और उसके बाद मोक्ष प्रदान करने वाले को धर्म कहते हैं।

"यतोऽभ्युदयनि: श्रेय स सिद्धि स धर्म:"

मत्स्यपुराण का कथन भी स्पष्ट ही है। उसके अनुसार उन नियमों के अनुसार चलना धर्म कहा जाता है जिनसे व्यक्तियो के पारम्परिक सम्बन्ध एवं सामूहिक व्यवस्था बनी रहे। उनके विपरीत चलने से जीवन, पारस्परिक सम्बन्ध तथा सम्पूर्ण व्यवस्था ही समाप्त हो जावेगी।

वैशेषिक मत के अनुसार भी धर्म वह मार्ग है जिस पर चलने से जीवन सुखी होता है तथा अन्त में व्यक्ति आत्मोपलब्धि प्राप्त कर मुक्त हो जाता है।

स्मृतिकार आचार को ही परम धर्म मानते हैं "आचार: परमो धर्म:"

मीमांसकों के अनुसार इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट का परिहार करने के अलौकिक उपाय को धर्म कहते है। "इष्ट प्राप्ति अनिष्ट परिहार अलौकिक उपाय: धर्म:"

पुराणों के अनुसार धर्म के ऊपर ही ससार आधारित है। धार्मिक व्यक्ति के पास लोग जाते हैं। धर्माचरण से पाप नष्ट हो जाते हैं। सब कुछ धर्म पर ही प्रतिष्ठित है।

"धर्मो विश्वस्य जगत: प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठ प्रजा:
उपमर्पन्ति: धर्मेण परमं अपनुदन्ति; धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं ।"

शंकर ने शारीरिक भाष्य में कहा है कि विश्व के समस्त वस्तुओं की सत्ता जिसके ऊपर आधारित है, जिसके रहने पर वस्तु की सत्ता है उसे धर्म कहते हैं।

"यदाहि यस्मिन क्षति भवति, असति च न भवति, तत् तस्य धर्म त्वेन अवसीयते"

आधुनिक विभिन्न विद्वानों ने धर्म की परिभाषा विभिन्न प्रकार से की जिससे धर्म के विषय में उनका दृष्टिकोण विदित होता है। कुछ परिभाषायें यहां दी जाती हैं। जिससे यह व्यक्त हो जावेगा कि विद्वानों ने धर्म को ठीक ठीक समझने की जगह अपने मनमाने विचारानुकूल समझा है।

"धार्मिक अन्धविश्वास अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान या विचार का अन्तिम परिणाम नहीं है, वे तो मनुष्य में प्राचीनतम अत्यन्त शक्तिमान इच्छाओं की पूर्तियां भ्रम के रूप में है। सिगमड फ्रायड Singmund Freud)

"Religious dogmas are not the residues of experience, or the final results of reflections they are the illusions fulfilment of the oldest, strongest and most insistent wishes of mankind; Freud. (The Future of an illusion)

धर्म व्यक्तियों व समुदायो की हमारे स्वार्थ तथा भाग्य का अन्तिम नियन्त्रण करने वाली समझी गयी शक्तियों के प्रति गम्भीर और सामाजिक भाव है।......... यह कोई सिद्धान्त नियम व कल्पना नही है बल्कि भावना है, और खास तौर से आशा की भावना है। इस वास्तविक तथ्य मुख्य प्रश्न "विश्व का क्या कारण वा अन्तिम स्वभाव है; नहीं है बल्कि मेरा या हमारा क्या होगा, भाग्य विधाता का हमारे प्रति और हमारे स्वार्थों में क्या भाव है। प्रैट (pratt)

Religion is a serious and social attitude of indiviudals or communities towards the power which they concieve, as having ultimate control over their interests and destinies.........It is not a doctrine nor a law, nor a hypothesis but an attitude and essentially an attitude of expectancy. Its real and basal question is not what is the cause or ultimate nature of the world? But what is going to become of me or of us, and what is the attitude of the determiner of destiny towards us and our interests."

J. B. Pratt. (The Religious Conciousness p.266)

"धर्म अलौकिक शक्ति में विश्वास पर आधारित हैं जो "आत्मवाद" एव "माना" को अपने में सम्मिलित करता है।" हॉवल

"Religion rests upon belief in supernatural which embraces animism and mana."

Hoebel E. A.

धर्म साधारण रूप से मानव के मूल प्रवृत्यात्मक और सहज ज्ञान से प्राप्त विश्वास पर आश्रित वातावरण और सम्पूर्ण विश्व क प्रति ज्ञानात्मक उद्वेगात्मक और क्रियात्मक भावना है जो परम्परागत रीतिरिवाजो के रूप में स्थिर रहती है।"

"In my opinion, religion in the ordinary sense of the term, is man's cognitive, affective, and conative attitude

to his envoirment and to the universe as a whole chiefly determined by his instinctive and intuitive faith which gets stabilized in tradition." Dr. B. L. Atreya

उपर्युक्त परिभाषाओं से व्यक्त होता है कि आधुनिक विद्वानो ने अपने अपने दृष्टि-कोण से धर्म को बतलाया जाता है किन्तु उन्होंने धर्म के तात्विक रूप को नहीं समझा हैं। धर्म को अन्धविश्वास पर आधारित कहने वालो ने धर्म के विषय में बिल्कुल ही सोचने का कष्ट नही किया। जिस पथ पर चलकर हम अपने जीवन तथा विश्व को कायम रखते तथा विकसित करते हैं भला वह काल्पनिक एवं अन्धविश्वास पर आधारित कैसे हो सकता है ? धर्म के विषय में प्रचलित धारणाओं के कारण आज धर्म के प्रति घृणा बढ़ती जा रही है तथा धर्म का नाम भी लोगो को असह्य हो गया है। कतिपय विद्वानों ने तो धर्म की तुलना अफीम के नशे से की है जिनके अनुसार धर्म हमें वास्त-विकता से दूर एक अपनी मनचाही दुनिया मे पहुंचा देता है। जहां पर सत्य का दर्शन नहीं बल्कि हमारे काल्पनिक सत्य का दर्शन हमें प्राप्त होता है और हम उसी में मस्त रहते हैं। उससे बाहर हमारी गति नहीं हो पाती। जिसके बिना जीवन एवं विश्व एक क्षण भी नहीं रह सकता उसके प्रति यह धारणा केवल विचार हीनता ही की द्योतक है। अब प्रश्न उटता है कि इस प्रकार की विचारधारा के प्रचलित होने का क्या कारण है ? हमें इसके दो ही कारण प्रतीत होते हैं। (१) असम्यक् दर्शन (२) असली तत्व से विहीन धर्म का बाह्य रूप जो कि धार्मिक समझे जाने वाला नासमझ अधार्मिक व्यक्तियों के व्यवहार द्वारा प्रदर्शित होना है।

धर्म, नियमों की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा जीवन कायम एव विकसित होता रहता है। नियमो की ऐसी सुव्यवस्था अनुभव के आधार पर प्राप्त दर्शन की देन होती है। इस रूप से कोई भी दर्शन अवैज्ञानिक नहीं होना चाहिए क्योंकि उसी दर्शन के ऊपर धर्म आधारित होता है। सम्यक् अनुभव हमे सम्यक् दर्शन प्रदान करता है तथा सम्यक् दर्शन ही सम्यक् धर्म का आधार है। जब हम विश्व की धारणा अपने सीमित, असमान्वित एव असम्यक् अनुभवों पर ही आधारित कर उसका दर्शन प्रदात करते हैं तो वह दर्शन निश्चित रूप से असम्यक् दर्शन होता है। हम जब कुछ उसी एकांगिक तथा दूषित दृष्टि से देखते है जिसके फलस्वरूप हमारी धर्म के प्रति गलत धारणायें बन जाना स्वभाविक है। उदाहरण के रूप में भौतिकवादी दर्शन को ही अगर आप लें तो वे जड़ तत्व के अतिरिक्त किसी चेतन तत्व को स्वीकार ही नहीं करते। उनके अनुसार चेतना मस्तिष्क की क्रिया मात्र है। इस प्रकार की विचार धारा को मानने वालों की तो धर्म के प्रति गलत धारणा होना स्वभाविक ही है। हमारे सनातन वैदिक धर्म की यही विशेषता है कि वह समन्वित यथार्थ अनुभवों पर आधारित सम्यक् दर्शन पर स्थित एक व्यवहारिक, गत्यात्मक एवं लोचपूर्ण धर्म है। इसके विपरीत जड़वादियों का धर्म तो खाना पीना तथा मौज उड़ाना ही है क्योंकि वे केवल जड़ तत्व को ही मानते हैं तथा उसके आधार पर पुनर्जन्म का भी नहीं मानते हैं। उनके लिये तो क्षणिक सुख

ही परम लक्ष्य है जिसे प्राप्त करना वे अपना धर्म समझते है। उपयुक्त कथन नीचे दिये श्लोक से स्पष्ट हो जाता है।

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृत पिवेत।
भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत: ॥

इसी प्रकार से हम देखते हैं कि असम्यक् दर्शन के कारण ही असम्यक् धर्म की धारणा प्राप्त होती है तथा न समझने के कारण वास्तविक धर्म के प्रति विपरीत भावना का उदय हो जाता है। धर्म को ढोंग तथा अन्धविश्वास पर आधारित समझने का मुख्य कारण यही हैं। श्रद्धा की भावना को अन्धविश्वास समझना महान भूल है। श्रद्धा तो वह शक्ति है जिस पर सम्पूर्ण विश्व स्थित है। मानव विकास का सर्वोच्च साधन तथा धर्म का अभिन्न अंग श्रद्धा है। विचारधारा के भेद से ही सारा भेद हो जाता है।

इसके अतिरिक्त धर्म को गलत समझने का दूसरा कारण धर्म का बाह्यरूप है जो कि धार्मिक समझे जाने वाले ढोंगी, धर्म के रहस्य से अनभिज्ञ अधार्मिक व्यक्तियों के व्यवहारसे व्यक्त होता है। पूजा, भजन, सन्ध्या आदि करना, काल्पनिक मूर्ति के सामने धूप दीप आदि देना, कतिपय मन्त्रों का उच्चारण करना, लम्बा तिलक लगाना आदि आदिधर्म के देश कालानुसार परिवर्तनशील साधन हो सकते है किन्तु वे धर्म नहीं कहे जा सकते हैं। भावना हीन इस प्रकार के कार्य निरर्थक एवं धोखा देने वाले होते हैं। उन्हें धर्मावरण ही कहा जा सकता है। भले ही धर्म के इस ऊपरी खोल वा आवरण का भी अपना स्थान एवं महत्व है। किन्तु इसे हम धर्म नहीं कह सकते। धर्म शाश्वत, सनातन तथा सार रूप से एक है उसमे भिन्नता हो ही नहीं सकती। वह तो व्यक्ति देश कालादि की भिन्नता के कारण बाह्यरूप से भिन्न प्रतीत होता है। सच्चा धर्म स्वत: में स्वतन्त्र है। वह किसी से भी बाधित नहीं है। धर्म के नाम पर दूसरों को कष्ट देना, दुष्टतापूर्ण व्यवहार करना ही लोगों को धर्म के बारे में गलत धारणा प्रदान करता है। आज धर्म के रहस्य को न समझ पाने के कारण ही जातियाँ, देश एवं व्यक्ति पारस्परिक संघर्ष, द्वेष तथा लड़ाई करते हैं। बिना समझे ही धर्म के नाम पर अधार्मिक बनते हैं। धर्म तो प्राणियों का रक्षक, पालक एवं उत्थान कर्ता है। भला रक्षक भक्षक कैसे हो सकता है? हां अगर आप केवल धर्माडम्बर को ही धर्म समझ बैठेंगे तो निश्चित ही हो सकता है कि मानव में पारस्परिक तनाव, संघर्ष, द्वेष तथा घृणा का उदय और विकास हो जिसका कि आज पाकिस्तान ने एक ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत कर रक्खा है। वह धर्म के नाम पर ही हजारों का गला कटवा चुका है, कटवा रहा है तथा कटवाना चाहता है जबकि धर्म मानव मात्र को स्नेह सम्बन्ध में जोड़ता है, अखण्ड बना देता है। सच तो यह है कि धर्म तो भेदभाव को ही समाप्त कर देता है। उसमें द्वैत के लिये कोई स्थान नहीं है। धर्म के अन्तर्गत तो सम्पूर्ण विश्व का हित निहित है। इसलिये सब धर्मों का सार एक है।

इन उपर्युक्त दोनों कारणों से धर्म के वास्तविक स्वरूप को पहचानने में सामान्य मनुष्य को कठिनाई उपस्थित हो सकती है किन्तु दुःख इस बात का है कि अधिकतर उच्च-कोटि के विचारक भी धर्म के स्वरूप को ठीक ठीक नहीं समझ पाये है। अधिकतर विचारकों ने तो धर्म को समझा ही नहीं। प्राचीन भारतीय विचारकों ने धर्म के सूक्ष्मतम रहस्य को भली प्रकार से समझा था। इसी कारण उन्होंने उसे ऐसा रूप प्रदान किया जिसमें वह एक सार्वदेशिक, सर्वकालिक तथा सर्व सम्मत हो सका। इसके लिए हम अपने प्राचीन विचारकों के ऋणी हैं तथा सदैव रहेंगे।

भारतीय धर्म ही नहीं किन्तु सब धर्मों के मूल में साधना निहित है। वह धर्म ग्रन्थों से बाधित नहीं है न वह हमारे स्वार्थों की पूर्ति तथा हमारे भाग्य का नियन्त्रण करने वाली काल्पनिक शक्ति के प्रति भावना मात्र है। सच्चा धर्म तो स्व-: मे स्वतन्त्र हैं। धर्म तो दृष्टाओं की अन्र्तदृष्टि के ऊपर आधारित है जो कि साधना के द्वारा प्राप्त शक्ति है। उनको अन्तंदृष्टि द्वारा प्राप्त अनुभव ही उनका मार्ग प्रदर्शन करते है। साधारण व्यक्ति तो साधना के द्वारा इस प्रकार के अनुभव प्राप्त नही कर सकता है। अत: वे उनके अनुभव आम जनता के लिये धर्म ग्रन्थों के आप्त वचन के रूप में प्राप्त होते है। यही कारण है कि हमारे धर्म ग्रन्थों को हम लोग अत्यधिक महत्व प्रदान करते हैं। हमारा उनमें पूर्ण विश्वास है, किन्तु इस विश्वास को अन्ध विश्वास नही कहा जा सकता है। जिसने जो मार्ग अनुभव क आधार पर बताया है उसे मानकर उस सत्य पथ पर चलना अन्धविश्वास कैसे कहा जा सकता है? भले ही वे (शास्त्रो के वचन) हमारे अनुभूत विषय न हों किन्तु ऋषि मुनियो एवं योगियो के द्वारा अनुभूत सम्यक् ज्ञान जिसको हमें आप्त वचन के रूप में मानना ही चाहिए, उनमें (शास्त्रों में) विद्यमान हैं। उन अनुभवों को अन्धविश्वास कहना मूर्खता मात्र है। बहुत से ग्रन्थ अपना उल्लू सीधा करने के लिये लिखे जाते है। कतिपय व्यक्तियों की स्वार्थ सिद्धि, राजनैतिक लक्ष्यो, तथा सांसारिक वैभवों की प्राप्ति के लिए किये गए प्रयत्नों के रंग मे रंगे हुए ग्रन्थों के वचनों को हम आप्त वचन नहीं कह सकते हैं। उन पर विश्वास करने के कारण ही धर्म के नाम पर बड़ी बड़ी लड़ाईयां एव बड़े बड़े अनर्थ हुए, मानव समाज का बड़ा अहित हुआ तथा पारस्परिक द्वेष एवं घृणा की ज्वाला में मानव भस्म होता रहा। यह तो अधर्म का परिणाम है धर्म का नही। संसार के किसी भी धर्म ने आज तक मनुष्यों को दूसरों से घृणा करना वा अन्य लोगों को दुःख देना नही सिखाया है। सब धर्मों की शिक्षा आपस में प्रेम और आत्म नियन्त्रण का उपदेश प्रदान करती है। जैसाकि इकबाल के शब्दों से स्पष्ट होता है—"मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना"।

सच तो यह है कि जहां द्वेष, लड़ाई, घृणा आदि का प्रवेश होता है वहां धर्म रह ही नहीं जाता। प्रचलित कहावत के अनुसार जर, जमीन, जोरू ये तीन ही लड़ाई के कारण हैं। लड़ाईयां धर्म के कारण कभी नहीं हुई बल्कि धर्म की ओट में धन की लिप्सा, ऐश्वर्य की कामना, कामुकता आदि ही रहे है। इसका ज्ञान हमें विश्व का इतिहास प्रदान करता हे। सच्चा धार्मिक मुसलमान, हिन्दू, ईसाई, बौद्ध, जैन,

पारसी आदि कभी एक दूसरे से द्वेष नहीं करता। किसी भी धर्म ग्रन्थ में हमे द्वेष लडाई करने आदि की शिक्षा प्राप्त नही होती। आज पाकिस्तान ने धर्म की दुहाई लेकर जो भारतवर्ष से लडाई की है और कर रहा है तथा लड़ाई मे युद्ध के समस्त नियमो की अवहेलना की तथा कर रहा है, अगर उससे पूछा जाये कि निर्दोष जनता पर बम्ब बरसाना कुरान की कौन सी आयत में लिखा है? उसके पास इसका क्या उत्तर है? अपने स्वार्थों के लिये धर्म की आड़ लेना अपने धर्म को दूसरों की निगाहों में गिराना है। लोग धर्म के विषय में ज्ञान प्राप्त करने की जगह इन्हीं बातों के आधार पर धर्म के प्रति अपनी धारणा बना लेत है। ऐसा करना कम से कम विचारकों के लिये उचित नहीं है। उन्हे धर्म के बदनाम करने वालों के कारनामों पर न जाकर धर्म के वास्तविक रूप को समझने का प्रयत्न करना चाहिये। सच यह है कि जो भी कोई पाकिस्तान की तरह धर्म की आड़ में अपने स्वार्थों की पूर्ति करके के लिए धर्म को बदनाम करता है। वह अपने धर्म का बहुत ही बडा शत्रु है। सब धर्मों का मूल सिद्धान्त पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति आदि हैं न कि द्वेष घृणा आदि। धर्म के ऊपर आक्षेपों का कारण धर्म की आड़ में अपनी स्वार्थ सिद्धि करने के द्वारा प्रदान किया गया रूप है। वह धर्म नहीं है। इसी कारण धर्म के स्वरूप को ठीक ठीक समझना अति आवश्यक हो जाता है।

धर्म के दो रूप हैं - वैयक्तिक और सार्वभौमिक; बाह्य और आन्तरिक; परिवर्तन शील और स्थाई वा अनित्य और नित्य वैयक्तिक धर्म व्यक्ति, देश, काल, परिस्थिती की भिन्नता के कारण भिन्न भिन्न होते हैं किन्तु सार्वभौमिक धर्म शाश्वत और सनातन होता है। सार रूप से धर्म एक ही है। धर्म का बाह्य रूप तो निश्चित ही भिन्न प्रतीत होता है किन्तु धर्म का आंतरिक रूप तो भिन्न हो ही नहीं सकता। धर्म का बाह्य रूप परिवर्तनशील है किन्तु आंतरिक रूप तो स्थाई है। वैयक्तिक धर्म व्यक्ति, देश, काल की भिन्नता के कारण अनेक प्रतीत होते हैं किन्तु सार रूप से धर्म सार्वभौमिक, एक तथा नित्य है। वैसे अगर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो वैयक्तिक धर्म तथ सार्वभौमिक धर्म में मूल रूप से कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार से एक औषधालय में समस्त रोगो की औषधियाँ रहती है। औषधालय का धर्म रोगियों को रोगमुक्त करना है। यही उसका परम लक्ष्य है। औषधालय में भिन्न भिन्न प्रकार के रोगो वाले रोगी आते हैं। कोई दमे का रोगी है, किसी को ज्वर है, किसी को संग्रहणी तथा किसी को वात रोग आदि आदि हैं। औषधालय इन सब प्रकार के रोगियो की चिकित्सा करता है। किन्तु एक ही औषधी से इन सब रोगियों की चिकित्सा नहीं हो सकती है। हर रोगी के लिए भिन्न भिन्न औषधियों का प्रयोग करना पड़ता है जिनसे रोगमुक्त होने के उद्देश्य की पूर्ति होती है। ठीक इसी प्रकार से सब मनुष्य अपने अपने कर्माशयों की भिन्नता के कारण वे भिन्न भिन्न व्यक्तित्व वाले होते है। व्यक्ति का जन्म उसके अपने प्रारब्ध कर्मानुसार उन कर्मों के भोगने के लिए होता है अत: वह अन्य व्यक्तियों से भिन्न होता है। मनुष्य का सूक्ष्म शरीर त्रिगुणात्मक प्रकृति का कार्य होने के कारण त्रिगुणात्मक है किन्तु त्रिगुणों के विभिन्न अनुपातों के अनुसार प्रत्येक मनुष्य दूसरे से भिन्न होता है।

इस भिन्नता के कारण विभिन्न व्यक्ति रुचि, स्वभाव आदि में एक दूसरे से भिन्न हैं। अतः सब मनुष्यों को अपने अलग अलग धर्म होते हैं जिनके ऊपर उनका जीवन आधारित रहता है। वे धर्म एक व्यक्ति म भी देश, काल, परिस्थिति अनुकूल परिवर्तित होते रहते है। इतना होते हुए भी वे सब धर्म उन सभी व्यक्तियों को एक ही लक्ष्य तक पहुंचा देते हैं। उपर्युक्त कथन म स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार विभिन्न रोगियों को विभिन्न औषधियो क द्वारा स्वस्थ किया जाता है, ठीक उसी प्रकार विभिन्न व्यक्तियों के विकास स्तर, प्रकृति और स्वभाव के अनुसार विभिन्न मार्गों वा धर्मों का पालन एक ही लक्ष्य के लिए करना पड़ता है। जिस प्रकार से रोगियो का रोग से मुक्त होना ही लक्ष्य है उसी प्रकार से सब व्यक्तियों का एक ही धर्म है जिसकी प्राप्ति अलग अलग व्यक्तिगत धर्मों के पालन करने से होती है। एक ही गन्तव्य स्थान होते हुये भी उस तक पहुंचने के मार्ग भिन्न भिन्न है। जिस प्रकार सब रोगियों को एक ही औषधि नहीं दी जा सकती ठीक उसी प्रकार हर व्यक्ति के एक समान ही धर्म कर्म नहीं हो सकते हैं किन्तु इस भिन्नता से धर्म में बाह्य भेद आते हुए भी आंतरिक रूप से धर्म एक ही बना रहता है, उसमें कोई भेद नहीं आता। एक पहाड़ की चोटी पर विशिष्ट स्थान पर पहुँचने के चारों तरफ समार्ग होते हैं। स्थान विशेष से विशिष्ट स्थान पर पहुँचने के लिये व्यक्ति विशेष की सुविधा होती है। अतः उसी मार्ग को अपनाना उसके लिए उचित है। सब मार्गों के द्वारा अपनी अपनी सुविधा के अनुसार सब व्यक्ति पहुँचेगें एक ही स्थान पर। इसी प्रकार वैयक्तिक धर्म देश, काल व्यक्तियों के अनुसार भिन्न भिन्न अथवा अनेक होंगे किन्तु इसका यह अर्थ नहीं निकलता कि इन धार्मिक भेदों से वास्तविक धर्म में कुछ भेद आ जाता है वह तो शाश्वत सनातन तथा एक है।

हर व्यक्ति की प्रकृति भिन्न भिन्न होती है उसके अनुसार अपने जीवन को कायम रखने एवं करने के लिए उसे अपनी प्रकृति के अनुकूल नियमों का पालन करना पड़ेगा। एक ही व्यक्ति अवस्था भेद से कारण बदलता रहता है तथा उसी के अनुसार उसके धर्म में भी परिवर्तन आता रहता है। शिशु के धर्म से एक बालक का धर्म, बालक के धर्म से एक युवक का धर्म, युवक के धर्म से एक प्रौढ़ व्यक्ति का धर्म तथा प्रौढ़ व्यक्ति से एक वृद्ध व्यक्ति का धर्म भिन्न होता है। अवस्था भेद से धर्म में भी भेद आ जाता है। इसी प्रकार से एक ही व्यक्ति का रोगी अवस्था का धर्म स्वस्थ अवस्था के धर्म से भिन्न होता है। विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार धर्मों में भी परिवर्तन आ जाता है। एक व्यक्ति का धर्म देश के अनुसार भी बदल जाता है। गरम देश में रहने वाला व्यक्ति जब एक बहुत शीत प्रधान देश में जाता है तो उसका धर्म बदल जाता है। अगर वह उष्ण देश के धर्मों का ही पालन शीत प्रधान देश में भी करेगा तो निश्चित ही उसका जीवन नहीं चलेगा तथा वह अपने को कायम न रख सकेगा। एक ही व्यक्ति की क्रियाओं में ऋतुओं के कारण भिन्नता आ जाती है। गर्मियों में व्यक्ति की क्रियायें वा आचरण जाड़े वा वर्षा काल से भिन्न होते हैं। सब ऋतुओं का अपना अपना धर्म होता है। सब ऋतुओं म हम एक समान नहीं चल सकते। एक ऋतु से दूसरी ऋतु का सारा जीवन ही भिन्न होता है। यह व्यवहार की भिन्नता ही धर्म है। इसी कारण विश्व

में विभिन्न धर्म पाये जाते हैं। सत्य तो यह है कि इनको हम धर्म न कहकर मजहब सम्प्रदाय मत आदि नामों से पुकार सकते है। ये अलग अलग सम्प्रदाय वा मत ही वैयक्तिक धर्म है। ये सब तो भिन्न भिन्न होंगे ही किन्तु वास्तविक धर्म एक ही है। एक उत्तर प्रदेश, भारतवर्ष का निवासी त्रिकाल स्नान तथा त्रिकाल सन्ध्या कर सकता हैं। वह सदैव बरफ से आच्छादित रहने वाले स्थान में जायेगा तो वहां वह कभी भी उसी प्रकार से त्रिकाल स्नान तथा नग्न रह कर संध्या पूजन आदि नही कर सकेगा। इसी कारण विभिन्न समुदायों वा देशो के रीतिरिवाज, सामाजिक नियम खान पान आदि पारस्परिक भिन्नता रखते है। हर देश की अपनी संस्कृति है। भौगोलिक पर्यावरण हमारी संस्कृति रहन सहन, रीति रिवाज, खान पान आदि हमारे वैयक्तिक धर्मो को बहुत अधिक प्रभावित करता है। अतः वैयक्तिक धर्म पर्यावरण के ऊपर बहुत कुछ आधारित है। इसीलिये उसमें भिन्नता है। यह भिन्नता होना तो आवश्यक ही नहीं बल्कि धर्म का अनिवार्य रूप है क्योंकि इसके बिना जीवन ही नहीं रह सकता, उसके विकास की तो कौन कहे। अत: यह भिन्नता भी धर्म का ही रूप है। इस भिन्नता के कारण ही धर्म के सूक्ष्म तत्त्व तथा उसके वास्तविक रूप को न समझने वाले अज्ञानी लोग धर्म के नाम पर संघर्ष, लड़ाई, झगड़ों के द्वारा निर्दयता के साथ मानव के खून की नदियां बहाते हैं। जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है भेद केवल समुदायों में ही नहीं है बल्कि व्यक्तियों में भी है किन्तु वह भेद सचमुच में तो अभेदता का ही पूरक है। भेद रहते हुए भी धर्म अपने में भेद रहित है। भारतवर्ष सब प्रकार के भौगोलिक पर्यावरण वाला प्रदेश है। इसी कारण यहां हर प्रदेशीय वैयक्तिक धर्म का भी पूरा पूरा ज्ञान विद्यमान है तथा धर्म के मर्म को भी ठीक ठीक समसमझ कर सनातन वैदिक धर्म का प्रतिपादन किया है। वैयक्तिक धर्मो में तो अन्तर अवश्य ही रहेगा क्योंकि हर धर्म देश, काल तथा व्यक्ति विशेष तथा एक विशेष मानसिक स्तर वालों के लिए ही होता है। यह सब होते हुये भी हर धर्म मे अन्य धर्मो के प्रति आदर और उदारता का भाव होता है। यही अनेक भिन्न भिन्न धर्मों की खूबी है। इस अनेक धर्मों के भीतर एकता की डोरी लगी है। सबका मूल एक है। सबका उद्देश्य व लक्ष्य एक है। आपसी विरोध का वहां प्रश्न ही नही उठता है। हिन्दू धर्म के अन्तर्गत इसी वैयक्तिक धर्म में भेद होने के कारण अनेक सम्प्रदाय तथा पन्थ विद्यमान है। जैन, बौद्ध, सिख, आर्यसमाज, आदि आदि सभी सम्प्रदायों में हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्त विद्यमान हैं। इस प्रकार से धर्म में संघर्ष एवं द्वेष हो ही नहीं सकता। धर्म तो प्राणी मात्र को सुख प्रदान करने वाला होता है, जैसा कि नीचे दिये गये महाभारत के श्लोक से व्यक्त हो जाता है।

"लोक या यार्थं मेवेह धर्मस्य नियमः कृतः।
उभयत्र सुखोदर्क इहैव च परत्र च॥

"धर्म के नियमों की योजना इस लोक तथा परलोक में प्राणीमात्र की उन्नति और सुख की प्राप्ति के लिये है।"

भला प्राणिमात्र की उन्नति तथा सुख को प्रदान करने वाले धर्म में द्वेष और संघर्ष कैसे हो सकता है। जिस शक्ति के द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि क्रिया रक्षित है उसमें

द्वेष, संघर्ष और विनाशकारी प्रवृत्तियों का उदय नहीं हो सकता। जैसा कि वेदव्यास जी की नीचे दी धर्म की परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है —

' धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्राज:
मत्स्याद्धारण सयुक्त: सधर्मं इति निश्चया:।।

हिन्दू धर्म की विशेषता यह भी है कि उसमें लोच है, वह अन्धविश्वासी, रूढ़िवादी एवं मूर्खतापूर्ण कट्टरता का विरोधी है। हमारे धर्मशास्त्रों में ही अन्धा होकर शास्त्रों को मानने के लिए भी मना किया है और देश, काल, अधिकारी की योग्यता के अनुसार धर्म में परिवर्तन होना बताया है। यही वैयक्तिक धर्म है।

"उपलभ्यऽन्नरा च ऽन्यान् आचारान् अवबुध्यते;
हेतुभि: धर्मम् अन्विच्छेत्. न लोकं विरसं चरेत्। म० शा०
"देशकाल समय भेदेन धर्म भेद:" (मनु०)
"अधिकारि भेदाद्धर्मभेद:।"(मनु०)

सचमुच में धर्म का स्वरूप अति सूक्ष्म है उसे ठीक ठीक समझना अति कठिन है। छोटे से छोटे धार्मिक नियम एक विशेष लक्ष्य की पूर्ति के लिए ही बने है किन्तु लक्ष्य का ज्ञान सदैव स्पष्ट नहीं रहता है। धर्म के सब नियम सब व्यक्तियों के लिये नहीं होते। यही नहीं सामान्य अवस्था में एक व्यक्ति का जो धर्म है वह असामान्य अवस्था में नहीं रह जाता है। एक ही धर्म कुछ के लिये हितकारी तथा कुछ के लिए अहित-कारी। काल के द्वारा भी हितकारी धर्म अहितकारी हो जाता है। इसी कारण इस वैयक्तिक विशेष धर्म में परिवर्तन होता रहता है। हिन्दू धर्म में इस रहस्य को समझने के कारण ही अलग अलग युगों के धर्म का अलग अलग वर्णन दिया है। जो एक काल में एक व्यक्ति के लिये धर्म है वही उसी व्यक्ति के लिये दूसरे काल में अधर्म हो जाता है। जो एक व्यक्ति के लिये धर्म है वह दूसरे व्यक्ति के लिये अधर्म हो सकता हैं।

हर युग का अपना अलग अलग धर्म होता है। सत्य युग, त्रेता युग, द्वापर युग तथा कलियुग ये चार युग माने गये हैं। प्रत्येक युग का अपना अपना धर्म होता है।

मनुस्मृति में भी इस विषय में कहा है—

"अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायाँ द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपत:"।।१।८५।।

"सत्य युग, त्रेता युग. द्वापर युग तथा कलियुग सब के दूसरे दूसरे धर्म है इस प्रकार धर्म का ह्रास युगानुसार होता रहता है।"

नीचे दिये वायु पुराण के श्लोकों से यह स्पष्ट हो जाता है: —

त्रेतायुगे तु अविकल: कर्मारम्भ: प्रसिध्यति;
वर्णानां प्रविभागाश्च त्रेतायां सम्प्रकीर्त्तित:;
वर्णाश्रम व्यवस्थानं तेषां ब्रह्मा तदाऽकरोत्।

परम्पराऽऽगतं धर्मं स्मार्तं च ऽऽ चार लक्षणं,
वर्णाश्रम ऽऽ चारयुतं मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्

(वायु पुराण)

इस प्रकार त्रेता युग का धर्म सत युग के धर्म से भिन्न हो जाता हैं। इसमें सत्य युग की अपेक्षा मानव की शक्ति तथा आयु कम हो जाती है। त्रेता युग की अपेक्षा द्वापर युग में मानव और नीचे गिर जाता है। उसकी शक्ति तथा आयु अपेक्षाकृत कम हो जाती हैं। उसका धर्म त्रेता युग के मानव से भिन्न होवा हैं। द्वापर में यज्ञ ही प्रधान धर्म है। दान मांगने पर दिया जाता है। कलि युग में मानव की शक्ति तथा आयु द्वापर की अपेक्षा कम हो जाती है। उसका धर्म भी उसी रूप से बदल जाता है। दान ही प्रधान धर्म होता है। इन युगों के विषय में शास्त्रों में विषद विवेचन प्राप्त होता है।[1] कलियुग के विषय में सभी शास्त्रों में कहा है कि कलियुग ज्यों ज्यों बीतता जायेगा त्यों त्यों धर्म, सत्य, क्षमा, दया, पवित्रता, शक्ति आदि लुप्त होती चली जायेंगी। श्री मद्भावगवत में कलियुग का विषद् वर्णन मिलता है।[2]

वैयक्तिक धर्म के भी सामान्य, विशेष तथा आपदधर्म ये तीन भेद किये जा सकते हैं। जो सामान्य रूप से व्यक्तियों के लिए अम्युदय तथा निश्रयस प्रदान करने वाला होता है वह सामान्य धर्म कहा जाता हैं। जिसके पालन से व्यक्ति तथा समाज के सामान्य धर्मों का पालन होकर व्यक्ति तथा समाज की व्यवस्था कायम रहती है उसे विशेष धर्म कहते हैं। परिस्थिति विशेष के कारण सामान्य तथा विशेष दोनों धर्मों का उलंघन हो सकता है ऐसी परिस्थिति विशेष के धर्म को ही आपद्धर्म्म कहते हैं। विशेष धर्म के भी व्यक्ति एवं समाज के दृष्टिकोण से दो भेद हो जाते हैं। व्यक्ति के विकास के लिये व्यक्तिगत विशेष धर्म आश्रय धर्म है तथा समाज की उन्नति एवं सुख शान्ति के लिये वर्ण धर्म है। इन दोनों विशेष धर्मों को मिलाकर वर्णाश्रम धर्म कहते हैं। इस वर्णाश्रम धर्म पर ही हिन्दू सस्कृति विश्व में अपना विशिष्ट एवं सर्वश्रेष्ठ स्थान रखती है। हमारे विचार से तो आज तक विश्व में वर्णाश्रम धर्म के समान व्यक्तिगत एवं सामाजिक उन्नति, सुख और शान्ति के लिए किसी ने कोई भी व्यवस्था नहीं की है। आज भी अपनी जगह वर्णाश्रम धर्म कम महत्वपूर्ण नहीं है। उसके पालन में कमी होने से ही समाज की व्यवस्था बिगड़ी है, व्यक्तिगत विकास में रूकावटें पैदा हुई हैं और हम सत्य से दूर चले गये हैं। आज की बिगड़ती जा रही समाज की व्यवस्था को सुधारने के लिए समाजशास्त्रियों को चिन्तन करना चाहिए तथा ऐसे सम्यक् विचार प्रस्तुत करने चाहिए जिससे समाज की व्यवस्था सुधरे समाज का सच्चा विकास हो।

---

[1] पाराशर स्मृति १।२२—३२; श्री मद्भागवत—१२।३।१८—५१

[2] श्रीं मद्भागवत—१२।२

समाज दर्शन की समस्या

राम नाथ शर्मा

समाज-शास्त्र एक नवीन शास्त्र है। इसमें सामाजिक घटनाओं तथा परिवर्तनों, समाज के संगठन, सामाजिक व्यवहार और सामाजिक चेतना आदि विषयों पर विचार किया जाता है। समाजशास्त्र का एक दार्शनिक पक्ष भी है। समाज शास्त्र के आधारभूत प्रश्न, ,'समाज क्या है ?", "समुदाय क्या है?", "संस्कृति किसे कहते है ?"— किसी न किसी दार्शनिक दृष्टिकोण अथवा सिद्धान्त से देखे जा सकते हैं। अतः इन प्रश्नों के उत्तर भिन्न-भिन्न दार्शनिक मतों के अनुसार भिन्न-भिन्न होगे। मनुष्य स्वभाव के सम्बन्ध में भी दार्शनिकों में मतभेद है। आदर्शवादी अथवा प्रत्ययवादी मनुष्य 5 ईश्वर का अंश मानते हैं, अतः मनुष्य की दैवीय-प्रकृति को प्रमुखता देते हैं। कुछ विचारकों के मन में मनुष्य जन्म एवं स्वभाव से, एक प्रकार का पशु है। ऐसे दार्शनिक मनुष्य के व्यवहार तथा उसके भविष्य के सम्बन्ध में, और मनुष्यों के समुदायों के सम्बन्ध में, पृथक दृष्टिकोण रखते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में मनुष्य तथा मनुष्यों के समुदायों की चेतना का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है। परन्तु प्रत्ययवादी दृष्टिकोण के अनुसार, आधुनिक मनो विज्ञान अभी तक केवल मानव-स्वभाव के ऊपरी धरातल को समझ पाया है, वह मनुष्य को सम्पूर्णतः नहीं समझ पाया है। एक अन्य नवीन विज्ञान प्रतीक-विज्ञान, शब्दों तथा वाक्यों के अर्थों तथा ध्वनियों के अध्ययन का विज्ञान भी एक नवीन रीति अथवा दृष्टिकोण से दर्शन तथा विज्ञान की समस्याओं का परीक्षण करता है। वह अर्थ का अर्थ अर्थात् गूढ़ार्थ खोजने की चेष्टा करता है। इसी प्रकार का कार्य नवीन तर्क-शास्त्र,—तार्किक प्रत्यक्ष वस्तुवाद अथवा तर्कमूलक भाववाद करने का यत्न करता है। इसी प्रकार नीति-शास्त्र, धर्म-शास्त्र, गणितशास्त्र, जीव-शास्त्र, वनस्पति-शास्त्र, अर्थशास्त्र तथा साधारण मनोविज्ञान आदि का भी प्रभाव समाज-शास्त्र की समस्याओं पर पड़ता है। यहां पर प्रश्न उठता है कि समाज के सम्बन्ध में विचार करने वाला पहले स्वतन्त्र ढंग से विचार करके अपने निर्णयों को उपर्युक्त शास्त्र वालों को अर्पित (प्रदान) करे, अथवा, वह पहले उपर्युक्त शास्त्रों से वह सामग्री उधार लेवे, जिसका कि उसके शास्त्र से सम्बन्ध है और फिर इस सामग्री के प्रकाश में समाज शास्त्र के प्रश्नों पर विचार करे ? उत्तर में यही कहना होगा कि उसे दोनों क्रियाएं करनी

चाहिये। उसे एक ओर तो, स्वतन्त्र ढंग से, समाज शास्त्र के निर्णयों को प्राप्त करके उनकी तुलना अन्य शास्त्रो के निर्णयों से करनी चाहिये, और यदि उसके निर्णय अन्य शास्त्रों के निष्कर्षों से मिल जाते हैं, तो उसे इस पुष्टि से लाभ उठाना चाहिये। और दूसरी ओर, उसे अन्य शास्त्रों से तथ्य और सिद्धान्त प्राप्त करके, उन्हें समाज-शास्त्र की समस्याओं पर घटित करना चाहिये।

समुदाय

जब दो या दो से अधिक मनुष्य मिलजुल कर प्रत्यक्ष या परोक्ष ढंग से क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं, अथवा एक दूसरे से सहयोग करते हैं, तो ऐसे मनुष्यो के गुट, अथवा एकत्रीरण से समुदाय का निर्माण होता है। अतः समुदाय में जागरूक या चैतन्य रूप से, किसी न किसी प्रकार का समझौता अथवा सहयोग अथवा सहमति की भावना पाई जाती है। समुादय, सबसे अधिक व्यापक ढग में, उस प्रकार के जीवन में (चाहे वह कौटुम्बिक जीवन हो, अथवा जंगली जातियो का प्रारम्भिक, अविकसित जीवन-अवस्था) दृष्टिगोचर होता है, जहां एक प्रकार से नियन्त्रण शासन आदि का अभाव होता है। इस प्रकार के व्यापक समुदाय को सामन्य समुदाय कहते हैं। जब इसमें कुछ संगठन हो जाता है, तब उसका नाम 'समाज' हो जाता है। जब सगठन राजनैतिक दृष्टिकोण से हो जाता है और किसी प्रकार का शासन स्थापित हो जाता है, तब समुदाय को 'राज्य' कहते है। तथा जब समुदाय किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए नियमित ढग से कार्य करता है, तब उसे 'संघ' कहते है। अत: समुदाय, समाज-शास्त्र में, सबसे व्यापक प्रत्यय है, और इसके अन्तर्गत सब प्रकार के गुट्ट अथवा एकत्रित मनुष्य या मानव-समूह-संगठित तथा असंगठित आ जाते हैं।

कुछ समाज-शास्त्र-वेत्ता दो प्रकार के समुदायों का उल्लेख करते हैं:—(१) प्राथमिक या प्रधान, (२) अप्राथमिक अथवा द्वैतिक या गौण। प्राथमिक समुदाय वे हैं, जिनमें मनुष्यों अथवा सदस्यों में गहरा, आमने सामने का सम्पर्क रहता है, जैसे कुटुम्ब। ऐसे समुदाय में मानव जीवन का आरम्भ होता है। इनके सदस्य के रूप में ही व्यक्ति अपने जीवन के सिद्धान्त और आदर्श प्राप्त करता है। इनमें रहकर ही उसके स्वभाव तथा चरित्र का निर्माण होता है। और इसी अवस्था में ही व्यक्ति समाज-प्रेम तथा समाज-सेवा का पाठ पढ़ता है। प्राथमिक समुदायों के बिना सम्भवत: उन गुणों का विकास न हो पाता, जो सामाजिक जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं, जैसे, नियम अथवा कर्तव्य-पालन की भावना, समुदाय के प्रति श्रद्धा तथा स्वतन्त्रता की रक्षा आदि की भावना। इन्हीं समुदायों द्वारा, मानव की दार्शनिक वृत्तियों का नियन्त्रण तथा शोधन—सम्भव हो पाता है। इन्हीं समुदायों में मनुष्य आन्तरिक मूल्यों का आदर करना सीखता है। अत: इनके द्वारा मानव जीवन का विकास होता है तथा अन्य संस्थाओं के विकास के लिए जो गुण आवश्यक होते हैं उनका प्रादुर्भाव होता है। सारांश यह है कि मनुष्य के शेष जीवन और स्वभाव, तथा मनुष्य की राज्य, राष्ट्र आदि समस्त संस्थाओं का आरम्भ प्राथमिक समुदायों द्वारा प्राप्त किये गये गुणों से ही होता है। मां-बाप तथा

भाई-बहनों का प्यार धीरे-धीरे विकसित होकर, साथियों, पड़ोसियों, ग्रामनिवासियों देश-वासियो तथा विश्व-बान्धवों के प्रेम का रूप धारण कर लेता है।

द्वैतिक अथवा गौण समुदाय वे हैं, जहां व्यक्तियों का सम्पर्क सामान्य ढंग से नहीं वरन् एक विशिष्ट ढंग से होता है। इस प्रकार का सम्बन्ध आंशिक हुआ करता है, अर्थात् व्यक्ति एक दूसरे से कभी-कभी थोड़े समय के लिए किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए मिला करते हैं। और इनमें से कई समुदाय तो ऐसे भी हैं जिनमें व्यक्तियों तथा सदस्यों का सम्पर्क केवल पत्र द्वारा ही होता है। इस प्रकार की द्वैतिक सभाओं अथवा संघों से मनुष्य-समाज को कई लाभ प्राप्त होते हैं, उदाहरणार्थ, विशिष्ट योग्यता का विकास, अपौरुषेय पद्धति, दूर दूर तक पहुंच तथा स्थायीपन। विशेष योग्यता का विकास, श्रम विभाजन द्वारा प्राप्त होता है। इस प्रकार जो व्यक्ति या समुदाय, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक, औद्योगिक क्षेत्रों में किसी प्रकार की विशेष योग्यता रखते हैं, उन्हें उसी प्रकार का कार्य देने की समाज सेवा भी उत्तम रीति से होगी, वस्तुओं के उत्पादन का स्तर भी ऊंचा रहेगा और उत्पत्ति की मात्रा में भी वृद्धि होगी। भारतवर्ष में प्राचीन वर्णाश्रम प्रणाली इसी प्रकार के सिद्धात पर अवलम्बित थी। अपौरुषेय पद्धति से मनुष्यों के आपसी सम्पर्क सरल हो जाते हैं। उदाहरणार्थ रेल का टिकट खरीदने के लिये यात्री को टिकट बाबू से वैयक्तिक सम्पर्क स्थापित करने—उसे प्रणाम करने, बाल-बच्चों अथवा गृहस्थी की कुशलता पूँछने और समझने—की आवश्यकता नही पड़नी है। अप्राथमिक समुदायों अथवा सभाओं द्वारा एक व्यक्ति संसार के दूरवर्ती निवासियों से सम्बन्ध स्थापित करके उनके परिश्रम के फल से लाभ उठा सकता है। उदाहरणार्थ, हमारे जिले का कोई ग्रामवासी भी अमेरिका के बाजार से आवश्यक यन्त्र किसी आर्थिक समुदाय अथवा संस्था द्वारा मंगवा सकता है। इसी प्रकार ऐसी सभाओं और संस्थाओं द्वारा एक पीढ़ी से जो ज्ञान अथवा अनुभव प्राप्त होता है, वह आगे जाने वाली पीढ़ियों तक पहुँचाया जा सकता है।

परन्तु इस प्रकार की अप्राथमिक संस्थाओं में कई दोष भी होते हैं वे किसी संकीर्ण प्रयोजन की पूर्ति के लिए हुआ करती है। उनके सदस्य एक दूसरे से बहुत दूर रहते है। इन सदस्यों में वर्गभेद भी होते हैं, और इनका पारस्परिक सम्बन्ध क्षणिक हुआ करता है। जिसके कारण वे एक दूसरे से पूरे पूरे ढंग से खुल नहीं पाते हैं। बृहद्-संस्थाओं में और कभी-कभी दुर्गुण भी आ जाते हैं। जैसे उन्हें किसी विशेषज्ञ के मत अथवा निर्णय पर निर्भर रहना पड़ता है। और अन्त में, विशेषज्ञ भी तो मनुष्य ही है, वह भी भूल कर सकता है। परन्तु उसकी भूल से एक एक व्यक्ति को नही, वरन् लाखों या करोड़ों मनुष्यों को हानि पहुँच सकती है। यदि वह भूल भी नहीं करता है, तब भी एक विशेषज्ञ, आधुनिक काल में ऐसा पुरुष होता है, जो किसी क्षेत्र के केवल एक कोने ही का अच्छा ज्ञान रखता है, उस विषय के अन्य भागों का उसे बहुत कम ज्ञान होता है, ऐसे विशेषज्ञ के निर्णय एकांगी और संकीर्ण हो सकते हैं। और फिर ऐसे विशेषज्ञ का सम्पर्क बहुत कम व्यक्तियों से होता है। अतः वह वह दूसरों के अनुभव अथवा मत से लाभ नहीं उठा सकता है, कभी-कभी तो वह दूसरों की भाषा भी नहीं समझ

सकता है। ऐसे समुदाय प्रायः यन्त्रवत् हो जाते हैं। उनमें मानवता अथवा भावना को स्थान नहीं दिया जाता है, अर्थात् इन संस्थाओं के पदाधिकारियों को मनुष्यों की आवश्यकताओं की चिन्ता बहुत कम रहती है और फिर इन संस्थाओं के नियम इतने जटिल हो जाते हैं कि उन्हें सुधारना और उन्हें जनता की आवश्यकताओं के निकट लाना एक कठिन कार्य हो जाता है। इसी प्रकार ऐसी संस्थाओं और सभाओं में एक प्रकार का आलस्य आ जाता है और इनके पदाधिकारी प्रायः प्रतिक्रियावादी हुआ करते हैं, वे सुधारवादी बहुत कम होते है। ऐसी दशा में व्यक्ति अपनी संस्था के प्रति भक्ति तथा श्रद्धा नहीं रख पाता है। वह अपनी ही संस्था के नियमो का पालन करना हानिकारक समझने लगता है। और कभी कभी तो उसका विद्रोह केवल अपनी संस्था के ही विरुद्ध नहीं, वरन् समस्त नैतिकता के विरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार से मानव में अमानव बनने की प्रवृति आ जाती है। और समाज तथा व्यक्ति के जीवन में संगठन का अभाव होने लगता है, तथा परस्पर कलह, द्वेष तथा फूट तथा अन्य प्रकार के विरोध प्रकट होने लगते है। ऐसी दशा मे हमें यह प्रतीत होने लगता है कि सहस्रों के जीवन-मरण के प्रश्न मुट्ठी भर आदमियों के हाथ मे चले गये है, और उन्होंने सभा या संस्था रूपी यन्त्र पर पर अपरा अनाधिकार आधिपत्य जमा रखा है। इस अवस्था में यह कहना भी कठिन हो जाता है कि यथार्थ में उत्तरदायित्व किसका है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा कि मनुष्य का जीवन, उसकी उन्नति तथा उसका सुख और कल्याण एक दूसरे के ऊपर निर्भर हैं। अतः अब हमें यह देखना है कि व्यक्ति समुदाय पर किस प्रकार अवलम्बित हैं, और समुदाय व्यक्ति पर किस प्रकार निर्भर है ?

व्यक्ति और समुदाय

व्यक्ति और समुदाय के सम्बन्ध के विषय में समाज शास्त्र-वेत्ताओं में गम्भीर मतभेद हैं। यह मतभेद उनके भिन्न-भिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों के अनुसार है। उदाहरणार्थ, आध्यात्मवादी दार्शनिकों में, कुछ व्यक्तिवादी विचारक व्यक्ति को प्रधान अथवा प्राथमिक मानते हैं और समुदाय को गौण अथवा द्वैतिक मानते हैं। उनके अनुसार, समुदाय का अस्तित्व व्यक्तियों पर निर्भर है। और समुदाय, यथार्थ में, व्यक्तियों के हित के लिये है। परन्तु कुछ प्रत्यय वादी हैगिल का अनुकरण करते हुए यह मानते हैं कि राज्य प्राथमिक और प्रधान है और राज्य में दैवीय गुण पाये जाते हैं। वह यथार्थ तत्त्व या परमतत्त्व, अथवा निरपेक्ष तत्त्व या ईश्वर के अधिक समीप है, और व्यक्ति राज्य के आधीन है। अतः व्यक्ति और समुदाय का सम्बन्ध समझने के लिए, हमें इन दार्शजिक मतों को भी समझना पड़ता है। यहां पर सरलता के लिए हम (१) व्यक्तिवादियों, (२) समुदाय अथवा समूह वादियों और (३) समन्वय-वादियों के पक्षों का ही उल्लेख करेंगे।

मनुष्य-स्वभाव तथा मानव-जीवन के आदर्श

मनुष्य स्वभाव तथा मानव जीवन के आदर्शों के दृष्टिकोण से प्रतीत होता है कि जो मत, तत्त्व-शास्त्र में, अनेकत्ववाद को मानते हैं वे बहुतत्त्व अथवा अनेकत्व को

अधिक स्थायी और यथार्थ समझते हैं और एकत्व का गौण अथवा कम महत्व का मानते हैं। इन मतों के अनुसार, व्यक्तियों अथवा मनुष्यों का अस्तित्व या वैयक्तिता अथवा स्वभाव के दृष्टिकोण से—अधिक महत्वपूर्ण है तथा समुदाय तो केवल व्यक्तियों के संयोग से बनते और बिगड़ते हैं। अतः समुदाय को कार्य या परिणाम मानना चाहिये, और व्यक्ति को ऐसे समुदाय का प्रधान कारण मानना चाहिये। इसके विपरीत, समुदायवाद एकत्व के सिद्धान्त में विश्वास करता है। वह एकत्व को स्थायी और प्राथमिक और अनेकत्व को द्वैतिक और क्षणिक समझता है। इस कारण इस सिद्धान्त के अनुसार, राज्य, राष्ट्र, जाति अथवा ईश्वर को प्राथमिक माना जाता है, और व्यक्तियों का पद इनसे नीचा माना जाता है। उदाहरणार्थ, यह माना जाता है कि व्यक्तियों का जीवन राज्य के कल्याण के लिये है।

इन दोनों वादो का समन्वय भी हुआ है। समन्वयवादी यह मानते हैं कि व्यक्ति और समुदाय दोनों मे यथार्थता तथा मूल्य है। दोनों कारण भी हैं और कार्य अथवा परिणाम भी। इस प्रकार दोनों में क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है, और दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं।

व्यक्तिवादियों के अनुसार, व्यक्ति अपने भविष्य के निर्माण करने में स्वतन्त्र है। उसका प्रथम कर्तव्य है अपने हित की रक्षा करना, अर्थात्, उसका उत्तरदायित्व आन्तरिक है, वह किसी बाह्य-शक्ति के प्रति उत्तरदायी नहीं है। महान पुरुष पुरुषार्थी तथा आत्मविश्वासी होते हैं। और वे किसी बाह्य-शक्ति का सहारा नहीं लेते है। इसके विपरीत, समुदायवादियों का विश्वास है कि व्यक्ति, समाज, राज्य, राष्ट्र अथवा ईश्वर की सेवा के लिये उत्पन्न हुआ है। अर्थात् व्यक्ति साधन है और समाज साध्य, बिना समाज, राज्य, राष्ट्र आदि के, व्यक्ति के हितों की रक्षा नहीं हो सकती है। सारांश यह है कि व्यक्ति का कर्तव्य उस शक्ति की सेवा करना है, जिसके कारण उसे जीवन व्यतीत करने के साधन मिलते हैं। व्यक्ति की महानता अपने समुदाय की, भक्ति-पूर्वक सेवा करने ही में है। व्यक्ति को उन पुरुषों की आज्ञा का पालन करना चाहिये जिन्हें ईश्वर अथवा भाग्य ने बड़ा बनाया है, और जो समाज अथवा राज्य के यन्त्र को चला रहे हैं।

इन वादों का समन्वय इस ढंग से किया गया है कि मनुष्य समाज द्वारा ही पूर्णता प्राप्त कर सकता है। व्यक्ति और समाज, दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं और एक दूसरे के लिये आवश्यक हैं। महान पुरुष परिस्थिति के अनुसार कभी तो अपने पुरुषार्थ अथवा आन्तरिक शक्तियों का सहारा लेते हैं, और कभी बाह्य शक्तियों के अनुसार अपने को परिवर्तित कर लेते या ढाल लेते हैं, और उनके अनुसार कार्य करते हैं। प्रतिभा, विपरीत आदर्शों में समन्वय करने की शक्ति का नाम है, और उसका कार्य बाह्य तथा आन्तरिक शक्तियों में सामन्जस्य स्थापित करके जीवन संग्राम में विजयी होने का प्रयास करना है। बुद्धि न तो पैतृक दैन अथवा सम्पत्ति है और न वह समाज, जाति अथवा संस्कृति की ही देन है। शिक्षण द्वारा कुछ मनुष्यों की बुद्धि, दूसरों की अपेक्षा, अधिक विकसित हो जाती है—इसका कारण कुछ तो वंश-परम्परा अथवा

प्रकृति-सम्पत्ति है, और कुछ वातावरण की उपयोगिता अथवा शिक्षा और संस्कृति के साधन भी हैं। व्यक्तियों के समान, समुदायों में भी बुद्धि और सभ्यता का विकास इसी प्रकार से होता है। जिन समुदायों में व्यक्ति (अथवा उनके सदस्य) अधिक योग्य और कार्य कुशल हैं, उन समुदायों में सुख, शान्ति और कल्याणमय वातावरण तथा जीवन पाया जाता है। सारांश यह है कि बुद्धिमान व्यक्ति अपने समुदाय का सदुपयोग करते है, और बुद्धिमान समुदाय अपने व्यक्तियो की योग्यता से लाभ उठाकर, उन्हीं के कल्याण के लिये, प्रयत्न करते हैं।

समन्वित जीवन का दृष्टिकोण

एकत्व अथवा समन्वित जीवन के दृष्टिकोण से, व्यक्तिवादी कहते हैं, कि प्रत्येक व्यक्ति एक समन्वित अथवा संगठित जीव या आत्मा है, जो स्वभावत: अच्छा कहा जा सकता है। वह ईश्वर का अंश है। यदि उसमें किसी प्रकार की भी बुराई या त्रुटि आती है, तो वह बाह्य वातावरण से आती है। अर्थात् बुराई बाह्यगत है। मनुष्य के स्वभाव में कोई दोष नहीं है। इस कारण उसे विकास करने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। समुच्चयवादी अथवा समुदायवादी यह नहीं मानते हैं। उनके अनुसार समुदाय ही वह दैवीय शक्ति है, जिसके द्वारा व्यक्ति का जीवन सम्भव है और जिसके कारण व्यक्तिमें अनेक गुण आते हैं। इसलिये समुदाय का स्थान व्यक्ति के पद से अधिक ऊंचा, पवित्र और पूर्ण है। समुदाय ही व्यक्ति के जीवन का आधार है। समाज ही व्यक्ति की भाषा, विचारावलि, सभ्यता, संस्कृति आदि का जनक है। अत: व्यक्ति की उन्नति समाज के आदर्शों और नियमों के पालन करने से ही हो सकती है। और इस प्रकार व्यक्ति का धर्म हो जाता है कि समाज के नियन्त्रण को स्वीकार करे। समाज या समुदाय के नियमों का उल्लंघन करना उतना ही गम्भीर अपराध या पापहै, जितना ईश्वर की इच्छा के विपरीत चलने में होता हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार, स्वतन्त्रता का अर्थ स्वेच्छाचार अथवा स्वच्छन्दता नहीं हैं। सच्ची स्वतन्त्रता तो इन्द्रिय-दमन, तथा निकृष्ट स्वार्थ को छोड़कर अपने वास्तविक, श्रेष्ठ और ऊंचे स्वभाव की प्राप्ति में है। इन दोनों प्रकार के अतिशयवादों का समन्वय इस सिद्धान्त द्वारा हो सकता है कि व्यक्ति की उन्नति तथा विकास में, उसके स्वभाव में निहित आन्तरिक योग्यताओं तथा बाह्य वातावरण से आने वाली शक्तियों दोनों का हाथ है। मनुष्य अपने वातावरण को बनाता है, और वातावरण मनुष्य को बनाता है। इस प्रकार क्रियात्मक ढंग से दोनों की क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। हम देखते कि बाल्यावस्था में बच्चे अपने से बड़े पुरुषों का अनुकरण करके, अपने व्यक्तित्व के निर्माण के लिये नये नये ढंग की योग्यतायें, प्रवृत्तियां और आदतें प्राप्त करते हैं। सामाजिक-वातावरण ही में प्राय: ६ वर्ष की आयु तक बच्चों की नैतिकता का निर्माण हो जाता है। इस प्रकार सामाजिक वातावरण का प्रभाव व्यक्ति के स्वभाव के निर्माण पर पड़ता है। और फिर एक व्यक्ति का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है। तथा जब वही बच्चा बड़ा हो जाता है तो उसका जीवन दूसरों के लिए एक प्रकार का उदाहरण अथवा आदर्श बन जाता

है। यदि इच्छाओं की पूर्ति को शुभ माना जाय, और उनकी अपूर्ति को अशुभ माना जाय तो यह भी उसी समय सम्भव है, जब व्यक्ति ऐसी बातों की इच्छा करे, जो उसे समाज से प्राप्त हो सकतीं हैं। इस प्रकार, यदि व्यक्ति वही चाहता है जो उसे समुदाय से मिल सकता है, और समुदाय वही देता है जो व्यक्ति माँगता है, तो व्यक्ति और समाज के हितों का सामन्जस्य हो जाता है। अत: सामाजिक स्वतन्त्रता केवल सामाजिक-व्यवस्था के वातावरण में ही सम्भव है। अत: दोनों का विकास एक दूसरे पर अवलम्बित है। सारांश यह है कि समुदाय व्यक्तियों पर नियन्त्रण करने का जो अधिकार प्राप्त करता है, वह उसकी योग्यता अथवा शक्ति पर निर्भर है। हमे यह देखना आवश्यक है कि एक समुदाय कहां तक व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की योग्यता अथवा शक्ति रखता है। इस योग्यता अथवा शक्ति से ही समुदाय या समाज की समृद्धि तथा विकास होता है तथा व्यक्ति भी सच्चे अर्थों में तब ही स्वतन्त्र कहा जा सकता है, जब वह अपने समुदाय अथवा समाज की व्यवस्था को सुरक्षित रखने और उसे आगे बढ़ाने में योग देता हैं। व्यक्ति और समाज के बीच में संघर्ष या विरोध मानना उसी प्रकार की भूल होगी, जिस प्रकार शरीर के किसी आवश्यक अंग के हित और शरीर के हित मे विरोध खड़ा कर देने में हो सकती है।

संस्कृति

संस्कृति क्या है? संस्कृति उन योग्यताओं का नाम है, जो मनुष्य को समाज के सदस्य होने के नाते मिलती हैं। इस प्रकार संस्कृति में वे शक्तियां अथवा योग्यतायें नहीं आती हैं, जो मनुष्य को माता-पिता से रक्त और शरीर द्वारा, तथा भौतिक वातावरण द्वारा प्राप्त होती है। अत: 'संस्कृति', एक प्रकार से, ज्ञान तथा विद्या की प्राप्ति और इस विद्या को समाज के हित तथा अपने हित के लिए लगा देने की क्रिया का ही पर्याय है। मनुष्य को अनेक प्रकार की आदतें समाज अथवा बाह्य-वातावरण से प्रात होती हैं। जन्म के उपरान्त शिशु के माता-पिता भी इसी बाह्य वतावरण अथवा समुदाय के अन्तर्गत आ जाते हैं। हम ऊपर देख चुके हैं कि मनुष्य के विचार, उद्वेग, संवेग, भावनायें, भाषा तथा कार्य करने की प्रणालियां—बहुत कुछ समुदाय या समाज के ऊपर निर्भर रहती हैं। व्यक्ति का समुदाय से सम्बन्ध जिन कार्यों तथा कार्य-विधियों द्वारा प्रदर्शित होता है, वे भी मनुष्य को समाज से प्राप्त होतीं है। अत: ये सब मानसिक सामग्रियां मनुष्य के साँस्कृतिक-कोष अथवा साँस्कृतिक सम्पत्ति के अंग हैं।

समाजशास्त्रियों ने उन तत्वों का विशद् उल्लेख किया है, जिनका प्रभाव व्यक्ति के आचरण के निर्माण पर पड़ता है। ये शक्तियां या तत्व मुख्यत: तीन है। (१) लोक-रीति अथवा जन-रीति या गणविधि (२) नैतिक रीति-रिवाज और (३) संस्थाएं। आरम्भ में मनुष्य पर, गणविधि अथवा उसके कुटुम्ब, परिवार, गांव के रहन-सहन आदि का प्रभाव पड़ता है। और उसका आचरण बहुत कुछ अपने कुल या खानदान के अनुसार बनने लगता है। फिर मनुष्य के जीवन पर उन नैतिक प्रणालियों का सके वृहद समुदाय द्वारा स्थापित होती हैं तथा इस प्रभाव के

अथवा समाज द्वारा लोक-हित के लिये बनाये गये है। इस प्रकार गणरीति और रीति-रिवाज तो विश्वासों तथा धारणाओं और मतों पर अवलम्बित रहते है परन्तु नियम, कानून तथा संस्थाएं, निश्चित (और प्राय: लिखित) ढंग से, शासकों द्वारा स्थापित की जाती हैं। ये सब बातें अर्थात् गण,विधि कुलाचार, लोकाचार, सामाजिक नियम और संस्थायें समुदाय अथवा समाज द्वारा, व्यक्तियों के हित के लिए स्थापित की जाती हैं। जिस प्रकार कोई मनुष्य बिना माता के पैदा नहीं हो सकता उसी प्रकार कोई भी व्यक्ति बिना समाज के न तो जीवित रह सकता है, और न वह अपने जीवन को संस्कृत ही बना सकता है। यह सांस्कृतिक देन जो मनुष्य को समाज से मिलती है, बहुत कुछ उसके स्वभाव या व्यक्तित्व को बनाती है। परन्तु साथ ही साथ हमे स्मरण रखना चाहिये कि, अन्त में, सब नियम, कानून रीति-रिवाज और संस्थायें व्यक्ति के ही हित के लिए हैं। अत: व्यक्ति ही सब संस्थाओं का कारण भी है, और कार्य व फल भी, अथवा वह सब संस्थाओं का लक्ष्य भी है और अधिष्ठान भी।

संस्कृति में एक प्रकार का स्थायीपन पाया जाता है। इस कारण वह मनुष्य के जीवन में एक कल्याणकारी शक्ति है। परन्तु कभी-कभी रूढ़िवादी (अर्थात् प्राची-नता के अंधानुयायी) उन परिवर्तनों का विरोध करते है, जो जलवायु के परिवर्तनों अथवा नवीन भौगोलिक परिस्थितियों, नवीन आविष्कारों, तथा अन्य समाजों से नवीन बातें प्राप्त होने के कारण, आवश्यक हो जाते हैं। ऐसी दशा मे हमारा अतीत अथवा भूतकाल हमारे वर्तमान तथा भविष्य का शत्रु बन जाता है। और पुरानी रूढ़ियों एवं आदतों तथा नई समस्याओं और आवश्यकताओं के बीच संघर्ष होने लगता है। इस संघर्ष का प्रभाव समाज के संगठन पर तथा व्यक्ति के चरित्र-निर्माण पर बुरा पड़ता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा समाज के संगठन में विरोध के चिन्ह दिखलाई देते हैं। इस प्रकार का संघर्ष प्राय: सांस्कृतिक कारणों से हुआ करता है। परन्तु कभी कभी वह यौवन अर्थात् अपरिपक्व अनुभव की उद्दामता, भावनात्मक उत्तेजनाओं, बीमारियों (प्रमुखत: मानसिक) आदि के कारण विद्रोह का रूप धारण कर लेता है। कभी कभी ये दोनों कारण मिलकर भी कार्य करते है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति के आन्तरिक जीवन तथा बाह्य जीवन दोनों में गम्भीर उथल-पुथल होती है। सांस्कृतिक संघर्षों के कारण, कुछ मनुष्यों मे एक प्रकार का विचित्र या असाधारण व्यक्तित्व उत्पन्न हो जाता है, जिसे सन्धिकालिक व्यक्तित्व (Marginal Personality) कहते हैं। इस प्रकार के व्यक्तित्व में एक ही मनुष्य में दो प्रकार की ऐतिहासिक परम्पराओं, नैतिक, राजनीतिक और धार्मिक प्रणालियों, भाषाओं आदि के प्रति भक्ति अथवा श्रद्धा की भावना पाई जाती है। उसका प्रेम दो प्रकार के समुदायों में बँट जाता है। और कुछ अंशों में वह प्रतिक्रियावादियों का साथ देता है, और कुछ अंशों में वह नवीन सुधारवादियों अथवा क्रान्तिकारियों का अनुगामी होता हैं। उसके जीवन में प्रति-क्रियावाद और सुधारवाद में संघर्ष होने लगता है। कभी कभी ऐसे भी व्यक्ति पाये जाते हैं, जिनके हृदय में पुरानी परम्पराओं जड़ तो कट चुकी हैं, परन्तु अभी नवीन बेलें नहीं लग पाई है। पुराने महल गिर चुके

है, परन्तु उनके स्थान पर नये मकान नहीं बन पाये है। ऐसी दशा में यह प्रश्न उठता है कि इस प्रकार के परिवर्तनों के प्रति समाजशास्त्र का क्या दृष्टिकोण है ?

परिवर्तन

परिवर्तन के सम्बन्ध में दो विचारधारायें प्रचलित हैं:—

(१) उन लोगों का मत जो नित्य, शाश्वत अथवा अमरतत्त्व को यथार्थ मानते हैं। ऐसे विचारक प्रतिक्रियावादी तथा नवीन परिवर्तनों के विरोधी होते हैं, क्योंकि उनके मतमें नवीन का स्वागत करना दुर्बलता और अनैतिकता का लक्षण है और एक प्रकार का पाप है। (२) दूसरे वे विचारक हैं, जिनका सम्बन्ध, किसी कारण से, पुरानी परम्पराओं से कट गया है। ऐसे विचारक सभी पुरानी बातों के विरोधी हो जाते हैं चाहे वे प्राचीन प्रथायें भली हों या बुरी, लाभदायक हों या हानिप्रद। परन्तु इन अतिशयवादियों की भूलों से बचकर, हम दोनो मतों का समन्वय भी कर सकते हैं। समन्वय इस सिद्धान्त के द्वारा हो सकता है कि न तो हम प्राचीन परम्पराओं के अन्ध-विश्वासी भक्त हों, और न उनके विचारहीन हठवादी शत्रु। यहां पर यह प्रश्न उठता है कि फिर हम किस मापदण्ड द्वारा यह निश्चित करें कि अमुक प्रणाली व्यक्ति तथा सभ्यता के लिए कल्याणकारी है और अमुक प्रणाली हानिकारक है ? इस प्रश्न का उत्तर, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से, सभ्यता के विकास की विवेचना करने से प्राप्त हो सकता है। अतः उस पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक हो जाता है।

व्यक्तियों के जीवन के समान, संस्थाओं के जीवन में भी चार-पांच अवस्थाएं या काल माने जा सकते हैं:—

(१) प्रारम्भ में समुदाय को यह प्रतीत होता है कि किसी विशेष आवश्यकता की पूर्ति के लिए अमुक संस्था को स्थापित करना आवश्यक है तथा इस आवश्यकता के फल-स्वरूप एक नवीन संस्था का जन्म होता है।

(२) फिर इस संस्था को कुछ सफलता मिलने लगती है, और इसकी लोकप्रियता तथा योग्यता बढ़ने लगती है।

(३) तीसरी अवस्था कुछ नई परिस्थितियों और आवश्यकताओं के कारण, उक्त संस्था में कुछ परिवर्तन अवश्य हो जाते हैं, पर रूढ़िवादी इन परिवर्तनों का विरोध करते हैं। इस प्रकार संस्थाओं में रूढ़िवादी, प्राचीन परम्पराओं पर अन्धविश्वास तथा असहिष्णुता का प्रादुर्भाव हो जाता है। इसी समय कुछ सुधारवादी या क्रांतिकारी संकट सहकर भी पुरानी रूढ़ियों का विरोध करते हैं। ऐसी दशा में संस्था के अन्दर व्यक्तियों और गुट्टों में संघर्ष होने लगता है। तथा जन-साधारण समाजशास्त्र के नियम न जानने के कारण, एक दूसरे पर दोषारोपण करते हैं।

(४) ऐसी अवस्था में संस्था के अन्दर अनुशासन-हीनता फैलने लगती है और छिन्न भिन्न होने लगता है, और मुट्ठी भर प्रतिक्रियावादियों को छोड़कर शेष लोग संस्था को छोड़ने लगते हैं; वे उसको दकियानूसी मानने लगते हैं।

(५) परन्तु यदि उपर्युक्त संस्था में, किसी प्रकार से भी, समाज या समुदाय की कोई भी आवश्यकता पूरा करने की योग्यता थी, तो इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए, एक नई संस्था का जन्म होता है, अर्थात् पुरानी संस्था का जीर्णोद्धार होता है। किन्तु परिवर्तन के ऐतिहासिक क्रम को समझना सरल नहीं है। और जो लोग इन परिवर्तनों के पीछे काम करने वाली शक्तियों या नियमों को नहीं समझ पाते हैं, वे लोग, अनावश्यक ढंग से विशेष नेताओं, व्यक्तियों संस्थाओं, मनुष्य-समाज, साँसारिक जीवन और यहाँ तक कि ईश्वर को भी कोसने लगते हैं।

पर जो लोग सामजिक परिवर्तनों के क्रम को समझ लेते हैं, वे अपने को परिस्थिति के अनुसार ढाल सकते हैं, और अपने और समाज के बीच में सामन्जस्य स्थापित कर सकते हैं। उनमें इस प्रकार की भावना नहीं होती है कि 'कोउ नृप होई हमें का हानि', अर्थात् वे उदासीन नहीं होते हैं बरन् उनमें यह विश्वासात्मक भावना होती है कि हम ऐतिहासिक परिवर्तनों में भाग लेकर, सहायता दे सकते हैं, और नये युग के जन्म के समय जो कठिनाइयां होती हैं, उन्हें कुछ अंशों में दूर कर सकते हैं। अतः ऐसे समय में समाज-शास्त्र वेत्ता, एक प्रकार से, सामाजिक इंजीनियर का काम करते हैं। इस प्रकार, वैज्ञानिक ढंग से परिवर्तनों का अध्ययन होना चाहिए, और दूरदर्शिता सहित, ऐसी धारायें व नियम बनने चाहिए जिनसे परिवर्तन के समय की कठिनाइयां दूर हो सके। सामाजिक और सांस्कृतिक योजनाओं द्वारा, कुरीतियों का निवारण होना चाहिये और शिक्षा के विकास तथा प्रचार द्वारा अन्य संस्कृतियों से अच्छी बातें ग्रहण करने की योग्यता बढ़ाई जानी चाहिये। कभी कभी समाज के विरुद्ध विद्रोह करना ही समाज सेवा कही जा सकती है। परन्तु यह स्मरण रहे कि स्थायी सुधार वही लोग कर सकते हैं, जो वर्तमान नैतिकता के रक्षक हैं, अथवा जो अभी तक पुराने नियमों का पालन करते रहे हैं। सुधारक को वर्तमान परिस्थिति का भी ध्यान रखना चाहिए। परन्तु नेताओं के अतिरिक्त, साधारण व्यक्ति के लिये, सही उपदेश उपयुक्त होगा कि न तो नये मार्ग में पहला कदम रखो और न पुराने मार्ग के छोड़ने में सबसे पीछे रहो।

सांख्य दर्शन मीमांसा

प्रमेय ज्ञान—साधन-भेद-विचार[1]

शान्ति प्रकाश आत्रेय

सांख्य कारिका में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि सब विद्यमान विषयों का प्रत्यक्ष नहीं होता है। उनका ज्ञान भी इसी कारण से प्रत्यक्ष और पूर्ववत अनुमान प्रमाणों द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता है। अतः उनका ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमें सामान्यतो-दृष्ट अनुमान की शरण लेनी पड़ती है। जिन विषयों का ज्ञान सामान्यतो दृष्ट अनुमान के द्वारा भी नहीं होता हमें उन विषयो का ज्ञान प्राप्त करने के लिये शब्द प्रमाण की आवश्यकता पड़ती है। इसे कारिकाकार ने छठी कारिका द्वारा स्पष्ट कर दिया है।

कारिका—६—सामान्यतस्तु दृष्टात्, अतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्।
तस्यादपि चाऽसिद्धम्, परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् ।।६।।

अन्वयः—सामान्यतो दृष्टात्, अनुमानात्, तु, अतीन्द्रियाणाम्, प्रतीतिः, भवति, तस्यादपिच, असिद्धम् , परोक्षम्'आप्तागमात् , सिद्धम्।

व्याख्याः—सामान्यतो दृष्टात्=सामान्यतोदृष्ट। अनुमानात्=अनुमान से। तु-तो ("तु" शब्द सामान्यतो दृष्ट अनुमान को प्रत्यक्ष और पूर्ववत अनुमान से प्रथक करता है।) अतीन्द्रियाणाम्=जो पदार्थ अतीन्द्रिय हैं (इन्द्रिय के विषय नहीं है) जैसे प्रकृति, पुरुष बुद्धि अहंकार आदि की, प्रतीतिः=ज्ञान, (अनुमित्यात्मक ज्ञान) (भवति=होता है) तस्मात् अपि च = च = और, तस्मात्=अनुमान से, अपि = भी जो। असिद्धम् = असिद्ध है। परोक्षम्=परोक्ष वस्तुओं (स्वर्ग, नरक, पाप, पुण्य, इन्द्र आदि देवताओं का ज्ञान) का ज्ञान आप्तागमात्=शब्द प्रमाणसे, सिद्धम् सिद्ध होता है।

अर्थ—जिन विषयों का इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। ऐसे अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान सामान्यतो-दृष्ट अनुमान के द्वारा होता है, और सामान्यतो दृष्ट

---

[1] सांख्य कारिका—६, ७, ८; सांख्य तत्व कौमुदी—६, ७, ८; सांख्य प्रवचन भाष्यम् १—१०२, १०३, १०८, १०६, ११०

अनुमान से भी जिन परोक्ष वस्तुओं को सिद्ध नहीं होती उनका ज्ञान शब्द प्रमाण के द्वारा होता है।

भावार्थ:—यथार्थ ज्ञान के साधनीभूत प्रमाणों का विवेचन पिछली कारिका में किया गया है। अब प्रश्न उठता है कि व्यक्त, अव्यक्त तथा पुरुष को सिद्ध करने के लिए किन किन प्रमाणों की आवश्यकता होती है। इस कारिका में यही बताया गया है कि इन्द्रयों के द्वारा जिन विषयो का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता ऐसे अतीन्द्रिय विषयों का यथार्थ ज्ञान सामान्यतो-दृष्ट अनुमान के द्वारा होता है। सर्वसाधारण व्यक्तियों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण तथा प्रत्यक्ष के आधार पर किये गये अनुमान के ऊपर आधारित होता है। कुछ विषय जैसे घट पट आदि जिनका प्रत्यक्ष होता है उनका ज्ञान हमें प्रत्यक्ष प्रमाण तथा पूर्व मे हुये विशिष्ट प्रत्यक्ष पर आधारित अनुमान (पूर्ववत अनुमान) के द्वारा होता है। जब घट पट पदार्थ आदि दृष्टिगोचर नहीं होते किन्तु वे पूर्व में एक विशिष्ट सम्बन्ध में देखे गये हैं, जैसे अग्नि और धूम। अग्नि और धूम को पूर्व में हमने महानस (रसोई) में देखा है और धुंये के साथ अग्नि का व्याप्ति रूप सम्बन्ध है। जहां धूवां होगा वहां अग्नि अवश्य होगी। पर्वत पर धूम दिखायी दिया तो उससे पर्वत पर अग्नि का अनुमान किया गया। इसे पूर्ववत अनुमान कहते हैं यह पूर्ववत अनुमान पूर्व में किये गये प्रत्यक्ष पर आधारित है। इस कारिका में शुरु में ही कहा है कि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान अर्थात् सिद्धि सामान्यतो दृष्ट अनुमान से होती है, क्योंकि उनका प्रत्यक्ष इन्द्रियों द्वारा नहीं हो पाता है, और न पूर्व में ही इस प्रकार का प्रत्यक्ष हुआ है। यहां इस कारिका में बहुत से विद्वानों के अनुसार इन्द्रियगोचर पदार्थों के तथा अन्य व्यक्त पदार्थों के विषय में नहीं कहा गया है क्योंकि उनका ज्ञान तो प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा स्पष्ट ही है। सांख्य में बाह्य प्रत्यक्ष के रूप में ही प्रत्यक्ष का प्रयोग है आन्तर प्रत्यक्ष के रूप में नही जैसा कि न्याय में है। सांख्य आन्तर प्रत्यक्ष के विषय में मौन प्रतीत होता है। अगर केवल इन्हीं (व्यक्त) का ज्ञान अभीष्ट हैं तो फिर इसके लिए विशिष्ट विज्ञान की क्या जरुरत है? किन्तु ऐसी बात नहीं है। क्योंकि अव्यक्त पुरुष तथा महत्, अहंकार, मन, पंच ज्ञानेन्द्रिय का ज्ञान हमें कभी भी प्रत्यक्ष के द्वारा वा प्रत्यक्ष पर आधारित अनुमान द्वारा नही हो सकता इसलिये इसके लिये सामान्यतो दृष्ट अनुमान की जरूरत पड़ती है।

अगर 'अ' और 'ब' खास खास बातों में समान हैं तो जो 'अ' के लिए सत्य होगा वही 'ब, के लिए भी सत्य होगा। उदाहरण के रूप में हम कह सकते हैं—कि सब क्रियावों के लिये करण का होना आवश्यक है। जैसे छेदन (काटना) एक क्रिया है उसके लिये कुल्हाड़े की आवश्यकता होती है इसी प्रकार देखना एक क्रिया है जिसके लिए करण होना चाहिए, इसलिये चक्षु इन्द्रियकरण हुये। इसी प्रकार से सब इन्द्रियों का ज्ञान इसी अनुमान के द्वारा होता है। महत् अहंकार आदि का प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञान न होने के कारण उनका भी ज्ञान इसी अनुमान द्वारा होता है। 'तु' शब्द प्रत्यक्ष और पूर्ववत अनुमान से सामान्यतोदृष्ट अनुमान को प्रथक करता है। सामान्यतोदृष्ट

अनुमान द्वारा प्राप्त ज्ञान का क्षेत्र प्रत्यक्ष तथा पूर्ववत अनुमान से कहीं अधिक है किन्तु उसकी भी सीमा हैं, कुछ पदार्थं भी हैं जिनको न तो हम प्रत्यक्ष के द्वारा और न अनुमान (पूर्ववत, सामान्यतो दृष्ट, शेषवत) के ही द्वारा जान सकते हैं। उनका ज्ञान शब्द प्रमाण के द्वारा होता हैं। यह पूर्व में ही कहा जा चुका है कि कतिपय स्थल ऐसे हैं अर्थात् ऐसे भी परोक्ष पदार्थ हैं जिनकी सिद्धि वीत अनुमान के द्वारा हो ही नहीं सकती ऐसे अवसर पर अवीत अनुमान जिसे शेषवत अनुमान भी कहा जाता है, के द्वारा उन पदार्थों की सिद्धि होनी है। जैसे शब्द गुण है और गुण होने के कारण द्रव्य पर ही आश्रित है अन्य पर नहीं। ९ द्रव्यों में से पृथ्वी आदि ८ द्रव्यों का गुण शब्द नहीं है इस लिये बाकी बचे ९ वें द्रव्य आकाश का गुण शब्द हुआ। इस प्रकार से ऐसे स्थल पर वीत (पूर्ववत सामान्यतो दृष्ट) अनुमान के द्वारा हमें ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता है। किन्तु कुछ ऐसे भी पदार्थ हैं जिनका ज्ञान इन तीनों अनुमानों के द्वारा सर्वथा असम्भव है और उनके होने में संदेह भी नहीं किया जा सकता है। उनकी सिद्धि शब्द प्रमाण के द्वारा होनी है जैसे महत् आदि तत्वों के आरम्भ क्रम स्वर्ग, नरक, अपूर्व, पाप, पुण्य, देवता आदि परोक्ष विषयों का ज्ञान शब्द प्रमाण द्वारा होता है। इसी कारण कारिका में कहा है कि उससे (अनुमान) भी असिद्ध अतीन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि आगम प्रमाण से होती है। "तस्मादपि च सिद्धम् परोक्षाप्तागमात् सिद्धम्" यहां कारिका में शेषवत अनुमान के विषय में सीधे सीधे वर्णन नहीं है किन्तु "तस्मादपि च" पद में 'च' का प्रयोग शेषवत अनुमान को बताता है। अब प्रश्न उठता है कि अगर शब्द प्रमाण के द्वारा ही वह ज्ञान प्राप्त होता है जो कि सामान्यतोदृष्ट के द्वारा भी नही प्राप्त होता तो इस अनुमान की आवश्यकता ही क्या है? केवल शब्द अर्थात् आगम प्रमाण को ही हम क्यों न मानें? इसके उत्तर में यह कहना पर्याप्त होगा कि ज्ञान प्रदान करने के साधनों में प्रथम तथा सर्वोच्च स्थान प्रत्यक्ष का है, अनुमान उससे निम्न श्रेणी में आता है किन्तु आगम से उच्च श्रेणी में माना जाता है। यहां कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष के द्वारा जो ज्ञान सम्भव है वही ज्ञान अनुमान से होता है। जो इन दोनों के द्वारा भी होना दुर्लभ है उसे ही आगम प्रमाण के द्वारा करना चाहिए। हम सम्पूर्ण ज्ञान को शब्द प्रमाण पर आधारित नहीं कर सकते हैं।

यहां पर विशेष विवेचनीय विषय यह हैं कि "त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धि: प्रमाणाद्धि" इस चौथी कारिका में प्रमेय पदार्थों की सिद्धि के प्रकरणावसर पर ईश्वर कृष्ण ने स्वयं कहा कि प्रमेयभूत समस्त पदार्थों की सिद्धि प्रमाण से ही होती है। उसके बाद चतुर्थ कारिका में बतलाया हुआ प्रमाणों का त्रैविध्य विशेष रूप में पंचम कारिका के अन्दर वर्णित किया गया हैं तथा उनके लक्षण का निर्देश भी अच्छी प्रकार किया है। इसके बाद छठी कारिका में किन किन प्रमाणों से किन किन प्रमेय पदार्थों का ज्ञान होता है यह बतलाया गया है। सो अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान सामान्यतों दृष्ट अनुमान से होता है ऐसा ईश्वर कृष्ण का तात्पर्य वाचस्पति मिश्र ने वर्णित किया है। सामान्यतो दृष्ट अनुमान से भी जिन परोक्ष वस्तुओं का अर्थात् पूर्वकाल में सम्पन्न हुए

भूतकालीन योगादि पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता है उनका ज्ञान आगम प्रमाण से होता है।

परन्तु यहाँ हमें जिज्ञासा यह होती है कि "तु शब्दः प्रत्यक्षपूर्ववद्भयां विशिनिष्ट" अर्थात् 'तु' शब्द का प्रत्यक्ष और पूर्ववत् (अनुमान) इन दोनों से सामान्यतो दृष्ट अनुमान मे विशेषता उत्पन्न कर रहा है, अथवा बतला रहा है, ऐसा वाचस्पति मिश्र ने कह कर तु शब्द की विशेषता बतलाई है। इस विशेषता के बतलाने से वाचस्पति मिश्र के दो दृष्टिकोण मालूम होते हैं—एक तो यह कि वे सामान्यतो-दृष्ट अनुमान का महत्व प्रत्यक्ष प्रमाण से तथा पूर्ववत अनुमान से ऊंचा करके लोगो को दिखलाना चाहते है। सामान्यतो-दृष्ट अनुमान वह अनुमान है जिसके द्वारा उन पदार्थों की प्रतीति होती है कि जिन पदार्थों की प्रतीति न प्रत्यक्ष प्रमाण से हो सकती है, और न पूर्ववत् अनुमान से ही। परन्तु इस पक्ष मे 'शेषवत् अनुमान को क्यों नही-छोड़ा गया अर्थात् तब तो इसे भी छोड़ना चाहिए था अर्थात् 'तु' शब्द से इनकी भी व्यावृत्ति करनी उन्हें आवश्यक थी। जिससे कि प्रत्यक्ष और तीनों प्रकार के अनुमान—इन चारों मे तब एक छत्र सबसे ऊंचा महत्व सामान्यतो-दृष्ट अनुमान ही का होता। परन्तु मालूम पड़ता है कि वाचस्पति मिश्र को यह अभीष्ट नहीं था उन्हें एक मात्र प्रत्यक्ष और पूर्ववत् की अपेक्षा ही सामान्यतो दृष्ट का महत्व बतलाना अभीष्ट था। क्योंकि तभी तो वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि "उपलक्षणं चेतत् शेषवत् इत्यपि द्रष्टव्यम्" अर्थात् सामान्यतो दृष्ट अनुमान से जो ईश्वर कृष्ण ने अतीन्द्रिय पदार्थों की प्रतीति होना बतलाया है, वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि वह उपलक्षण मात्र है अर्थात् वह एक कहना मात्र है, क्योंकि शेषवत् को भी देख लेना चाहिए अर्थात् यह शेषवत् अनुमान भी अतीन्द्रिय पदार्थों का साधक है। जैसे—"स्थूलभूतानि—सूक्ष्मतन्मात्राकारणकानि-स्थूलत्वात् घटवत्" अर्थात् स्थूलभूत पदार्थ—सूक्ष्मतन्मात्रा स्वरूप कारण वाले हैं—स्थूल होने से घट के समान। अर्थात् यह सर्वत्र देखेने में आता है कि स्थूल समस्त पदार्थों का कारण सूक्ष ही हुआ करता है। तन्मात्रा या न्यायमतासिद्ध परमाणु सब सूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय हैं। उनसे उत्पन्न हुए पदार्थ स्थूल हैं तथा इन्द्रिय ग्राह्य हैं। सो यहां पर पृथ्वी—एवं घट पट आदि स्थूल भूतात्मक प्रत्यक्ष कार्य स्वरूप लिंग वाले शेषवत् अनुमान के आधार पर ही तन्मात्रा स्वरूप अतीन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि हो रही है। इस प्रकार स्थूल भूत स्वरूप प्रत्यक्ष कार्यात्मक लिंग के द्वारा तन्मात्रा आदि अतीन्द्रिय पदार्थों की अनुमिति रूप से सिद्धि कर, इसके पश्चात् सामान्यतोदृष्ट अनुमान से तन्मात्राएं अहंकार रूप कारण वाली हैं, इसके बाद अहंकार—बुद्धि—रूप कारण वाला हैं फ़िर बुद्धि-प्रकृति रूप कारण वाली है। इसके बाद अब चेतन पुरुष की सिद्धि कीजिये कि यह योग्य प्रकृति—एवं प्रकृति के कार्य स्वरूप समस्त योग्य पदार्थ—दूसरे (अर्थात् चेतन पुरुष) के लिए हैं। क्योंकि भोक्ता चेतन ही हुआ करता है इस प्रकार सामान्यतोदृष्ट अनुमान से अहंकार-बुद्धि प्रकृति तथा पुरुष इन अतीन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि होती है। शेषवत अनुमान से तन्मात्रा एवं इन्द्रिय आदि अतीन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि (अनुमिति) होती है। फिर भी सामान्यतोदृष्ट अनुमान का शेषवत्

अनुमान की अपेक्षा महत्व अधिक ही है। क्योंकि सामान्यतोदृष्ट हमें तन्मात्रा आदि अतीन्द्रिय पदार्थों के भी कारणीभूत अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान कराता है।

दूसरा दृष्टिकोण वाचस्पति मिश्र का यह मालूम पड़ता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर ज्ञात होने वाला स्थूल विषय सार्वजनिक होने के नाते प्रसिद्ध ही है। उस सिद्ध विषय को अब फिर प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सिद्ध करना यह सिद्ध साधन अथवा पिष्ट पेषण दोष ही तो है। इसी प्रकार पूर्ववत् अनुमान से भी कार्यस्वरूप लिंग के द्वारा अपने कारण का ज्ञान करना होता है। सो यह भी सार्वजनिक ही विषय होने के नाते प्रसिद्ध ही है, कारण कि पांसुलपाद एक हल वाहक व्यक्ति भी धुए से अपनी कारणी भूत अग्नि का अनुमिति रूप ज्ञात करता ही है। अन्य विशेष व्यक्तियों का तो कहना ही क्या है? अत: पूर्वतत् अनुमान का भी विषय सार्वजनिक है तथा सर्वथा प्रसिद्ध है। अब उसको फिर इस छठी कारिका के आधार पर सिद्ध करना यह भी सिद्ध साधन अथवा पिष्टपेषण दोष ही कहलायेगा। अन्यथा वाचस्पति मिश्र के ऊपर यह आक्षेप बराबर बना ही रह जाता है कि जब ईश्वर कृष्ण ने चौथी कारिका में यह बतला दिया कि प्रमेय पदार्थों की सिद्धि अर्थात् प्रमेय पदार्थों का ज्ञान हमेशा प्रमाणों से ही होता है और छठी कारिका में ईश्वर कृष्ण ने जो बतलाया कि किस किस प्रमाण से किस किस प्रमेय पदमर्थ का ज्ञान होता है। उसमें उसने बतलाया कि अतीन्द्रय पदार्थों का ज्ञान अनुमान से होता है, और स्वर्ग कारणी भूत परोक्ष (अतीत कालीन) योगादि पदार्थों का ज्ञान "स्वर्गकामोयजेत" इत्यादि आगम प्रमाण से होता है।

परन्तु वाचस्पित मिश्र ने जहां दो प्रमाणों की उपयोगिता दिखलाई वहां प्रत्यक्ष प्रमाण की उपयोगिता को क्यों छोड़ा? क्योंकि छठी कारिका से जिस प्रकार अतीन्द्रिय एवं परोक्ष वस्तुओं के ज्ञान के प्रति अनुमान तथा आगम प्रमाण की उपयोगिता सिद्ध हो रही हैं इसी प्रकार इसी ग्राह्य घट पट आदि सामान्य पदार्थों के ज्ञान के प्रति प्रत्यक्ष प्रमाण की भी उपयोगिता इन शब्दों द्वारा स्पष्ट निकल सकती है कि सामान्यत: यहाँ पर षष्ठी के स्थान में सार्वविभक्ति कस्तसिल् प्रत्यय करके सामान्यत: इसका सामान्यस्य यह अर्थ कर दिया जाय, और आगे दृष्टात् का प्रत्यक्ष प्रमाण अर्थ है ही। तब समस्त का यह अर्थ निकल आता है कि –इन्द्रियग्राह्य सब सामान्य पदार्थों की दृष्टात् प्रत्यक्ष प्रमाण से—प्रतीत होती है। आगे का हिसाब किताब पहिले के समान ठीक ही है कि अतीन्द्रिय पदार्थों की प्रतीति अनुमान से होती है। और अनुमानमान से भी जिन परोक्ष अतीतकालीन—भूतकालीन योगादि वस्तुओं का ज्ञान न हो सके उनका ज्ञान आगम प्रमाण से होता है।

अब इस प्रकार के व्याख्यान में प्रत्यक्ष प्रमाण की उपयोगिता न दिखलाने में यदि त्रुटि है तो वाचस्पति मिश्र की ही है न कि ईश्वर कृष्ण की। क्योंकि वाचस्पति मिश्र ने ही तु शब्द से प्रत्यक्ष प्रमाण की व्यावृत्ति की है। अन्यथा ईश्वर कृष्ण की कारिका के आधार पर तीनों ही प्रमाणों की उपयोगिता स्पष्ट रूप से सिद्ध हो रही है।

परन्तु षड्दर्शनों के आचार्य श्री वाचस्पति मिश्र ने जो प्रत्यक्ष प्रमाण का प्रदर्शन नहीं किया उसका रहस्य हमें तो श्री आचार्य महोदय के पूर्वोक्त दो दृष्टिकोण ही प्रतीत होते हैं, जिन दो दृष्टिकोणों का अभी हमने प्रतिपादन किया है।

हम ऐसा अवश्य सोच सकते हैं कि जिस वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा नहीं हो पाता है—वह वस्तु है ही नहीं किन्तु यह कहना व सोचना ठीक नहीं है। क्योंकि बहुत से पदार्थ ऐसे हैं जिनका प्रत्यक्ष हमें हमेशा नहीं होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे हैं ही नहीं, अथवा थे तो किन्तु नष्ट हो गये। जिस प्रकार से किसी स्त्री के पति के घर से बाहर चले जाने पर उसका प्रत्यक्ष न होने से वह स्त्री विधवा नहीं कही जा सकती है अर्थात् उसके पति का अत्यन्ताभाव अथवा सार्वकालीन अस्तित्वा-भाव नहीं कहा जा सकता है। उसी प्रकार प्रकृति, पुरुष, स्वर्ग, नरक, देवता, दानव आदि का प्रत्यक्ष न होने के कारण सर्वथा उनका अत्यन्ताभाव अथवा अस्तित्वाभाव नहीं कहा जा सकता है। जिस प्रकार खरगोश के सींगों का, आकाशकुसुम का, कछुवे की पीठ के ऊपर बालों का प्रत्यक्ष न होने के कारण उनके अत्यन्ताभाव अथवा अस्तित्वाभाव को हम स्वीकार कर लेते हैं वैसे इस स्थल पर नहीं है।

यहां हम सोचने की प्रणाली में एक बहुत बड़ी भूल कभी कभी हो जाती है कि हम दो भिन्न भिन्न स्थिति वाले पदार्थों को एक ही श्रेणी में सम्मिलित कर देते हैं। जैसे शशृंग, आकाश कुसुम, कुर्मरोम, बन्ध्यापुत्र आदि में जो प्रत्यक्ष की अयोग्यता है वही प्रत्यक्ष की अयोग्यता प्रकृति पुरुष आदि अतीन्द्रिय पदार्थों मे भी है। परन्तु शशृंग, आकाश कुसुम आदि सर्वथा अपने अस्तित्व से शून्य हैं। किन्तु प्रकृति-पुरुष आदि अतीन्द्रिय पदार्थ अपने अस्तित्व से शून्य नहीं है अपितु अस्तित्व सम्पन्न ही हैं, क्योंकि अनुमान प्रमाण के आधार पर उनका अस्तित्व सर्वथा सुरक्षित है।

अत: यही कहना सर्वथा आवश्यक होगा कि प्रत्यक्ष योग्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष न होने पर ही अभाव मान्य होता है अन्यथा नहीं। जो प्रत्यक्ष योग्य नहीं है उनका प्रत्यक्ष न होने से उनका अभाव मानना उचित नहीं है।

सांख्य कारिका में सामान्यतो दृष्ट अनुमान के द्वारा ही अतीन्द्रिय अथवा परोक्ष पदार्थों का ज्ञान बताया जाता है। किन्तु प्रश्न उठता है कि प्रधान की सिद्धि जैसी ८वीं कारिका में दी गई है—कार्य से कारण के अनुमान द्वारा होती है। यहां सामान्यतो दृष्ट के प्रयोग में बड़ी गड़ बड़ होती है जो वह स्पष्ट नहीं होती है। यहां हम पंचम कारिका में साफ साफ कह चुके हैं।

अग्रिम सातवीं कारिका में अप्रत्यक्ष होने की सम्भावना के कारण दिये हैं—

कारिका ७—अतिदूरात् सामीप्यात् इन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानात् अभिभवात् समानाभिहारात् ॥७॥

अन्वय:—अतिदूरात् (अति) सामिप्यात्, इन्द्रिघातात्, मनोऽनवस्थानात्, सौक्ष्म्यात्, व्यवधानात्, अभिभवात् समानाभिहारात्, च। (अनुपलब्धिर्भवति)

व्याख्या:—अतिदूरात्=अत्यन्त दूर से, अतिसामीप्यात् अत्यन्त समीप से, (जैसे आंखों मे पड़ा हुआ अंजन), इन्द्रियघातात्=इन्द्रिय के घात=नाश हो जाने स। मनोऽनवस्थानात्=मन के अनवस्थान से अर्थात् स्थिर न होने से। सौक्ष्म्यात्=सूक्ष्मता के कारण। व्यवधानात्=बीच में रूकावट, आड़ वा ओट होने से। अभिभावात्=अभिभून हो जाने से, (जैसे दिन मे सूर्य के प्रकाश से नक्षत्र एवं ग्रहों का प्रकाश दब जाने से नहीं दिखाई देता।) समानाभिहारात्=अपनी सजातीय वस्तु में मिल जाने से। (जैसे तालाब वा नदी के जल में गिरा हुआ वर्षा का जल।) च=और अन्य कारणों से इत्यादि। (अनुपलब्धि:—प्रत्यक्ष नहीं होता है)

अर्थ—अत्यधिक दूरी व समीपता, इन्द्रिय नाश, चित्त चांचल्य सूक्ष्मता, रूकावट, अधिक तेज वाली वस्तु के तेज से तेज वाली वस्तु के दब जाने से, समान वस्तुओं में मिल जाने से पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता है।

भावार्थ:—पदार्थों के प्रत्यक्ष न होने से यह सिद्ध नहीं होता कि उनका अस्तित्व ही नहीं है। प्रत्यक्ष योग्य स्थूल पदार्थों का भी अनेक कारणों से प्रत्यक्ष नहीं होता है। अत: इससे यह आशय नहीं निकलता कि उन प्रत्यक्ष योग्य पदार्थों का अस्तित्व ही नहीं है। पदार्थों की वास्तविक सत्ता होते हुए भी उनके प्रत्यक्ष होने में बिघ्न पहुँचाने वाले बहुत से कारण हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में यही कहना पर्याप्त होगा कि उन पदार्थों की सिद्धि अनुमान के द्वारा ही की जाती है। इस कारिका में पदार्थों के प्रत्यक्ष में प्रतिबन्ध करने वाले कारणों का वर्णन किया गया है। उन्ही दोषात्मक कारणों के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो पाता हैं।

(१) प्रथम कारण "अतिदूरात्"—अत्यधिक दूर होने के कारण वस्तुओं का प्रत्यक्ष न होना अर्थात् अति दूरत्व भी प्रत्यक्ष न होने में एक दोष है जैसे आकाश में उड़ने वाला पक्षी कबूतर आदि, मकान, मन्दिर, नक्षत्र आदि अत्यन्त दूर होने के कारण हमें दृष्टिगोचर नहीं हो पाते हैं। इसी प्रकार से अन्य इन्द्रियों के द्वारा भी समझना चाहिए जैसे अति दूर का शब्द भी नहीं सुनाई देता इसी तरह अत्यन्त दूर की गन्ध भी घ्राणेन्द्रिय ग्रहण नहीं कर पाती है।

(२) "सामीप्यात्"—इस के साथ भी अति का जोड़ना आवश्यक है जिसका अर्थ यह निकलता है कि अत्यन्त समीप के पदार्थों का भी प्रत्यक्ष नहीं होता जैसे आँख का अंजन या काजल अत्यन्त समीप होने के कारण स्वयं अपनी आंख को नहीं दिखाई देता है।

(३) "इन्द्रियघातात्"—विशिष्ट इन्द्रिय के नष्ट होने से उस इन्द्रिय से सम्बन्धि विशेष प्रत्यक्ष नहीं प्राप्त हो सकता है अर्थात् इन्द्रियों के नष्ट होने पर वे अपने अपने कार्य करने में अशक्त हो जाती हैं। उदाहरणार्थ अन्धे को रूप का प्रत्यक्ष, बधिर को शब्द का, रसेन्द्रिय की रस ग्रन्थियां नष्ट होने पर स्वाद का, घ्राणेन्द्रिय की घ्राण शक्ति नष्ट होने पर गन्ध का, तथा त्वचा की स्पर्श शक्ति नष्ट होवे पर स्पर्श का प्रत्यक्ष नहीं हो हो सकता है।

किन किन प्रमाणों के द्वारा किन किन विषयों का ज्ञान होता है।

प्रमाण

- प्रत्यक्ष — इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाने वाले योग्य पृथ्वी आदि स्थूल पदार्थों की
- अनुमान — प्रकृति, पुरुष, बुद्धि, अहंकार, मन, पंच, ज्ञानेन्द्रिय पंच कर्मेन्द्रिय और पंच तन्मात्रा का
- शब्द — स्वर्ग, नरक, पाप, पुण्य, देवता आदि का
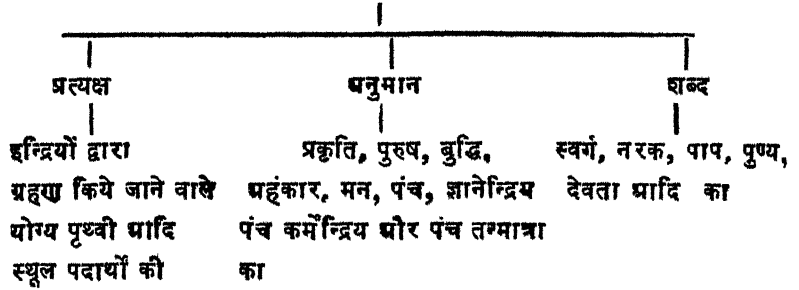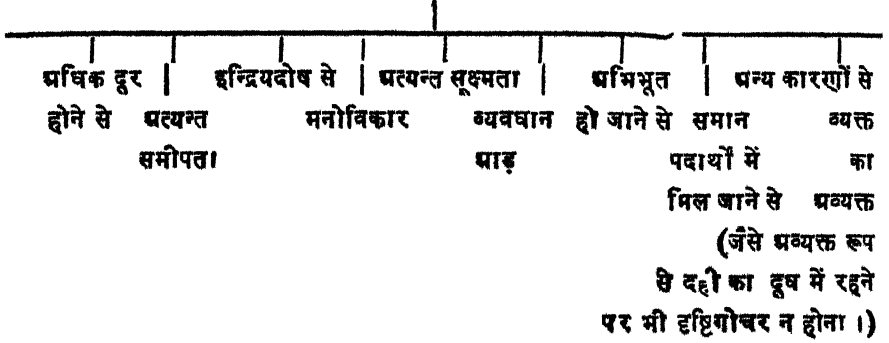
राधास्वामी मत के सिद्धान्त

१५—अलख लोक की रचना

हंस नाथ त्रिपाठी

अगम पुरुष से धार निकली। वह उतनी दूर तक आगे गई जितनी दूर तक उसका जाना हितकर था। उस धार की दूरी भी उन्हीं कारणों से निश्चित हुई जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है जब वह आगे बढ़ी, उसकी चेतनता की तीव्रता क्रमश: कम होती गई। वह फिर रुकी और उसने तीसरा अंडाकार रूप बनाया। वह रूप तीसरी रचना अलख लोक का बीज था। वह उस मंडल के धनी अलख पुरुष की काया बन गया।

इस मंडल की जागी हुई सुरतें भी परम हंस कहलाती हैं। ऊपर के देशों की तरह वहां भी निज अंश और वंश हैं।

१६—अनामी, सत लोक और भँवर गुफा की रचना,

उसी प्रकार क्रमश: नीचे की सतहों पर तीन और रचनायें हुईं। वे ये हैं:—(१) अनामी लोक की रचना, जिसका धनी अनामी है (यह अनामी कुल मालिक अनामी नहीं है), (२) सत लोक की रचना जिसका धनी सतपुरुष है, और (३) भँवर गुफ़ा की रचना जिसका धनी सोहं है।

इन तीन नीचे के देशों की जागी हुई सुरतें हंस कहलाती हैं। यहाँ भी अपने अपने मंडलों के धनियों के निज अंश हैं और इन निज अंशों से पैदा वंश हैं।

यह याद रखना चाहिए कि जिस रचना का चित्रण किया गया है, उसका अन्त कभी नहीं होगा।

यह ख्याल जो अधिकतर जाहिर किया जाता है, कि जिसका आदि है उसका अन्त अवश्य है, एक गलत ख्याल है। एक समय था, जबकि रचना नहीं थी। रचना शुरु हुई। कुछ अंश में उसका अन्त होगा, परन्तु कुछ अंश में अन्त नहीं होगा।

प्रत्यक्षीकरण न होने में अति सूक्ष्मता कारण है। जिसे 'सौक्ष्म्यात्' शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है। जिस तरह से परमाणु आदि का सूक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्षीकरण नहीं होता, उसी तरह से प्रकृति का भी सूक्ष्मता के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता। प्रत्यक्ष न होने के कारण हम उसका अनस्तित्व नहीं मान सकते क्योंकि अभाव के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता ऐसी बात नहीं है, बल्कि उसके प्रत्यक्ष न होने में सूक्ष्मता ही एक कारण है। सूक्ष्मता का अर्थ यहां साधारण रूप में नहीं लिया जा सकता क्योंकि न तो उस रूपमें प्रकृति ही सूक्ष्म है और न पुरुष ही। इसलिए सूक्ष्म होने के नाते उनका प्रत्यक्ष नहीं होता ऐसा कहना सर्वथा असगत हो जायगा। यहाँ सौक्ष्म्यात् का अर्थ अवयव शून्य से है। प्रकृति परमाणु के समान सूक्ष्म नहीं है, क्योंकि वह विभु है। किन्तु दृष्टिगोचर नहीं होती। इस प्रकार का विवेचन विज्ञान-भिक्षु ने सांख्य सूत्र १, १०९ के भाष्य में किया है।[1] अवयव शून्य वस्तु का भी प्रत्यक्ष नहीं होता है जैसे न्याय मत में आकाश, काल, दिशा, मन आत्मा का निरवयव होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसी प्रकार से सांख्य में प्रकृति और पुरुष भी अवयव शून्य हैं, सर्व व्यापक हैं। अत: उनका भी निरवयव होने के कारण ही प्रत्यक्ष नहीं होता है। इससे यह निश्चित है कि उनका प्रत्यक्ष न होना अभाव का द्योतक नहीं है क्योंकि महत् आदि कार्यों से उसका अनुमानात्मक ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा न हो कर, उसकी सिद्धि अनुमान प्रमाण के द्वारा होती है। यहां पर इस कारिका में तत् पद प्रकृति के लिए आया है और पुरुष की सिद्धि १७वीं कारिका में की गई है। पुरुष की सिद्धि भी अनुमान के द्वारा ही होती है। प्रकृति की जिस अनुमान के द्वारा सिद्धि होती है पुरुष की उससे भिन्न अनुमान के द्वारा सिद्धि होती है। पुरुष अविकारी है, अकर्त्ता है, व अकारण है। प्रकृति मूल कारण होने से उसका अनुमान महत्तत्व आदि उसके विकारों के आधार पर होता है। किन्तु पुरुष के अनुमान मे इस प्रकार का कोई हेतु नहीं है। उसका अनुमान तो भिन्न हेतुओं से ही होता है। हम निश्चय रूप में प्रधान के अस्तित्व को उसके महत् आदि कर्मों के द्वारा जानते हैं। जिस निश्चित पदार्थ का ज्ञान हमको अत्यन्त प्रबल अनुमान आदि प्रमाण के द्वारा होता है और प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा वह ज्ञान नहीं प्राप्त होता है, ऐसी अवस्था में हम यह कह सकते हैं कि उस पदार्थ के ज्ञान प्रदान करने में प्रत्यक्ष प्रमाण असमर्थ है किन्तु जिन पदार्थों की सिद्धि किसी भी प्रमाण के द्वारा नहीं हो सकती, उन पदार्थों के विषय में हम प्रत्यक्ष प्रमाण को असमर्थ नहीं बता सकते जैसे खरगोश के सींग, आकाश-कुसुम, आदि जो सब प्रमाणों से असिद्ध हैं और जिनका अस्तित्व है ही नहीं।

महत् आदि कार्य जिनके द्वारा मूल प्रकृति का अनुमान किया जाता है, वे सब कार्य प्रकृति के आंशिक रूप से समान और आंशिक रूप से असमान धर्म वाले होते हैं। यही समान धर्म तथा विरोधी धर्म विवेक ज्ञान के लिए उपयोगी हैं। कुछ अंश में तो प्रकृति के सदृश हैं और कुछ अंश में उससे भिन्न। इस सदृशता और विभिन्नता का

---

[1] सांख्य सूत्र—१, १०९;

विवेचन १०वीं और ११वीं कारिका में किया जायेगा। कार्य की त्रिगुणात्मकता से मूल प्रकृति की त्रिगुणात्मकता का अनुमान होता है। संसार के सभी पदार्थ सुख, दुःख और मोहात्मक हैं। इसलिए उनका कारण भी त्रिगुणात्मक है। इस मूल कारण का कोई अन्य कारण न होने से यह नित्य है। अन्य कार्यों का यह कारण होने से वे अनित्य है। इस प्रकार से उपरोक्त कथित १०वीं और ११वीं कारिका में इसका पूर्ण विवेचन किया जायगा। कार्यों की समानता और असमानता के कारण ही प्रधान अनुमान होता है।

अब प्रश्न उठता है कि हम कार्य के द्वारा केवल इतना ही जान सकते हैं कि इस कार्य का कोई कारण अवश्य है किन्तु कारण के सत्-असत् स्वरूप का निश्चयात्मक ज्ञान हमें नहीं होता। हम निश्चय पूर्वक यह नहीं कह सकते कि अमुक कार्य का कोई भी कारण सत् है अथवा असत् इसी कारण दार्शनिकों में इस सम्बन्ध में बहुत बड़ा मतभेद है। कुछ दार्शनिकों के अनुसार असत् कारण से सत्कार्य की उत्पत्ति होती है यह मत शून्यवादी बौद्धों का है। जिनके अनुसार कारण के विनष्ट होने पर कार्य की उत्पत्ति होती है। अर्थात् असत् कारण से सत्कार्य की उत्पत्ति होती है। दूसरे दार्शनिकों के अनुसार सम्पूर्ण कार्य रूपी विश्व एक ही ब्रह्म के अधिष्ठान के कारण भासता है। इसका अर्थ हुआ कि कार्य वास्तविक नहीं हैं। इस प्रकार कुछ के अनुसार सत् कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति कही गयी है। नैयायिकों के अनुसार कारण में कार्य अविद्यमान होते हुए भी नवीन उत्पन्न होता है। सांख्य मत के अनुसार सत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति होती है अर्थात् कारण में कार्य कारण व्यापार से पूर्व अव्यक्त अवस्था में वर्तमान रहता है। जैसे मूल प्रकृति में महत् आदि तत्व अव्यक्त रूप से वर्तमान रहते हैं। जैसे दूध में दही अव्यक्त रूप से वर्तमान रहती हैं। कार्य कारण का केवल परिणाम मात्र हैं। वह केवल अव्यक्त का व्यक्त रूप है। उसकी केवल अभिव्यक्ति मात्र है। किन्तु नैयायिक का इस बात को मानने को तैयार नहीं। उनके अनुसार कारण में कार्य अविद्यमान रहता है। उसकी नवीन उत्पत्ति होती है। इससे विभिन्न बौद्धों का आरम्भवाद का सिद्धान्त है जिसके अनुसार कारण के विनिष्ट होने पर उसके अग्रिम क्षण में कार्य की उत्पत्ति होती है। इस रूप से उनके अनुसार प्रतिक्षण नवीन कार्यों की उत्पत्ति होती रहती है। यही क्षणिकवाद का सिद्धान्त है। जैसाकि ऊपर कहा गया है कि अद्वैत वेदान्त के अनुसार केवल ब्रह्म की ही सत्ता है। उसी के अधिष्ठान पर जगत् अध्यस्त है। जगत् केवल भासता है उसकी वास्तविक सत्ता नहीं है। जैसे रज्जुरूपी अधिष्ठान में सर्प अध्यस्त होता है। उसकी वास्तविक सत्ता नहीं है। वह केवल आभास मात्र है। इस प्रकार से कार्य के द्वारा कारण की सत्ता का निश्चय होने पर भी उसके स्वरूप का निश्चय करना आवश्यक हो जाता है। और जिस निश्चय के लिए सर्वप्रथम कार्य-कारण भावरूप सम्बन्ध जानना चाहिए। जिसके विषय में उपरोक्त कथित अनेकानेक मतभेद हैं। इन मत भेदों का आलोचनात्मक विवेचन करना आवश्यक हो जाता है। हमारा कारण का विचार आवश्यक रूप से कार्य-कारण सम्बन्ध पर आधारित है।

इसलिये अग्रिम ९ वीं कारिका में प्रधान मूल कारण की सिद्धि के लिये कार्य कारण सम्बन्ध अर्थात् सत्कार्यवाद की पुष्टि अर्थात् कारण में कार्य उत्पन्न होने से पूर्व सत् है, इसकी पुष्टि करती है।

(४) "मनोऽनवस्थानात्" -मन के चांचल्य अथवा मन की विक्षिप्तता के कारण दृष्टिगोचर पदार्थों का भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। जैसे शोकातुर व्यक्ति, कामवासना से पीड़ित अथवा अति प्रसन्न, उन्मत्त, क्रोधित तथा विक्षिप्त चित्त-व्यक्ति भी स्पष्ट पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं कर पाता है। दूसरे किसी विशेष विषय में तल्लीन व्यक्ति सामने मौजूद पदार्थों का भी प्रत्यक्ष नहीं कर पाता है।

(५) "सौक्ष्म्यात्"—अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण भी पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता है, जैसे परमाणु तथा अन्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म कीटाणु इत्यादियो का प्रत्यक्ष, स्थिर चित्त सामान्य व्यक्ति को भी नहीं हो पाता है। अत्यन्त मन्द नाद को भी श्रवणेन्द्रिय नहीं ग्रहण कर पाती है। इसी प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ के स्पर्श का ज्ञान भी हमारी स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा हमें नहीं होता है, और अत्यन्त मन्द गन्ध को भी घ्राणेन्द्रिय नहीं ग्रहण कर पाती है। इसकी भी एक सीमा होती है, और उस से ही विशेष इन्द्रिय को विशिष्ट पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसी को मनोविज्ञान में सम्वेदना का प्रवेश द्वार कहते हैं।

(६) "व्यवधानात्"—इन्द्रियों और पदार्थ के बीच किसी प्रकार की रुकावट या आड़ आ जाने के कारण भी पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता है। जैसे भित्ति या पर्दे की आड़ होने से उसके बाहर के पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता है बादल की आड़ आ जाने से चन्द्रमा का प्रत्यक्ष नहीं होता।

(७) "अभिभावात्"—तेज से दब जाने के कारण भी पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता। अधिक तेजस्वी पदार्थों के सम्मुख निम्न कोटि के तेजस्वी पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे दिन में सूर्य के प्रकाश के कारण आकाश में स्थित होने पर भी नक्षत्र आदि दिखाई नही देते हैं।

(८) "समानाभिहारात्"—समान वस्तु के साथ मिश्रित हो जाने पर उस विशिष्ट वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे वर्षा के जल के तालाब अथवा नदी में गिर कर मिल जाने पर उसको वर्षा के जल का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। कुछ सरसों के दाने सरसों के ढेर में मिल जाने पर अलग नहीं दीख पाते है। रुपयों के ढेर में एक रुपया डाल देने पर उस रुपये को हम अलग नहीं देख पाते। समुद्र में डाला हुआ जल समुद्र के जल से भिन्न रूप में नहीं दिखाई देता है। इससे स्पष्ट है कि पदार्थों का अपने समान पदार्थों में मिल जाने पर प्रत्यक्ष नहीं होता।

(९) "च"—कारिका के अन्त में कहे गये 'च' शब्द से हमको इसी प्रकार के अन्य कारणों का आशय निकलता है। व्यक्त का अव्यक्त में होना। जैसे दूध दही का कारण होते हुए भी दूध में दही दृष्टिगोचर नहीं होती। सांख्य मत के अनुसार कारण में कार्य वर्तमान रहता है, किन्तु उसके वर्तमान रहते हुए भी वह अप्रत्यक्ष रहता है। इस अवस्था में व्यक्त न होना अर्थात् प्रकट न होना भी कारणों के अन्तर्गत आ जाता है।

इस प्रकार अन्य कारण भी हो सकते हैं। इन सब कारणों का तात्पर्य यह निकलता है कि पदार्थों का प्रत्यक्ष न होना ही उनके अभाव को सिद्ध नहीं करता क्योंकि प्रत्यक्ष न होने में उपरोक्त कारण भी हो सकते हैं। इसलिये ऐसा मानने में अतिप्रसंग दोष आ जायेगा। प्रकाश के अभाव में वस्तुओं का प्रत्यक्ष न होने से उनका अभाव सिद्ध नहीं होता। घर के भीतर रक्खी हुई वस्तु का घर के बाहर प्रत्यक्ष न होते हुए भी हम उस वस्तु का अभाव नही कह सकते हैं। बाजार गये हुए बालक का घर में प्रत्यक्ष न होने पर हम बालक का अभाव नहीं कह सकते। दूसरे बहुत से विषय प्रत्यक्ष योग्य न होने पर निश्चय रूप से हम उनका अभाव नहीं कह सकते। जैसे प्रकृति, पुरुष आदि।

अब प्रश्न उठता है कि प्रकृति पुरुष आदि का हमें प्रत्यक्ष इन कारणों में से किन कारणों के द्वारा नहीं होता इसका उत्तर आठवी कारिका में दिया गया है।

कारिका—८—सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाऽभावात्, कार्यतस्दुपलब्धेः।
महादादि तच्च कार्यं प्रकृतिस्वरूपं विरूपं च॥

अन्वयः—सौक्ष्म्यात्, तदनुपलब्धिः, ना भावात्, कार्यतः, तदुपलब्धेः, तच्च, महादादिकार्यम्, प्रकृतिसरूपम्, विरूपंच।

व्याख्याः—सौक्ष्म्यात् = सूक्ष्म होने के नाते। तदनुपलब्धिः = तत् = उनकी अर्थात् प्रकृति-पुरुष की. अनुपलब्धिः = अप्रत्यक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं होता है। प्रकृति और पुरुष दोनों ही जबकि सूक्ष्म नहीं हैं तो सूक्ष्म होने के नाते उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है, ऐसा कहना असंगत है, इसलिपे यहां सौक्ष्म्यात् का अर्थ है अवयव शून्य क्योंकि निरवयव वस्तु का भी प्रत्यक्ष नहीं होता है, जैसे न्याय मत में आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन इनका प्रत्यक्ष नहीं होता ठीक ऐसे ही सांख्य में प्रकृति और पुरुष भी निरवयव हैं, अतः उनका भी प्रत्यक्ष नहीं होता। ना भावात् = अभाव होने से नहीं अर्थात् प्रकृति और पुरुष का संसार में अभाव है, इसलिये उसका प्रत्यक्ष नहीं होता ऐसी बात नहीं है। कार्यतः = कार्य से अर्थात् महत्तत्व आदि जो प्रकृति के कार्य हैं उनसे प्रकृति का अनुमानात्मक ज्ञान होता है। तदुपलब्धेः = उसकी उपलब्धि होती है, और तत् = वह कार्यम् = कार्य, महदादि = महत्तत्व आदि प्रकृति सरूपम् = प्रकृति के समान धर्म वाला, च = और, विरूपम् = विरुद्ध धर्म वाला है, जिसका निरूपण दसवीं एवं ग्यारहवीं कारिका में किया गया है।

अर्थः—पुरुष और प्रकृति का प्रत्यक्ष न होना अस्तित्व हीनता के कारण नहीं, अपितु सूक्ष्म होने के कारण है क्योंकि उसकी सिद्धि कार्यों के द्वारा होती है महद् आदि कार्यों से जो प्रकृति के समान और असमान दोनों ही होते हैं, अनुमान के द्वारा उसकी (प्रकृति) सिद्धि होती है।

भावार्थः—पूर्व कारिका में सामान्यरूप से प्रत्यक्षी-करण न होने के कारणों का वर्णन किया गया है। इस आठवीं कारिका में प्रधान जो संसार का अव्यक्त कारण है, के प्रत्यक्षी-करण न होने के विशिष्ट कारण को बताया गया है। प्रकृति के

जिस रचना का ऊपर वर्णन हुआ है, उसे सामूहिक रूप से प्रथम रचना कहते हैं। उसका क्षेत्र मध्य-देश का उपरी भाग था। यह रचना एक ही तरह की चेतनता के विस्तार पर एकाग्रता की शक्तियों की क्रिया द्वारा हुई।

१७—सतदेश नित्य और स्थिर है

सतदेश रचना का वह भाग है जिसका अन्त नहीं होगा। कहने का मतलब यह है कि सतदेश का बेहोश पड़ा हुआ चैतन्य इतने ऊंचे दर्जे का था कि एक बार जगाने पर या खींचे जाने पर वह बराबर चेत में हैं और सदा ऐसा रहेगा। उसकी पहली हालत स्थिर नहीं थी, क्योंकि चैतन्य हमेशा अचेत नहीं पड़ा रह सकता। यदि किसी क्रिया द्वारा या किन्हीं हालतों में कोई व्यक्ति लय या अचेत अवस्था को प्राप्त हो जाता है, तो यह निश्चित है कि उसकी वह अवस्था हमेशा कायम नहीं रह सकती, क्योंकि उसका अर्थ चैतन्य शक्ति का नाश होगा। यह कभी नहीं हो सकता।

रचना से पहले अचेत अवस्था से चेत अवस्था में लाने के परिवर्तन की आवश्यकता थी। परन्तु उस परिवर्तन के हो जाने पर सतदेश की अवस्था स्थिर और सदा रहने वाली हो गई।

परन्तु नीचे के देशों की बात ऐसी नहीं है। चेतनता में ज्यादा कमी होने के कारण उनमें बेहोशी पैदा करने वाली चीज इतनी मजबूत थी कि उसको काबू में नहीं लाया जा सकता था। उसका बीज मौजूद है। वह पकेगा और अन्त में नीचे की रचना को रचना से पहले वाली हालत में भेज देगा, यद्यपि यह हालत इतने लम्बे समय के बाद होगी जिसका कोई अन्दाज या ख्याल नहीं हो सकता। आकर्षण की प्रधानता एक समय तक रहेगी, भले ही वह समय बहुत लम्बा हो। इसलिये ब्रह्मांडों और पिन्डों का खात्मा जरूर होगा। रचना का वह भाग रचना से पहले वाली हालत में वापिस आ जायेगा।

परिवर्तन के तत्त्व के हिसाब से जो चेतनता की क्षीणता से पैदा होता है, मोटे तौर से रचना के तीन दर्जे थे। पहला दर्जा सबसे ऊंचे दर्जे की निर्मल चेतनता वाला अनामी पुरुष (कुल मालिक) का देश था। वह परिवर्तन से रहित और सदा एक रस रहने वाला था। इस देश में कभी कोई परिवर्तन नहीं हुआ हैं। दूसरा दर्जा सतदेश या छः सबसे उचे मंडलों का देश था। इनमें चैतन्य सबसे ऊंचे दर्जे की चेतनता से इतना मिलता जुलता था कि उसे परिवर्तन रहित और सदा के लिए स्थिर हालत प्राप्त कराने के लिए कुल मालिक द्वारा केवल जगाने और छूने की जरूरत थी। वह परम स्रोत (कुल मालिक) के सीधे सम्पर्क मे है और उसमें कभी शक्ति की कमी नहीं आ सकती। उस सारे प्रदेश में सुरत और शब्द की मिली हुई दो धारें क्रिया शील है। परन्तु उसकी सीमा के बाहर ऐसी बात नहीं है। तीसरा दर्जा वह देश था, जहां चेतनता इतनी क्षीण थी कि उसे परिवर्तन-रहित नहीं बनाया जा सकता था। उसमें रुकाव अवश्य पैदा होगा यह ब्रह्मांड और पिंड का देश है, जो परिवर्तन का क्षेत्र है।

इस महान् सत्य को राधास्वामी मत के प्रकाशकों के अलावा दूसरे धर्मों के उपदेशक न समझे और न बतलाये। दूसरे धर्मों में सबसे ऊंचा योगेश्वर व्यास और वशिष्ठ के द्वारा बतलाया हुआ धर्म है। वे वेदों के निकास के स्थान से भी ऊपर गये। उन्होंने अनुभव किया कि जिस रचना का उनको ज्ञान था, उसका अन्त अवश्य होगा। अतः उन्होंने उपदेश दिया कि ब्रह्म के सबसे ऊंचे रूप में लय होने का प्रयत्न करना चाहिए। उस अवस्था को समुद्र में नमक की तरह घुल जाने जैसी बतलाया गया है। ब्रह्म (काल) के तीन रूप या अवस्थायें हैं! (१) वह जिसे माया सबल या माया के साथ होना कहते हैं, (२)वह जिसे साक्षी कहते हैं। उसमें वह कर्म को देखता है, परन्तु उसमें भाग नहीं लेता और (३) वह जिसे शुद्ध कहते हैं। उसमें वह रचना और उसके सारे कामों से बिल्कुल अलग रहता है। ये तीनों अवस्थायें जाग्रत, स्वप्न और गहरी नींद की अवस्थाओं के समान है।

ब्रह्म की तीसरी अवस्था में लय हो जाना योगेश्वरों का लक्ष्य था। यानी उन्होंने अनुभव किया कि उनमें इतनी चैतन्य शक्ति नहीं कि उस अवस्था के अत्यन्त आनन्द मे वे अपने होश को कायम रख सकें। न तो उनके द्वारा या उनके चेलों के द्वारा इसे प्राप्त करना सम्भव ही था। आनन्द नशे में उनका होश जाता रहा। वे केवल नई रचना के फिर होने पर ही होश में आवेंगे। उस समय ये महान् जीव निस्सन्देह महान जीवों के रूप में फिर प्रकट होंगे, क्योंकि व्यक्तित्व या आध्यात्मिक उन्नति का फल नष्ट नहीं हो सकता।

एक अरसे के लिये ऐसी ऊँची प्रगति वाले जीवों का दर्जा मृत्यु से ऊपर है, लेकिन जब तक सत देश नहीं प्राप्त हो जाता, तब तक एक जीव के लिये यह निश्चित नहीं कि है कि वह नही गिरेगा।

परन्तु वे योगेश्वर जीव जो ब्रह्मांड चोटी पर पहुँच गये हैं, निरंजन ब्रह्म या काल से जिनका सम्बन्ध है, ब्रह्मांड के चैतन्य केन्द्र अक्षर-पुरुष से नहीं, सतलोक प्राप्त करना नहीं चाहते। वे जहाँ है, वहीं बहुत सन्तुष्ट हैं और वे कभी ऊंचे देशों में जाना नहीं चाहेंगे। मामूली जीव उनके मुकाबले में श्रेष्ठ हैं, भले ही वह हीन और पतित मालूम होता हो।

यह नियम है कि यदि किसी में कोई इच्छा उत्पन्न होती है, तो उसे पूरी करने के लिए उसमें शक्ति भी है। कोई इच्छा बिना तृप्त हुए हमेशा नहीं रह सकती। प्रत्येक सम्भव इच्छा, हर एक चाह जिसके पैदा होने का ख्याल किया जा सकता है, पूरी की जायेगी।

१८—सतदेश में जीवन

इस सम्बन्ध में कुछ बातें बतलाई गई है, लेकिन यह जाहिर है कि मन, शरीर या इन्द्रियों के बिना जीवन कैसा होगा, इसका अनुमान हमें बहुत कम हो सकता है; क्योंकि सतदेश में जागी हुई सुरतों के पास इनमें से कोई भी चीज कभी नहीं थी। और जो सुरतें नीचे के देशों से निपट कर वहां वापिस जाती हैं, वे उन देशों को छोड़ते समय उनसे

अलग हो जाती हैं, नीचे के लोकों में सुरत का बाहरी संसार से सम्पर्क स्थापित करने के लिए मन और ज्ञानेन्द्रियों का होना जरूरी है। वहां बिना इनकी सहायता के उसे ज्ञान नहीं हो सकता। स्थूल द्रव्य से बनी हुई और इसलिये बाहरी संसार से समानता रखने वाली ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा तथा उन ज्ञानेन्द्रिय और सुरतों के बीच सम्बन्ध पैदा करने वाली सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों और मन के द्वारा ही सुरत का बाहरी जगत् से कोई भी सम्बन्ध स्थापित होता है। ज्ञान को ग्रहण करने के लिए ज्ञानेन्द्रियों का जीवित होना या चेतनता से भरा होना आवश्यक है। यदि ज्ञान को ग्रहण करने वाला दिमाग या उसका कोई भाग जो बाहरी संसार से ज्ञान के संस्कारों को ग्रहण करता है, बेकार हो जाय, तो उस दशा में कोई ज्ञान न होगा। ऊंचे देशों में जहां सब कुछ चेतन है और इसलिये जहां जो कुछ जाना जाता है, वह बिल्कुल जानने वाले के समान है और जहाँ चैतन्य शरीर ऐसी चेतनता से बने हुए हैं जो हमारे भीतर सुरत की बैठक के स्थान पर पाये जाने वाले चैतन्य से भी शुद्ध है, अंगों, सूक्ष्म इन्द्रियों और मानसिक उपकरणों या साधनों की जरूरत नहीं है। चैतन्य-शरीर पूर्ण तथा बुद्धियुक्त होता है। उसमें इतनी ऊंचे दर्जे की ज्ञान-शक्ति होती है कि उसकी समानता हमारी ज्ञान-शक्ति से कुछ भी नहीं हो सकती। अपने चैतन्य मंडल से उसका सीधा सम्बन्ध होता है।

लेकिन जैसे जैसे सुरत नीचे के दर्जों में उतरती जाती है, तैसे तैसे उसमें तथा जिस मंडल से उसकी स्थिति होती है, उस मंडल की चीजों में अन्तर बढ़ता जाता है और दोनों में सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता होती जाती है। जितना ही नीचे उसका उतार होता है, रचना से सम्बन्ध स्थापित करने वाले साधन या जरिया भी उतना ही स्थूल होते जाते हैं तथा उनके द्वारा प्राप्त होने वाला बाहरी चीजों का ज्ञान भी उतना ही गलत और विकृत होता जाता है। इस प्रकार मनुष्य की अपेक्षा पशु में खोल अधिक मोटे या स्थूल होते हैं। वनस्पति में वे और भी मोटे हो गये हैं।

नीचे के लोकों के जीवों की तरह सतदेश में रहने वाली प्रत्येक सुरत के तीन शरीर होते हैं। वहाँ की आकर्षण-शक्ति से वहाँ के हर एक वासी के भीतर यहाँ के जीवों के अंदर पाये जाने वाले शरीर, मन और चैतन्य या आत्मा की तरह छोटे विभाग पैदा हो जाते हैं। परन्तु वे सभी निर्मल चैतन्य के बने होते हैं। प्रत्येक प्राणी के तीन केन्द्र क्रिया शील होते हैं। वे ये हैं:— (१) हृदय से समानता रखने वाला केन्द्र, जो मनुष्य में नीचे दर्जे के मन का स्थान है, (२) कंठ-चक्र से समानता रखने वाला केन्द्र जो मनुष्य में ऊंचे दर्जे के मन का स्थान है और (३) तीसरे तिल से समानता रखने वाला केन्द्र जो मनुष्य में सुरत की बैठक का स्थान है। मनुष्य के तीन नीचे के केन्द्र (१) मल को निकालने वाला गुदा चक्र (२) पैदाइश से सम्बन्ध रखने वाला चक्र तथा (३) नाभि पर स्थित शरीर के पोषण से सम्बन्ध रखने वाला चक्र, चैतन्य शरीर में विकसित नहीं होते।

जो कुछ कहा गया है उससे वास्तव में यह अर्थ निकलता है कि सतदेश में रूप है। यह भी कहा गया है कि वहाँ रूप रंग और रेखा नहीं है, परन्तु यह बात नीचे के

वासियों की दृष्टि से है, क्योंकि दूसरी जगह यह भी कहा गया है कि सतदेश में रूप, रंग और रेखा है जिसका अर्थ यह है कि वे रूप, रंग और रेखा ऐसे हैं जिनका ज्ञान केवल सतदेश के वासियों को ही होता है। जो विभिन्न रूप पाये जाते हैं, उन्हीं के समान भिन्न भिन्न रूप सतदेश में भी हैं, उनका ज्ञान नीचे देशों के वासियों को नहीं हो सकता। जिस रूप, रंग और रेखा का ज्ञान उनको है वे वहां नहीं हैं।

सतदेश में रहने वालों के पास हाथ, पैर, जीभ आदि की तरह कर्मेन्द्रियां नहीं हैं। हर एक चीज ज्ञान के रूप में बदल जाती है। वहां का रूप मनुष्य के रूप से कुछ मिलता है; लेकिन ज्ञान को ग्रहण करने की शक्तियां बहुत ही विकसित होती हैं। शरीर के वे भाग जो उन ज्ञान-राशियों से सम्बन्धित होते हैं, और भी विकसित होते हैं। चेहरे बहुत ही प्रकाशमान होते हैं। इस प्रकार यह बतलाया गया है कि हर एक हंस में बारह सूर्यों का प्रकाश होता है।

स्थूल समानताओं को लोग बहुधा हद से ज्यादा दूर तक ढूंढने लगते हैं। इस प्रकार यह समझना कि चैतन्य शरीर में भी स्थूल शरीर के सभी अंग और उसकी सभी क्रियायें हैं, एक बड़ी गलती होगी। इसमें कोई संदेह नहीं है कि स्वामी जी महाराज ने फर्माया है कि चैतन्य शरीर में स्थूल शरीर की सभी विशेषतायें किसी न किसी रूप में मौजूद हैं। परन्तु इससे यह नतीजा निकालना कि ऐसी सभी विशेषताओं का ज्ञान हमारी ज्ञानेन्द्रियों को हो सकता है, बिलकुल उचित नहीं होगा। हम एक ऐसे देश की विशेषताओं को समझने की आशा नहीं कर सकते जहां की बिखरी हुई चेतनता भी हमारे सुरत और मन के केन्द्रों की चेतनता से अधिक बुद्धियुक्त है।

यह नहीं कहा जा सकता कि वहां गति या हरकत बिलकुल नहीं है। लेकिन जिस प्रकार की गति वहां है, उसकी समानता ज्ञान के फैलाव से की जा सकती है। इस प्रकार परम पिता अडोल कहा गया है। वह हिलता डोलता नहीं है क्योंकि हिलने डोलने की उसे जरूरत नहीं है। उसमें हिलने डोलने की क्रियाओं की जरूरत ज्ञान की शक्तियों के फैलाव द्वारा पूरी हो जाती है। वह सबमें व्याप्त है। इस बात का पता लगाने के लिए कि कहां क्या हो रहा है, उसे बिना कहीं गये हुए सब कुछ मालूम है। एक कम दायरे में और भिन्न भिन्न दर्जे में यही बात सतदेश के सभी वासियों में भी सत्य है। रचना के बीच वाले रूपों में ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति संकुचित हो जाती है। इस कमी की पूर्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के द्वारा होती है। यह गुण नीचे की विशेषता है जिसका मूल कारण चेतनता की क्षीणता या कमी है। सबसे नीचे दर्जे के प्राणी जिन्हें हम जानते हैं, पेड़ पौधे हैं। उनमें न तो एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की यह शक्ति होती है और न ऊंचे देशों के ज्ञान की शक्ति का फैलाव ही होता है। अन्त में सबसे नीचे वाले ध्रुव पर फिर अडोल अवस्था है, क्योंकि वहां पर चेतनता करीब करीब नहीं के बराबर है। इस प्रकार दोनों ही ध्रुवों पर अडोल अवस्था है। ऊपर अडोल अवस्था चेतनता की पूर्णता और उसके सर्वत्र मौजूद होने के कारण से है। नीचे यह अवस्था चेतनता की कमी के कारण है। एक में जीवन की पूर्णता है तथा दूसरे में चेष्टा का अभाव और मृत्यु।

सुरतें नीचे आईं , क्योंकि ऊपर वे होश में नहीं आ सकती थी । इसका मतलब यह है कि वहा रहने के लिये जिस ज्ञान की क्रिया की जरुरत थी , वह उनमे नही थी। वे हरकत करने की क्रिया के साथ ज्ञान क्रिया का विकास करने लिये नीचे आईं । जब ज्ञान की क्रिया पूरी विकसित हो जायगी , तब हरकत करने की क्रिया या कर्मेन्द्रियों का का काम खत्म हो जायेगा और वे ज्ञान क्रिया की पूर्ण शक्तियों मे युक्त हो कर लौट जायेंगी ।

चूंकि सतदेश के वासिओं के पास कर्मेन्द्रियां या काम करने के औजार नहीं हैं , इसलिये वहां कोई काम नहीं हो सकता । वर्तमान विचार धारा के अनुसार यह अवस्था सुख का अभाव बतलाती है , क्योंकि लोगों के मन में कोई ख्याल इतनी गहराई तक नहीं जमा हुआ है जितना कि यह ख्याल कि सुख का कारण काम में लगे रहना हैं। लेकिन काम करने का मतलब ही क्या है ? क्या यह सुख के साधनों को प्राप्त करना नही है ? यदि बिना काम किये ही सुख प्राप्त हो , तो क्या कोई काम किया जायेगा ऐसे स्थान में जहां आनन्द अपने सबसे ऊँचे रूप में सभी को स्वतन्त्र रुप से प्राप्त है और जहां सभी इन्द्रियों के सुख शुद्ध से शुद्ध और तीव्र से तीव्र रूप में आजादी के साथ सबको हासिल है , वहां काम के लिये स्थान ही क्या है ? वहां हर एक दूसरे के लिये खुला हुआ है । वहां हर एक दूसरे को देखता है और दूसरों की खुशी में खुश होता है । हर एक का सुख सबके सुख में है । ये अवस्थायें हम लोगों के बीच पाई जाने वाली अवस्थाओं से बहुत भिन्न हैं । हम लोगों में कोई भी नहीं जानता कि दूसरे के मन में क्या हैं । यहां दो आदमियों के बीच गहरी से गहरी दोस्ती होते हुए भी दोनों एक दूसरे के दिल के हाल को नहीं जानते और प्रत्येक अपनी ही अलग दुनिया में रहता और काम करता है ।

यह बतलाया गया हैं कि सतदेश में दूरी या फासला नहीं है । इसका अर्थ यह है वहां शरीर ही नहीं , बल्कि वह देश स्वयं बुद्धियुक्त है । इस बात की हमें कोई कल्पना नहीं हो सकती । वहां एक तो सर्वत्र फैली हुई चेतनता है, दूसरे वहां चेतनता के केन्द्र हैं । वे चैतन्य-केन्द्र वहां के वासी हैं । वह फैला हुआ चैतन्य बहुत ही चेतन और बुद्धियुक्त है। और उसी के द्वारा विभिन्न प्रकार के ज्ञान वहां के वासियों तक पहुँचते हैं । यहां भी फैली हुई चेतनता है; लेकिन तीव्रता में वह बहुत नीचे दर्जे की है । साथ ही साथ उसके मार्ग में स्थूल माया और मन की रुकावटें भी हैं । परन्तु सतदेश में ऐसी रुकावट नहीं है।

सतदेश के व्यापक या फैले हुए चैतन्य की क्रिया मनुष्य-शरीर के उदाहरण से समझ में आ सकती है । इस शरीर में व्यापक चेतनता होती है जिसके द्वारा क्रियायें होती रहती हैं तथा शरीर के चैतन्य-केन्द्र पर स्थित चैतन्य या सुरत को शरीर के अंगों का हाल अपनी चैतन्य धारों तथा उन अंगों से केन्द्र तक फैले हुए चैतन्य के द्वारा मालूम होता रहता है ।

पुनः हम विचार करें कि किस प्रकार एक महात्मा की सुरत जिसने आध्यात्मिक उन्नति करली है और जिसने अपनी सुरत और चेतना को ऊंचे घाट पर ठहराया है, अपने

खोलों को जीवित रखती है। उसका यह काम साधारण मनुष्य के काम से बिल्कुल भिन्न होता है। यदि ऐसा न होता तो यह कहना उचित हो होता कि एक उन्नत जीव या महात्मा में तथा साधारण मनुष्य में कम अन्तर है दोनो ही अपने समान दिखाई पड़ने वाले बाहरी रूप को एक ही तरह से कायम रखते हुए मालूम पड़ते है। जब एक महात्मा की सुरत ऊपर चढ़ती है, तो वह इस घाट से ऊपर अपनी स्वाभाविक स्थिति, चेतना और अधिक या कम दूरी तक क्रिया करने की शक्ति को कायम रखती है और अपने शरीर का काम बिखरी हुई चेतनता के द्वारा चलाती रहती है। साधारण जीव मे उसका चैतन्य स्वयं उसके स्थूल खोलो में मिल कर जज्ब हो जाता है और स्वतन्त्र रूप से एकाग्र शक्ति उसके पास थोड़ी रह जाती है। जबकि दूसरी दशा में चैयन्य-शक्ति का बड़ा भाग शरीर से अलग और स्वतन्त्र रहता है।

वह महात्मा जो ऊंचे देशों में पहुँच गया है, साधरणतः त्रिकुटी या सहस्र दल कमल में अपना एक दूसरा केन्द्र स्थापित कर लेता है, जहाँ से वह बिखरी हुई चेतनता के द्वारा अपने शरीर को कायम रखता है। महात्मा के चैतन्य-केन्द्र और साधारण जीव के चैतन्य-केन्द्र में क्या अन्तर है, यह बात प्रकाश से क्रमश. एक बड़े और एक छोटे स्रोत में परस्पर तुलना करने से समझ में आ सकती है। यदि एक बड़े कमरे में एक कम रोशनी वाला छोटा चिराग हो तो कमरे की चीजों को दिखाई पड़ने के लिये उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना जरूरी होगा। परन्तु यदि उसके स्थान पर अधिक रोशनी वाला एक बड़ा चिराग रख दिया जाय, तो उससे निकलने वाली किरणें सारे कमरे को प्रकाशित करने के लिए काफ़ी होंगी। उसे एक जगह से दूसरी जगह ले जाना जरूरी नहीं होगा या सूर्य के उदाहरण को ले लें। यह प्रकाश का एक विशाल केन्द्र है, परन्तु संसार का काम उसकी बिखरी हुई रोशनी से चलता है। उस बिखरी हुई रोशनी को एक छोटी जगह में इकट्ठी कर देने पर एक बड़ा केन्द्र बन जायेगा।

एक सन्त की बिखरी हुई चेतनता बहुत कुछ उसी प्रकार काम करती है जिस प्रकार कि एक साधारण मनुष्य की चेतनता। वह समान रूप से सोता, स्वप्न देखता और बेहोशी की हालत में जाता है। परन्तु ये सब हालतें उसकी बिखरी हुई या भास रूप चेतनता से संचालित उसके मनुष्य-रूप पर गुजरती हैं। उसका ऊंचे वाला केन्द्र सदा प्रकाशित रहता है। मामूली आदमी की तरह ही उसके स्थूल देह में क्षोभ और वासनायें उठती हैं। परन्तु अन्तर यह होता है कि चैतन्य-धार उसमें सदा जागृत रहती है और उसके नीचे वाले रूप की क्रिया को नियन्त्रित करती रहती है। उदाहरण के लिए उसे काम-वासना का अनुभव होगा, परन्तु वह कभी उसके वश में नहीं होगा। वह बहुत भयंकर क्रोध दिखला सकता है, परन्तु वह क्रोध तुरन्त गायब हो जायेगा और एक ही मिनिट बाद वह हिमालय की तरह शान्त हो जायेगा। साधारण जीवन में वह नीचे वाले मनुष्य के ज्ञान से नीचे के केन्द्र या घाट से बोलता है। ज्ञान के उस केन्द्र को उस समय वह सर्वव्यापी ज्ञान नहीं होता, जो ऊंचे केन्द्र या घाट को होता है। इसलिये यदि कोई वह ऐसी बात कहता है, जो ऊचे के केन्द्र के ज्ञान के विरुद्ध है, तो वह झूठ नहीं बोलता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई उसके पीछे आता है तो उनके

भीतर का नीचे वाला मनुष्य उस आने वाले को नहीं देखता है और कहता है कि पीछे कोई नही है। ऊंचे वाला केन्द्र इस बात को जानता है। परन्तु नीचे वाला केन्द्र सत्य के विरुद्ध बोलते हुए भी झूठ नहीं बोलता है। वह केवल अपने ज्ञान से बोलता है।

मौत के समय एक महात्मा की सूरत पूरे होश के साथ अलग खड़ी रहकर अपने शरीर के विनाश को देख सकती है। वह शरीर के घाट से भिन्न घाट पर होता है और उसके अत्यन्त कष्टपूर्ण ऐंठनों से प्रभावित नहीं होता। ये हालतें उसके बिखरे हुए या भास-रूप चैतन्य पर ही गुजरती हैं। एक महात्मा के शरीर की मृत्यु के समय पास खड़ा रहने वालों को वैसी ही भयंकर ऐंठने दिखाई पड़ती हैं जैसी कि साधारण मनुष्य के मरते समय, क्योंकि भौतिक तत्त्व शरीर को छोड़ने वाले चैतन्य से जिसे वह अपना जीवन समझता है, सदा चिपकना चाहता है। इसी से मृत्यु की भयंकर हलचलें और ऐंठने पैदा होती हैं। बाहर से देखने वालो को दोनों हालतों में ये ऐंठने करीब करीब एक ही तरह की मालूम होंगी। परन्तु महात्मा उनको होश रखते हुए देखने वाला है और उनसे स्वतन्त्र रहता है।

ऊपर की बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि विकास की ऊंची अवस्थाओं को प्राप्त जीव करामात या चमत्कार क्यों नहीं दिखलाते। यह सच है कि चमत्कारों के प्रदर्शन के लिये वे ऊंचे केन्द्र से प्रबल धार भेज कर अपने शरीर की बिखरी हुई चेतनता को बढ़ा सकते हैं। परन्तु ऐसा करना हानिकर होगा। शरीर में एक प्रबल चैतन्य धार के अधिकतर आते रहने से उसे क्षति पहुँचने की सम्भावना है। यदि एक तार मे से जितनी शक्ति की बिजली की धार जा सकती है उससे बहुत अधिक ताकत वाली बिजली की धार ले आई जाय, तो वह उसे पिघला देगी, क्योंकि उस तार की बिजली की धार को लेने की शक्ति सीमित है।

स्वामी जी महाराज ने इस संसार से अपनी विदाई के दिन अपने शिष्यों से कहा था कि उनकी सुरत राधास्वामी धाम में दयाल की गोद में है। वह वहां कुछ दिन पहले से ही है। वे केवल उन्हें एक सन्देश देने आये हैं। उनका मतलब यह था। उनकी भास रूप चेतनता इतनी बलवती थी कि उसके केन्द्र के राधास्वामी धाम में स्थित हो जाने पर भी वह शरीर को सब प्रकार से उसी तरह कायम रख सकती थी जिस तरह कि साधारण मनुष्य की सम्पूर्ण चेतनता उसके शरीर को कायम रखती है।

अपने इष्ट के साथ सायुज्ज या चौथी या सबसे गहरी एकता रखने वाले सन्तों को ही यह शक्ति प्राप्त होती है। सतदेश के दूसरे वासियों की अन्तरी चेतनता वास्तव में उसी कोटि की होती है, परन्तु उनकी क्रियाशील चेतनता इतनी ऊंची नहीं होती है। सायुज्ज अवस्था वाले सन्त अपने उपास्य के शरीर के कोष्ठ समझे जा सकते है। परन्तु इस समानता को बहुत दूर तक नहीं ले जाना चाहिए। परन्तु यदि इसको ठीक तरह से समझा जाये, तो इससे उस अवस्था का कुछ अनुमान हो सकता है।

इसलिये सतदेश के रहने वालों को वहां के व्यापक चैतन्य के द्वारा सतदेश का ज्ञान है। फिर भी यह बतलाना जरूरी है कि जिस प्रकार सतदेश के भिन्न भिन्न देशों

मे भिन्न २ दर्जे की सुरतें हैं , उसी प्रकार उन देशों की भास रूप या व्यापक चेतनता में भी भिन्न २ दर्जे हैं तथा जहां चेतनता की तीव्रता में कमी है , वहां एक सूक्ष्म रुकावट पैदा हो जाती है ' यही कारण है कि सतदेश के भीतर के नीचे वाले देश के वासी को वह पूर्ण और व्यापक ज्ञान नहीं है जो उसके सबसे ऊँचे वाले मंडल के निवासी को है। यह कहना गलत होगा कि वहां उसी प्रकार की रुकावट है जिस प्रकार कि ब्रह्मांडों और पिंडों में मन और माया के मौजूद होने की वजह से है । कहने का अभिप्राय यह है कि सतदेश के नीचे वाले देश में ऊपर वाले देश के मुकाबले में चैतन्य या आकर्षण शक्ति की तीव्रता में कमी आ गई । जो चैतन्य परमपिता की ओर जितना ही अधिक खिच सका वह उतना ही तीव्र या अधिक शक्ति वाला है । भिन्न भिन्न दर्जों की सुरतों के परम स्रोत की ओर भिन्न २ दर्जों में खिचने के कारण हर एक दर्जे की सुरत अपने उचित स्थान पर स्थित हो गई है ।

अनामी पुरुष और सारी रचना का पूरा ज्ञान केवल उन परम हंसों को है जो राधास्वामी दयाल के साथ सायुज्य-सम्बन्ध वाले हैं । परन्तु सतदेश के दूसरे वासियों को अनामी पुरुष तथा रचना के विभिन्न धनियों द्वारा संचालित विभिन्न मंडलों का ज्ञान केवल कुछ ही कम है। सतदेश में भिन्न २ श्रेणियों की सुरतों के होने के कारण यह नतीजा नहीं निकालना चाहिये कि उन देशों की सुरतों में किसी प्रकार की मलीनता है। हर एक दर्जे की सुरत का सारतत्त्व वही निर्मल चैतन्य है । परन्तु अलग २ सुरतों में जो चैतन्य शक्ति की मात्रा है, वह अलग २ है । इस अन्तर को यों समझाया जा सकता है । यदि विभिन्न चमक वाली बहुत सी रोशनियों को ऐसे प्रकाश-केन्द्र के पास ले जाया जाय, जो उनकी अपेक्षा बहुत अधिक चमक वाला है, तो तेज रोशनियां कमजोर रोशनियों के मुकाबले में उसके अधिक करीब या समान मालूम होंगी और अलग २ भी मालूम होंगी, यद्यपि उन सबमें प्रकाश ही प्रकाश-तत्त्व होगा ।

सतदेश के भीतर नीचे वाले देशों का आनन्द उन देशों की सुरतों को उतना ही सन्तुष्ट करने वाला है , जितना कि उसके सबसे ऊँचे देश का आनन्द वहां के वासियों को इस देश में जिस प्रकार प्रेमी अपनी प्रिय वस्तु पर अपना ही अधिकार चाहता है, दूसरे का नहीं वैसी दशा वहां नहीं है । परम पिता में असंख्य भक्तों के प्रेम को सन्तुष्ट करने की शक्ति है । वहां प्रेम का असीम महा सागर है ।

इस देश में ख्याल बड़ी तेजी से दौड़ता है । आप ज्यों ही न्यूयार्क के बारे में सोचते हैं त्यों ही वहां पहुँच जाते हैं । लेकिन जो चीजें आपके मन में आती हैं, वे इस समय की घटनायें नहीं हैं; बल्कि बीती हुई घटनायें हैं जिनके विषय में आप जानते थे । कहने का मतलब यह है कि आप इस समय न्यूयार्क का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर सकते । या वहां इस समय होने वाली घटनाओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अपनी चेतनता का एक अंश नहीं भेज सकते । यदि आपकी चेतनता इतनी बलवती होती कि आप ऐसा कर सकते, तो अब जो वहां हो रहा है, उसका प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान आपको उसी प्रकार से होता जिस प्रकार कि अपने हाथ या पैर का होता है । आपका विचार प्रकाशित हो

जाता और दूरी समाप्त हो जाती। कुछ इसी प्रकार की क्रिया सतदेश के वासियों की होती है। परन्तु चेतनता की तुलना मे ख्याल भी एक भद्दा ही औजार है।

जो लोग दृष्टि मे छिपी या दृष्टि के क्षेत्र से बाहर की चीजें देख लेते हैं, उनका यह अनुभव ऊपर बतलाई हुई रीति से नहीं होता। उनका दूर की चीजों को देख लेना बिखरी हुई या व्यापक चेतनता के द्वारा नही होता, बल्कि सूक्ष्म इन्द्रियों के द्वारा होता है। उनकी स्थूल क्रियाओं के बन्द हो जाने से उनकी सूक्ष्म इन्द्रियां जाग जाती है और स्थूल इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक विस्तृत क्षेत्र में कमोवेश ठीक रूप से काम करने लगती हैं। ये सूक्ष्म इन्द्रियां सूक्ष्म द्रव्य की बनी होती हैं और स्थूल इंद्रियों की नकल होती है यह जरूरी नहीं है कि वे उनके पूरे नियन्त्रण में हो। नियन्त्रण की मात्रा में बहुत अन्तर पाया जाता है। कभी तो वे ठीक काम करती है और कभी गलत। कभी २ तो जिन चीजो को वे दूरस्थ स्थानों पर देखी हुई बताते है, वे उनकी ही चेतना या मन में मौजूद चीजे होती है इसलिये इन दिव्य दृष्टि वालों की बतलाई हुई बातें कहां तक सही है इसके बहुत से दर्जे हैं, उनको झूठी बता कर टाल देना या उनमें सन्देह रहित विश्वास करना गलती होगी।

इन सूक्ष्म इन्द्रियों की कई श्रेणियां हैं। ब्रह्मांड की सूक्ष्म इन्द्रियां बहुत ही सूक्ष्म द्रव्य की होती हैं और इसलिये बहुत समय तक रहने वाली होती है। उनमें बहुत सी ब्रह्मांड के पूरे जीवन तक रहती है।

जैसा कि कहा गया है, नीचे के देशों में सुरत का मन और माया के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिये इन ज्ञानेंद्रियों का होना आवश्यक है। ब्रह्मांड से ऊपर जाने पर चैतन्य से भिन्न दूसरे द्रव्य से बनी हुई ज्ञानेंद्रिय की आवश्यकता नहीं होती हैं। क्योंकि चैतन्य शरीर स्वयं बुद्धि युक्त होते है और उनके चारों ओर सब जगह बुद्धियुक्त चैतन्य होता है।

साधारण तौर से हम कह सकते हैं कि सतदेश में सुरतों को उसी प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान होता है जिस तरह कि हम लोगों को होता है। वे चैतन्य-रूपी होते हैं। वे चैतन्य के द्वारा बोलती हैं। सभी पाँचों ज्ञानेंद्रियां विकसित होती हैं और इस्तेमाल में लाई जाती हैं। वे चैतन्य-मय आहार भी करती हैं। जिस प्रकार इस लोक में शरीर से होकर एक मायक या जड़ धार जाती है जिससे शरीर का पोषण होता है, उसी प्रकार वहाँ एक चैतन्य धार के द्वारा चैतन्य-शरीर का पालन होता है। उस चैतन्य-धार को अमृत कहते हैं जो वहां के मंडल के धनी से आता है। राधास्वामी पद में वह राधास्वामी दयाल से, अगम लोक में अगम पुरुष से आता है, इत्यादि।

नीचे के देशों में भी एक धार होती है, जो उन देशों के वासियों के मुकाबले में चेतनता की दृष्टि से अधिक शुद्ध होती है। एक धार ब्रह्मांड से पिंड तक है। वह निर्मल चैतन्य की तो नहीं है, परन्तु पिंड की अपेक्षा शुद्ध है। उसके साथ सम्बंध जोड़ने से मृत्यु से ऊँपर उठना सम्भव है।

ऊपर और नीचे के मंडल एक दूसरे के मुकाबले में किस प्रकार सीमित हैं, यह बात किसी हद तक मोटे तौर से नीचे लिखे उदाहरणों के द्वारा समझाई जा सकती है।

एक घास पर एक टाँग से फुदकने वाले टिड्डे की ज्ञानेंद्रि ों । क्षेत्र पर विच ार करें। मनुष्य की ज्ञानेंद्रिय के क्षेत्र की लना में उसके ज्ञानेंद्रियों का क्षेत्र कितना सीमित या छोटा होता है। फिर मान लें कि एक आदमी एक कमरे के भीतर बैठा हुआ है। वह उस कमरे की दीवार के बाहर की चीजों को नहीं देख सकता। परन्तु यदि उसको चतुर्थ विस्तार में प्रत्यक्ष-ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति दे दी जाय, तो भौतिक या स्थूल वस्तुएँ उसके लिए रुकावट नहीं रहतीं। उस कमरे की दीवालें उसके लिए गायब हो जाती हैं और वह उनके बाहर की चीजों को देख लेता है।

फिर दूरी, विस्तार और इसी तरह की चीजों का हमारा ख्याल उस तुलना पर आधारित है जो हम भिन्न२ दशाओं में अपनी इन्द्रियों के अनुभवों के बीच करते हैं। दूरियों का ज्ञान हमें उस समय के रूप में होता है जो उन्हें तै करने में लगता है। परन्तु मान लें कि हम एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपने जाने के ढंग को बदल सकते हैं रोशनी एक लाख छियासी हजार मील प्रति सेकिंड की चाल से चलती है। वह इतनी तेज चलती है कि बड़ी२ दूरियों का हिसाब लगाने में मीलों का प्रयोग छोड़ दिया गया है। उनके स्थान पर गणना की इकाई के रूप में प्रकाश-वर्षों का प्रयोग होता है। ख्याल उससे भी तेज है। वह सबसे दूर की चीजों तक पहुँचने में भी प्रत्यक्ष रूप से कोई समय नहीं लेता। यह भी याद रखना चाहिये कि जिस ख्याल रूपी यन्त्र को हम जानते हैं, वह मुकाबले में स्थूल है। ब्रह्मांड का यह यन्त्र बहुत ही ज्यादा सूक्ष्म है। एक व्यक्ति को एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के लिए अपने पैरों या किसी सवारी का, जो स्थूल साधन है, सहारा लेना जरूरी होता है। अब मान लें कि इस सहारे के यन्त्र का प्रयोग कर सकता है और ज्यों ही किसी जगह के बारे में ख्याल करता है, त्यों ही वहाँ का प्रत्यक्ष-ज्ञान उसको होने लगता है। उस दशा में उसके प्रत्यक्ष-ज्ञान का क्षेत्र कितना अधिक विस्तृत हो जायेगा। और दूरी तथा समय के विषय में उसका विचार कितना बदल जायेगा।

ऊंचे देशों में प्रवेश होते जाने से जो रूकावटें यहाँ पायी जातीं हैं। उन केदूर होते जाने के कारण ज्ञान का जो फैलाव होता जाता है, उसका इससे एक मोटा अन्दाज होता जायेगा। हमने चौथे विस्तार में प्रत्यक्ष-ज्ञान प्राप्त करने की बात कही है, जिसका अर्थ है ठोस वस्तु में प्रवेश कर जाना। इसका मतलब यह है कि एक रूकावट दूर हो गयी। इसी प्रकार बहुत सी रूकावटें दूर होती जाती हैं और प्रत्यक्ष-ज्ञान का क्षेत्र अत्यधिक बढ़ता जाता है। निश्चय ही ब्रह्मांड में रहने वाले जीव के प्रत्यक्ष ज्ञान का क्षेत्र मनुष्य की अपेक्षा असीम मालूम होता है। ज्यों ज्यों हम ऊंचे बढ़ते हैं, त्यों त्यों यह अन्तर बढ़ता जाता है।

सतदेश में ज्ञान जिसे कभी कभी सन्तों का आनन्द कहा गया है, इन्द्रियों के सबसे ऊंचे और सबसे तीव्र रूप में क्रिया करने से उत्पन्न होता है। जिसे हम उत्तेजना कहते हैं, उसकी वह सबसे ऊची अवस्था है। अर्थात् वह ज्ञान की तीव्रता है। वहां का आनन्द अनन्त कहा गया है। अर्थात् वहाँ आनन्द के स्रोत असीम हैं। सुन्दर से सुन्दर रूप दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि जीवन का दर्जा जितना ही ऊंचा होता जाता है,

और रूप पर चैतन्य की छाप अधिक होती जाती है, उतनी ही सुन्दरता बढ़ती जाती है। जिस प्रकार मनुष्य का रूप किसी जानवर के रूप से अधिक सुन्दर और आकर्षक होता है, उसी प्रकार चैतन्य-रूप सब रूपों से कहीं अधिक सुन्दर होता है अत्यन्त मोहक और मस्ती पैदा करने वाला संगीत सुनाई पड़ता है। वहाँ का प्रत्येक वासी अपना विचित्र राग-अपना एक निजी शब्द निकालता है। परन्तु प्रत्येक शब्द का उस मण्डल के धनी से निकलने वाले शब्द के मेल में होता है। यही दशा दूसरी ज्ञानेंद्रियों के ज्ञान की भी है। प्रत्येक प्रकार का ज्ञान पूरे तौर से अपने सबसे ऊंचे और विशुद्ध रूप में है मण्डल के धनी से निरन्तर प्रवाहित होती रहने वाली चैतन्य-धार से जो चैतन्य-धार से जो चैतन्य शरीरों को चैतन्य पोषण देती रहती है ज्ञान की सबसे ऊंचे दर्जे की तीव्रता— सबसे ऊंचे दर्जे की मस्ती पैदा होती है। ऐसे ज्ञान से सबसे ऊंचे दर्जे का आनन्द पैदा होता है और उस ज्ञान के साथ मौजूद रहता है।

इस लोक मे हमें ऐसा महसूस होता है कि परिवर्तन निरन्तर होते रहना चाहिए। रोज मनोरंजन का कार्यक्रम बदलते रहना जरूरी है, नहीं तो नीरसता आ जायेगी। इतनी भयानक कोई चीज नहीं मालूम होती जितनी किसी दशा का एक जैसी बनी रहना हर एक चीज इतनी अपूर्ण और दोषमय है कि हम उससे ऊबकर दूसरी भिन्न चीज चाहने लगते हैं। परन्तु यदि विभिन्न इंद्रियों के सुख पूर्ण होते, तो परिवर्तन की कोई आवश्यकता न होती। एक ही कार्यक्रम चलता रहता।

जितने सुखों और मजों को हम जानते है, उन सभी को ले लें। मान लें कि माया के मसाले से बनी हुई इंद्रियो की अपूर्णता और मलीनता के कारण उनमें कोई खराबी नहीं है; मान लें कि उनमें कोई अपूर्णता या कमी नहीं है और इसलिये बार बार उनको भोगने के कारण वे पुराने होने से नीरस नहीं होते। अब आप कल्पना करें कि वे आप को सदा प्राप्त हैं। तब आप और क्या चाहेंगे?

हम उत्तेजना के लिए बहुत लालायित रहते है। परन्तु यदि आप इसका विश्लेषण करें तो यह केवल प्रत्यक्ष-ज्ञान की तीव्रता है। हमारे औजारों या इंद्रियों की जड़ता के कारण हमारे प्रत्यक्ष-ज्ञान मंद या कुण्ठित हो जाते हैं। जहां औजारों की जरूरत नहीं है, वहां प्रत्यक्ष-ज्ञान सीधे और तुरन्त होता है तथा उत्तेजना की अपनी सबसे ऊंची अवस्था में होता है। इंद्रिय-ज्ञान या रस में नीरसता पैदा होने का कारण उसमें पाई जाने वाली मलीनता है। यह एक अटल नियम है कि मलीन इंद्रिय-ज्ञान या रस स्थायी नहीं हो सकता। यदि यह नियम न होता तो बराबर और हमेशा ही नीचे उतार होता जाता, क्योंकि ज्ञान और रस की जिस तीव्रता को हम चाहते हैं, उसे पाने में जब हम असमर्थ हो जाते हैं, तो असन्तुष्ट होने के कारण जड पदार्थों के साथ स्थूल से स्थूल रगड़ रस पाने के लिए करने लगते हैं और नीचे से नीचे उतरते हैं।

सांसारिक विद्या वालों में यह गलती आम तौर से पाई जाती है कि वे मन के रूपों और क्रियाओं को तो महत्त्व देते हैं और ज्ञानेन्द्रिय को तुच्छ समझते हैं और उन्हें नीची दृष्टि से देखते हैं। बहुत कुछ महत्त्व जो ज्ञानेन्द्रिय को देना चाहिए, वे मन को देते हैं। यदि ऊंची और सुन्दर आंतरिक दशाओं और अनुभूतियों का विश्लेषण किया जाय, तो

वे इंद्रिय-जन्य ज्ञानों या उन्हीं के समान आंतरिक ज्ञानों से अत्यधिक मात्रा में बनी हुई मालूम होगी।

ज्ञान की क्रिया को स्थूल समझना क्योंकि इस घाट पर उसकी क्रिया स्थूल है, गलत है। सुरत या चैतन्य को जड़-वस्तु का सीधे ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये जिन औजारों से उसे उसको जानना है, उन्हें अनुप्राणित करना या उनमें जीवन भरना उसके लिये जरूरी है। ये औजार उन वस्तुओं की तरह जिनको जानने के लिए वे बने है, अवश्य ही स्थूल और नाशमान मसाले के होंगे। लेकिन इस कारण से ऐसा नहीं सोचना चाहिये कि स्वयं ज्ञान-क्रिया स्थूल और नाशवान है। सुरत का अपने घाट पर, जहां उसे बिना किसी जरिये या साधन के ज्ञान होता है, ज्ञान किसी चीज से जिसका हम ख्याल कर सकते हैं, अनन्त गुना बारीक और उत्कृष्ट है। ज्ञान की क्रिया केवल चैतन्य या सुरत की क्रिया है। जहां अपना होश है, वहीं यह क्रिया होती है। और जिससे यह क्रिया होती हैं, उसमें अपना होश होता है। चैतन्य की क्रिया होने के कारण यह अवश्य ऊची होगी।

परन्तु सतदेश में प्रधान भाव प्रेम है। वस्तुत: चैतन्य का सार तत्त्व ही प्रेम हैं। उसका पूर्ण जीवन प्रेम का पूर्ण रूप से प्रकट होना है। वह अवस्था जैसी है उसकी कल्पना हमको इस घाट पर नहीं हो सकती। यहां प्रेम की केवल क्षीण और अपूर्ण अभिव्यक्ति या प्रकट होना सम्भव है। यहां सुरतों के बीच स्पंश नहीं हो सकता। उन्हें अपने सभी भावों को बाहर प्रकट करने के लिये स्थूल मसाले के औजारों का सहारा लेना पड़ता। विभिन्न वस्तुओं तथा विभिन्न व्यक्तियों के प्रति होने वाले आकर्षण की केवल छोटी नदियाँ या छोटी धारायें ही हमें मालूम हैं। फिर भी जिस प्रेम का हम यहां अनुभव करते हैं, वह यहां हमारे सबसे बड़े सुख का स्रोत है। इससे हम सोच सकते हैं, कि उन प्राणियों के बीच, जिनका सम्पूर्ण स्वरूप प्रेम है यानी जो प्रेम से ओत प्रोत है, प्रेम का बिना किसी बाधा के आदान-प्रदान होने से कितना आनन्द होगा।

सारे चैतन्य देश में प्रेम की लहरें एक के बाद एक चलती रहती हैं। जैसा कि कहा गया है, वे अनामी पुरुष की श्वास-प्रश्वास क्रियायें हैं। सुरत की धार श्वास का बाहर निकलना है। उसकी प्रतिक्रिया एक ही साथ सब जगह तुरन्त हो जाती है। वहां सभी सुरतें एक ही तरह के भाव का अनुभव करती हैं। सब में एक ही भाव एक साथ उठता है। वहां कोई विरोध, घृणा या छिपाने की जरूरत नहीं है। न तो वहां प्रतियोगिता या एक दूसरे से आगे बढ़ने की भावना है, क्योंकि प्रियतम हर एक को पूर्ण सन्तुष्ट करता है।

यह प्रश्न होता है कि क्या चैतन्य देश के सभी प्राणी एक ही तरह के है या एक दूसरे से भिन्न है? उसका उत्तर यह है कि वहां अनन्त रूप हैं।

शिक्षा में आदर्शवाद का स्थान

राम नारायण व्यास

शिक्षा के क्षेत्र में आदर्शवाद को हम अत्यन्त ही महत्वपूर्ण स्थान देने के लिए एक तरह से बाध्य है। यूं तो आदर्शवाद मानवीय जीवन के सांस्कृतिक धरातल को उच्च बनाने के लिए, ज्ञान-विज्ञान के हर क्षेत्र में प्रगति के लिए, जरूरी है: किन्तु शिक्षा के क्षेत्र में उसकी आवश्यकता इसलिये है कि हम शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति का समाजीकरण ही नहीं करते उसे नैतिक एवं बौद्धिक गुणों से युक्त करने का प्रयास भी करते हैं। यह बात हम अंग्रेजी शब्द 'एजुकेशन' की उत्पत्ति के आधार पर अच्छी तरह समझ सकते है। 'एजुकेशन' शब्द लैटिन के मूल शब्द 'बजुकेअर' से निःसृत हुआ है जिसका मूल अर्थ है समुत्पन्न करना। शिक्षा इस तरह का प्रयास है जिसके माध्यम से हम व्यक्ति के मानस में ऐसे वांछनीय मूल्यों को उत्पन्न करते हैं जो मानवीय जीवन की प्रगति के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं।

राधाकृष्णन् ने इसीलिये शिक्षा को व्यक्ति का द्वितीय जन्म कहा है। प्रथम जन्म तो माता पिता देते हैं किंतु उसके व्यक्तित्व को उदारता एवं विराटता का स्वरूप शिक्षा-शास्त्री (शिक्षक) देता है। यही बात हम भारतीय जीवन के मूल स्रोत उपनिषदों में भी पाते हैं, जिनमें यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि विद्या मुक्ति प्रदान करती है। (साविद्या चा विमुक्तिये) इसी तरह विद्या व्यक्ति को अमृत पान कराती है (विद्य या अमृतम् अश्मृते)। भाव यह है कि विद्या के माध्यम से हम मनुष्य को अज्ञान के बंधन से मुक्त करते हैं और अजर-अमर विचारों का अधिपति बनाते हैं। विद्या इससे कम उद्देश्य को स्वीकार नहीं करती। उपनिषद् की भाषा में कहा जाय तो (भूमैव सुखम् नाल्पे सुख मस्ति) इसलिये उपनिषद् बार-बार यह आह्वान करते हैं कि हम असत् से सत की ओर चलें, अंधकार से ज्योति की ओर बढ़ें, मरण के मार्ग को त्याग कर अमरता की ओर पैर बढ़ायें।

(असतो मा सद्गमय

तमसो मा ज्योतिर्गमय

मृत्योर्माऽमृतं गमय)

इसी तरह की भावना गांधी जी व्यक्त करते है जब वे यह कहते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य हमे व्यक्ति म निहित पूर्णता को उभारना है। सिर्फ साक्षरता शिक्षा का उद्देश्य नहीं हो सकता। हमारे भारतवर्ष में प्रारम्भ से ही विद्या को इतना महत्व दिया गया है कि मानव जीवन के प्रारम्भिक २५ वर्ष का सर्वश्रेष्ठ समय विद्या अर्जन को समर्पित किया गया। प्रथमे नार्जिता विद्या द्वितीये नार्जितं धनम्। तृतीये नार्जितो धर्मः चतुर्थे किं करिष्यामि। —चाणक्य केवल हमारे देश मे ही नहीं विदेशों में प्रतिभाशील विचारकों ने शिक्षा को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उदाहरण के लिये साक्रेट्रीस ने कहा है कि शिक्षक मानस की पुरुष दाई (टीचर इज द मेन मिड-वाईफ ऑफ माईन्ड) है। तात्पर्य यह कि है जिस तरह एक दाई गर्भस्थ शिशु को सुरक्षित रूप से बाहर निकालती है, उसी तरह शिक्षक शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति के मानस में निहित पूर्णता को बाहर लाता है। अर्थात् प्रकाश में लाता है। इस तरह शिक्षा का महत्व एक ऐसा सत्य है जिसे हम कभी अस्वीकार नहीं कर सकते हैं। शिक्षा हमारी सम्पूर्णता को प्रकाश में लाती है, हमारी तुच्छता को सामाजिकता का विराट रूप देती है, और हमारी प्रसुप्त बौद्धिकता को जगाती है। इस दृष्टि से देखने पर शिक्षा का आदर्शात्मक रूप हमारे सामने स्पष्ट रूप से उभर आता है। आजकल की परिस्थिति में जब हम समाज में, मनुष्य में, गिरावट की गन्ध पाते हैं, जब हम समाज में मनुष्य के मूल्य को खत्म किया जाता देख रहे है, जब हम सामाजिक जीवन के प्रत्येक पक्ष में एक ऐसी अनैतिकता का ऐसा उभार देखते है कि दवाई से लेकर सिमेंट तक, धर्म से लेकर राजनीति तक मिलावट की वृत्ति अधिकाधिक बढ़ती जाती है, बेईमानी के स्वर अत्यधिक प्रखर होते जा रहे हैं जिससे व्यक्ति का जीवन दूभर हो गया है और समाज की सांस्कृतिक व्यवस्था पतन के धरातल पर पहुँच गयी है, हमें शिक्षा के इस आदर्शात्मक स्वरूप को समझने का प्रयत्न करना ही चाहिये। विश्व की आधुनिक स्थिति भी हमें शिक्षा के आदर्शात्मक स्वरूप को स्वीकार करने के लिये प्रेरित कर रही है हायड्रोजन बॉम, रसायनिक युद्धीय उपादान, तथा अन्य इसी प्रकार के भयानक अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण के कारण आज विश्व चन्द मिनटों में खत्म किया जा सकता है। यह विश्व जिसकी आज की वैज्ञानिक और बौद्धिक समृद्धि को प्राप्त करने में अरबों वर्ष लग चुके हैं। यदि इस तरह खत्म हो जाता है तो मनुष्य की यह सबसे बड़ी हार होगी और प्रकृति जिसने मनुष्य को प्रगति के मार्ग पर नये चरण रखने के लिये बुद्धि का बल और हाथों की शक्ति का शौर्य दिया है निश्चय ही हताश और निराश होगी। इस स्थिति से मुक्ति पाने का एक ही रास्ता है, और वह यह है कि हम सही आदर्शों को शिक्षा के माध्यम से जनमानस में प्रतिष्ठित करें ताकि वह नाश के स्थान पर निर्माण के स्वर गाने लगे।

एडम्ज ने सच ही कहा है कि दर्शन का पूरा इतिहास इसी बात का जीता जागता उदाहरण है कि आदर्शवाद किसी न किसी रूप मे सम्पूर्ण दर्शन-साहित्य में पाया जाता है।[1]

[1] "Idealism in one from or other permeates the whole of the history of philosophy."

—Adams, The Evolution of Educational Theory, 1912, p.284

के शिक्षा शास्त्री ने आदर्शवाद का जनक समझते हैं।[2] किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सांक्रेस्ट्रीस को ही हमे पश्चिम के आदर्शवाद का संस्थापक मानना होगा। वही आदर्शवाद को पश्चिमी जगत के विचार जगत में सर्व प्रथम लाया।[3] इस तरह आदर्शवाद की परम्परा पश्चिम में भी सदियों पुरानी है।

साक्रेस्ट्रीस का एक उद्देशवादी मत था। इसलिये आदर्शवाद में उसकी प्रवृत्ति सहज स्वभाविक ही थी। सॉक्रेस्ट्रीस के पश्चात प्लेटो की रचना-विधि मे आदर्शवाद के तत्व स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते है। प्लेटो जैसा कि सर्व-विदित है, सांक्रेस्ट्रीस का ही शिष्य था। इसलिये उसमें साक्रेस्ट्रीस का प्रभाव यदि हम स्पष्ट रूप से पाये तो हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। किन्तु प्लेटो में आदर्शवाद की मात्रा सांक्रेस्ट्रीस से कहीं अधिक थी। उसका स्पष्ट मत था कि 'आयडिया' (प्रत्यय ही सही है और वे ही ईश्वर द्वारा निमित प्रथम रचनायें है।[4] जिसे हम विज्ञान कहते है, उसमे इन प्रत्ययों का ही अध्ययन हमे करना होता है। ये प्रत्यय सार्वजनिक एवं सार्वलौकिक ही नहीं सनातन भी हैं और शाश्वत भी हैं चिरंतन भी है। प्लेटो का यह स्पष्ट मत था कि हमें अपने सामान्य प्रकार के विचारों को परिवर्तित करना चाहिए। उसने कन्दरा की जिस ढग से उपमा दी है[5] उससे यह स्पष्ट होता है कि पूरी सृष्टि को वह प्रत्ययों की तुलना में असत्य मानता है। सही शिक्षा का उद्देश्य प्लेटो के अनुसार सब की सही प्रवृति समझना है।[6] यदि हम शिक्षा का उद्देश्य सिर्फ साक्षरता समझे तो यह एक भयंकर त्रुटि होगी।

किन्तु प्लेटो में एक प्रवृत्ति और विद्यमान है वह यह है कि शिक्षा को सिर्फ शासक वर्ग तक ही (गार्डियन्स) तक ही सीमित रखना चाहती है। इससे शिक्षा में एक प्रकार की मानवीय सकोच एवं संकीर्णता परिव्याप्त होगी। इस कारण उसकी शिक्षा दर्शन साहित्य के मन्थन से यही बात सत्य सिद्ध होती है। कोमेनियस को वैसे पश्चिम

---

[2] W.Boyd, The History of Western Education,P 262-3

[3] "And if we knew how to convert stones into gold. the knowledge would be of no value to us. unless we knew how to use the gold."
—Euthydemus

[4] "Ideas are the divine original's—Republic, 500

[5] "Behold human being living in an under ground den wnlch has a mouth open towards the light and reaohing all along the den; here they have beee frm there childhood and have their legg and necks chained so thet they cannot move and can only see before them, being prevented by the chains faom turning round their heads."
—Republic 514

[6] "A something which all arts and sciences and intelligence use in common, and which every one first has to learn among the elements of education."
—Kepuicl, 522

आदर्श आधुनिक काल मे जब प्रजातन्त्र की प्रवृत्ति पूरी तरह जागृत है, हमारे लिय मार्ग निर्देशक नही हो सकती। हमारा उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति को सुशिक्षित करना है।[7] इस त्रुटि के बावजूद प्लेटो मे आदर्शवाद क तत्व उपस्थित जरूर है।

प्लेटो के बाद जब हम एरिस्टॉटल की चर्चा करते है तो फिर आदर्शवाद के दर्शन होने लगते हैं। एरिस्टॉटल कुछ अर्थों में प्लेटो से अधिक व्यवहारिक दार्शनिक था। उसके राजनीति सम्बन्धी सिद्धांत से यही बात हमारे सामने स्पष्ट होती हैं। किन्तु अपनी व्यावहारिकता के बावजूद एरिस्टॉटल अपने शिक्षा सम्बन्धी सिद्धान्तों में आदर्शवादी विचारधारा का परिपोषक था। इसलिये वह स्पष्ट रूप से सुझाता है कि शिक्षा का मूल उद्देश्य व्यक्ति को नैतिक एवं बौद्धिक सद्गुणों का आगार बनाना है, व्यक्ति को ऐसे श्रेष्ठतम मूल्यों से अलंकृत करना है जो मानवीयता के लिए जरूरी है;[8] एरिस्टॉटल की यह धारणा ही उसे शिक्षा के क्षेत्र में आदर्शवादी बना डालती है।

एरिस्टॉटल के पश्चात यूरोप में हम स्टाइक मत का प्रादुर्भाव पाते है। यह मत भी एक तरह से आदर्शवादी मत कहा जा सकता है, क्योकि इस मत में हम एपिक्यूरियन मतावलम्बियों के सुखवाद का विरोध पाते है। इस मत के अनुसार मानवीय जीवन का लक्ष्य भौतिक सुख की उपलब्धि नहीं हैं। इसका मूल उद्देश्य सद्वृत्ति का मानवीय जीवन मे उद्रेक करना है, अच्छाई की पूजा करना है। इसका तात्पर्य यह है कि हमे ईमानदारी के साथ अपने कार्य सम्पादित करते जाना चाहिये। इसी बात को वह अन्य शब्दों में जीवन को प्रकृति के अनुकूल बनाना कहते थे।[9] प्रकृति से उनका तात्पर्य इस मूल भावना से ही था कि व्यक्ति को वैयक्तिक सुख की तलाश छोड़ देनी चाहिए और एक ऐसी मूलवृत्ति अपने आप मे उत्पन्न करनी चाहिए जिसमे सम्पूर्ण विश्व के कल्याण एवं विकास की लालसा उल्लासित होती हो। इस तरह स्टोइक मत व्यक्ति की विकास-भूमि पर सम्पूर्ण विश्व के कल्याण का प्रतिपादन करता है। शिक्षा का मूल

---

[7] " The secret of a state's excellence lies in the fact of its consisting of a large body of excellent citizens organized alright. Plato had sacrificed nuch that makes life worth having without realizing in any one of the three sections of his State the most desirable life

—W. L. Newman, The Politics of Aristotle, p. 428

[8] "In his view the object of youthful education is to produce a being who will fined his happiness in the exercise of the moral and intellectual virtues to whom not only voice, but an overstimate of external and bodily goods.will be distasteful—who will live for noblest things that men can live for, simply because to do otherwise would be painful to him."

—W. L Newman,The Politics of Aristotle ,vol. I. , p.373

[9] "It does not mean 'living simply' or 'living like a natural man'. It means living according to the spirit which makes the world grow and progres. "

—Gilbert Murray, The Stoic Philosophy, p,32-4

उद्देश्य विश्व कल्याण की भावना को व्यक्ति के मानस में प्रतिष्ठित करना ही समझा जाता था।

स्टाइँक मत के बाद हम पश्चिम मे इसाई धर्म का अभ्युदय पाते है। ईसाई धर्म में भी आदर्श की भावना पूरी तरह परिव्याप्त है। वह वैयक्तिक सुख-दुःख को महत्व नही देता, और अपने जीवन को ईश्वरीय प्रेरणा से परिप्लावित करने की प्रेरणा व्यक्ति को देता है। ईश्वरीय प्रेम मे ईर्ष्या, द्वेष, कलह, छल, कपट आदि का कोई स्थान नहीं। वहाँ जा सम्पूर्ण विश्व की भलाई की कामना मौजूद रहती है। सच्चे ईसाई मूल उद्देश्य अपने जीवन को ईसा मसीह के जीवन के आदर्शों में ढालना भर है, जिसमें अपने तथा-कथित दुश्मनो के लिए भी सिर्फ एक सहृदय सहानुभूति, स्नेहभरी मंगल-कामना थी। स्नेह का प्याला ही ईसा ने अपने दिल के अन्दर सजाये रखा था। ईसा मसीह ईश्वर का पुत्र था इसलिये सभी ईसाईयों को वह ईश्वर की भाँति अपने आपको सुयोग्य ईश्वर-पुत्र बन जाने की सीख देता था। निश्चय ही यह एक चेतन एवं स्फूर्ति आदर्शवाद है। इसी आदर्शवाद को हम ईसाई शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति में प्रतिफलित करने का प्रयास ईसाई धर्म के प्रारम्भिक काल में पाते हैं। यह दुःख की बात है कि कालांतर मे यह ईसाई शिक्षा साम्प्रदायिक अन्ध भावनों के रूप में परिवर्तित होगई और उसका मूल उद्देश्य अशिक्षित एवं अन्जान जनता को ईसाई सम्प्रदाय मे शिक्षित करना मात्र रह गया।

आदर्शवाद के सही आदर्श का प्रभाव जर्मनी के दार्शनिकों में भी कुछ न कुछ मात्रा में प्रकट हुआ। उदाहरणार्थ हम कांट को लें। कांट ने अपने नीति शास्त्र में जिस कटेगोरिकल इम्परेटिव (निरपेक्ष आदर्श) की स्थापना की है उसमे ईसाई धर्म की मूल भावना विद्यमान है। कांट कहता है कि मनुष्य को बिना किसी फल सम्बन्धी इच्छा के अच्छाई की ओर प्रवृत्त होते जाना चाहिए। यही कांट का निरपेक्ष आदेश बतलाता है। किन्तु कांट कुछ अन्शों मे फ्रांस के प्रसिद्ध विचारक रूसो से भी प्रभावित हुआ था। रूसो का मत सर्व विदित है। वह स्पष्ट रूप से यह कहता था कि मानवीय सस्कृति ने व्यक्ति की अच्छाई को खत्म कर दिया है।[10] उसका यह कथन सर्वविदित है कि मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होता है किन्तु सर्वत्र अपने को बन्धनों से जकड़ा पाता है। मानव समाज ने व्यक्ति की इस तरह दुर्गति कर रखी है। इस स्थिति से मुक्ति व्यक्ति को उसी हालत में मिल सकती है जब वह समाज की झूठी एव असत्य परम्पराओ से छुटकारा प्राप्त कर ले, प्रकृति के अनुकूल अपने आपको ढाले। प्रकृति से रूसो का तात्पर्य किसी प्रकार के स्वच्छन्दतावाद की गिरफ्त में व्यक्ति को गिरफ्तार करना नहीं है। प्रकृति से उसका भाव एक ऐसी विराट सरलता से है जिसमें हम उच्छृंखलता से दूर चले जाते हैं और एक नैसर्गिक सरलता के आभूषण से अपने विचार एवं व्यवहार को भूषित कर डालते हैं जिसमें किसी प्रकार की ईर्ष्या और दूसरों को रौंदकर आगे

---

10 "We have sought pleasure and happiness has fled from us."
—Julie in Rousseau' La Nouvelle Heloise.

बढ़ने की अभिलाषा नहीं होती है यहीं नहीं पारस्परिक सहानुभूति और स्नेह व्यक्ति के लिये एक सहज वृत्ती बन जाते है[11] इस तरह यह स्पष्ट है कि रूसो आदर्शवादी ही था उसके अन्तर में समाज के प्रति, सामाजिक व्यवस्था के प्रति, एक विद्रोह की आग थी समाज को वह गर्हित समझता था, सामाजिक व्यवस्था के प्रति उसके हृदय में आक्रोश था क्योंकि सामाजिक व्यवस्था का वर्तमान रूप एक प्रकार के वैशम्य का ही मूर्त रूप है गरीब और अमीर, ऊचा और नीचा, संभ्रांत एवं साधारण तथा इसी प्रकार की अनेक विपतायें सामाजिक व्यवस्था के अंग हैं यह सब रूसो को स्वीकार नही था वह चाहता था कि मनुष्य अपने प्रकृति-सुलभ सारल्य को प्राप्त करे विद्वेष तथा स्वार्थ की परिधियों को चीरकर वह अपने उस विशुद्ध निरीह रूप को पाए जो उसका अपना असली रूप है प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र उत्पन्न होता हैं, किन्तु हर जगह वह जकडा नजर आता है रूसो ने दर्द भरे स्वर में मानव-समाज के सामने शिकायत की थी। बेकसी, लाचारी, अन्याय, अत्याचार की चक्कियों में पिसती मानवता रूसो के सामने साकार खड़ी थी। एक जागरुक तथा विचारशील तत्वज्ञ की भांति उसने इस परिस्थिति से मनुष्य को मुक्त करने का राज बताया और वह राज था प्रकृति के नजदीक जाना। ··· बैक टु दि नेचर ··· प्रकृति की ओर वापस चलो ··· यह नारा रूसो ने मानव जाती को दिया किन्तु यह समझ लेना आवश्यक है कि प्रकृति से रूसो का तात्पर्य किसी प्रकार की नैसर्गिक स्वच्छदन्ता से नहीं है। रूसो के लिए प्रकृति एक निश्छल मानसिक स्थिति है। जिसमें स्वार्थ की गंध न हो। इस तरह रूसो का प्रकृतिवाद एक प्रकार का आदर्शवाद ही है। आदर्शवाद की भांती ही वह वह वर्तमान स्थिति से असन्तुष्ट है। आदर्शवाद की तरह ही वह एक ऐसी स्थिति की कल्पना करता है जो मानव-समाज को आधुनिक श्रृंखलाओं से निर्मुक्त कर दे रूसो का शिक्षा-दर्शन इसी प्रकार के आदर्शात्मक विचार धारा का उत्कृष्ट प्रवाह है। एमिली में उसने अपने इस शिक्षा-दर्शन का उचित ढग से प्रकटीकरण किया है। अपने छात्र को शिक्षक अच्छाई की शिक्षा उसके मानस में अच्छाई के प्रति श्रद्धा जगाकर ही देना चाहता है। यदि किसी अच्छी बात को हम छात्र के मन में भय, दण्ड, या समाज के भय से प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। तो यह एक गलत, एक भ्रांत वस्तु होगी क्योंकि छात्र उस वस्तु को किसी ऐसे तरीके से करने के लिए उद्यत हो सकता है, तत्पर हो सकता है, जो उस दण्ड की कपट या छल के माध्यम से नजर बचा देता। सही तरीका या प्रणाली इसलिए दण्ड का बिना आधार लिए अच्छाई के प्रति विद्यार्थी

---

[11] "If I have a dislike for the society of mankind, it is more their fault than mine."
—Rousseau Confessions, book V

"Mad men, who countinually cry out against nature. Know that all your evils proceed from yourselves."
—ibid. book, viii

"A thatched roof once covered free men; under marble and gold wells slavery."

की निष्ठा तथा आस्था को जगाना है, उसे जागरूक करना है। भय या आतंक के साये में अच्छाई कभी पनप नहीं सकती। रूसो का यह दृढ़ विश्वास था। इसलिए रूसो को हमे प्रकृतिवादी के बजाय आदर्शवादी ही कहना चाहिए एक आदर्श से रंजित विचारक हम मान सकते हैं। क्योंकि सबसे पहली बात हम यह पाते है कि वह प्रकृति के प्रति लोगों को न्यायप्रिय बनाना चाहता है, उसके अनुकूल ढालना चाहता है। जैसा कि हम जानते है प्रकृति का अर्थ रूसो की भाषा में उस उच्च-विचार शीलता से है जिसमें मानवीय जड़ता एव पाशविकता खत्म हो जाती है तथा एक प्रकार की उदारता जीवन मे समाविष्ट होने लगती है।[12] दूसरी बात हम रूसो में पाते हैं, वह यह है कि अन्य आदर्शवादियो की भांति, वह एक नैतिक व्यवस्था मे विश्वास करता है, एक ऐसी नैतिक व्यवस्था जिसमें विचार-शीलता प्रबुद्ध रहती है, जिसमें सत्य न्याय, ईमानदारी आदि नैतिक तत्व शक्तिशाली बन जाते हैं, एक तीसरी चीज जो हम रूसो मे पाते हैं, वह यह है कि वह न तो प्रकृति से, और न अपनी रचनाओ के आधार पर ही सुखवादी कहा जा सकता है। वस्तुत: पूछा जाये तो उसने सुख और प्रसन्नता या आनन्द मे एक बड़ा अन्तर किया है। यह तत्व भी रूसो के आदर्शवाद की ओर इंगित करता है। यही नहीं, अपने व्यक्तित्व के कारण रूसो सिर्फ आदर्शवादी ही बन सकता था। जिस प्रकार की प्रतिक्रिया उसने अपने समय के वातावरण के विरुद्ध व्यक्त की है, जिस प्रकार के विद्रोह का स्वर उसने अपने समय की गलत परम्पराओ के विरुद्ध उठाया था, उससे यही जाहिर होता है कि वह एक आदर्शवादी व्यक्ति था। इसलिए रूसो को एक प्रकार से हमें आदर्शवादी मानना होगा। रूसो इसलिए शिक्षा के क्षेत्र मे आदर्शवादिता को अपनाने के लिए बाध्य था। रूसो का मत था कि मनुष्य प्रकृति के ही सरल सौम्य एवं सद्वृत्ति प्रिय व्यक्ति है। जो कुछ परिवर्तन; ऐसा परिवर्तन जो उसमें एक प्रकार की विकृति ला देता है, उसे स्वार्थ का पुतला बना देता हैं। उसमें आता है वह परिवर्तन व्यक्ति मे विकृत समाज के कारण ही आता है। इस तरह व्यक्ति की गिरावट के लिये व्यक्ति नहीं समाज जिम्मेदार है।

रूसो की हीं भांती, फिक्टे फ्रोइबाल तथा पुराने जमाने के स्टोइक भी यह मानकर चलते हैं[13] कि व्यक्ति स्वभाव से अच्छा ही होता है। इसके विपरीत एक अन्य विचारधारा भी हम शिक्षा के क्षेत्र में पाते हैं। इस विचार धारा के परिपोषक के रूप में कांट और हीगल को लिया जा सकता हैं। इन विचारकों का मत था कि मनुष्य स्वभाव

---

[12] "The more impulse of appetite is slavery, while obedience to a law which we prescribe to oursleves is liberty."
—Social Contract, p.19

[13] Fitchte's Addresses to the German Nation.
Froebel's The Education of man:"Surely the nature of man is itself good,"
" For them (the Stocics), nature, reason and God had the same meaning."
—W. R. Sorley, The Ethics of Naturalism

से न तो अच्छा होता है न बुरा। हीगल ने स्पष्ट लिखा है कि शिशु-प्रकृति से न तो अच्छा होता है न बुरा क्योंकि जन्म से वह अच्छे या बुरे के ज्ञान से पूर्ण नहीं होता वह अच्छाई या बुराई में भेद करने की क्षमता नहीं रखता यह क्षमता तो उसमें बाद में पैदा होती है [14] इस मत भिन्नता के बावजूद कांट और हीगल को हम आदर्शवादियों की श्रेणी में रख सकते हैं। कांट ने हालाकि विज्ञानों की उन्नति के लिये क्रिटिक ऑफ फ्यूअर रिजन के माध्यम से प्रयत्न किया था किन्तु इस विज्ञान प्रेम के बावजूद भी उसमें आदर्शवादिता के तत्व मौजूद थे। यह बात इस वक्त स्पष्ट हो जाती है। जब हम उसकी पुस्तक (क्रिटिक ऑफ प्रेक्टिकल रिजन) पढ़ते हैं। काँट ने उससे ईश्वर और अमरता के सिद्धाँत (नैतिकता) के आदर्श को किसी वैचारिक तर्क के माध्यम से नहीं स्वीकार किया है। बल्कि उन्हें आस्था का विषय माना है। किन्तु इस बात से उसकी आदर्श-प्रियता ही प्रकट होती है। वैसे अपनी रचना के क्रिटिक ऑफ रीजन फ्यूअर में भी परमतत्व को मानकर उसने अपनी आदर्शवादिता प्रकट कर दी थी। किन्तु क्रिटिक ऑफ प्रेक्टिकल रीजन' में उसकी आदर्शवादिता का रूप इतना स्पष्ट है कि उससे इन्कार करना किसी के लिये सम्भव नहीं है।

शिक्षा के क्षेत्र में इसलिए हम कांट को आदर्शवादिता का हिमायती पाते हैं। उसके मतानुसार शिक्षा के माध्यम से हमें व्यक्ति के मानस में नैतिक व्यवहार की आधार शिला डालनी चाहिये, उसे कर्तव्य शीलता का पाठ पढ़ाना चाहिये। इस मत को इस उदाहरण से हम समझ सकते हैं।[15] कि वह सही प्रकार की स्वतन्त्रता की भावना व्यक्ति में शिक्षा के माध्यम से जगाना चाहता है।

काँट के मतानुसार शिक्षा का मूल उद्देश्य व्यक्ति को आत्म नियंत्रण एवं स्वतंत्रता में सामंजस्य स्थापित करना सिखलाना है। कब व्यक्ति को दूसरों की बात मानना जरूरी है और उसे अपने स्वतंत्र विचारों को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करना आवश्यक है, यह बात शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति में प्रतिष्ठित की जानी चाहिये। यदि शिक्षा यह सब नही करती तो वह एक यांत्रिक वस्तु बन जायगी। कॉट की ही भांति, हीगल भी प्रकृति से आदर्शवादी है और शिक्षा के क्षेत्र में भी एक प्रकार के आदर्शवाद की ओर उसका झुकाव

---

14 "Kant cannot admit that moral evil or moral good are to be referred to anything which lies beyond the individual will."
—Caird, the Critical Philosophy of Kant,
"By nature the child is neither good nor bad, since it is born with no knowledge of either good or evil."
—F. L. Luqueer. Hegel as Educator

15 "How to unite submission to the necessarry restraint with the child's capability of exercising his free will-for restraint is necessary. How am I to develop the sense of freedom in spite of the restraint; I am accustom my pupil to endure a restraint of his freedom, and at the same time I am to guide him to use his freedom alright. Without this all education is merely mechanical."

स्पष्ट है। उसके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को एक स्वतन्त्र इकाई बनाना है अर्थात उसे एक ऐसा प्राणी बनाना है, जिसमें संकल्प को वरण करने की, निश्चय करने की वृत्ति स्वतन्त्र हो[16] इस दृष्टि से वह शिशुओं को अपनी इच्छाओं पर अंकुश रखना सिखलाना जरूरी समझता है। उन्हें वह आज्ञाकारिता का पाठ पढ़ाना चाहता है ताकि एक सही अर्थ में वे स्वतन्त्र हो सके। हीगल के बाद फिक्टे मे भी आदर्शवाद की प्रवृत्ति स्पष्ट है। वह स्पष्ट रूप से इस प्रकार का मत व्यक्त करता है कि राष्ट्र को शक्तिशाली तथा प्रगतिशील बनाने के लिए शिक्षा मे आमूल परिवर्तन करना जरूरी हैं। उसके अनुसार हमें मनुष्यता के लिये शिक्षा देना चाहिये।[17] शिक्षा के माध्यम से व्यक्तियों के मानस में एक ऐसी सद् इच्छा को, जो कभी गलती नहीं करती, प्रतिष्ठित करना चाहिए। वह यह बात समझता था कि हमें शिक्षा के क्षेत्र मे स्वतन्त्रता का महत्व समझना चाहिये, किन्तु यह सभी जानते है कि बाल्यकाल से बालक स्वतन्त्र पैदा नही होता। वह बचपन में तो इच्छाओं एवं वासनाओं का दास होता है। उसमें शुभ संकल्प करने की क्षमता नहीं होती, वरन् एक संकोच, हिचकिचाहट होती हैं। इसलिये आदर्शवाद यह मानता है कि हमे व्यक्ति की स्वतन्त्रता को धीरे धीरे विकसित करना चाहिये ताकि वह अपनी वासनाओं, जन्मजात वृत्तियो के बन्धन से अपने आप को मुक्त कर सके। प्लेटो की भाषा में वह सम्पूर्णकाल और सम्पूर्ण सृष्टि का द्रष्टा बन सके।[18] प्लेटो भी इस बात से परिचित था कि मनुष्य स्वभाव से अपनी तुच्छ प्रवृत्तियो से बंधा हुआ है। इसलिये जरूरी है कि हम उसके हृदय मे शिक्षा के माध्यम से एक एक ऐसा संरक्षक प्रतिष्ठित करे जो उसे उसकी दुर्बलताओं में राह दिखा सके और अच्छाई की ओर बढ़ने के लिये प्रवृत्त कर सके। लॉक ने भी कुछ इसी प्रकार का मत व्यक्त किया हैं। वह भी मानता है कि मनुष्य की स्वाधीनता और विचार-शीलता का उद्भव क्रमशः ही किया जा सकता है। जन्म से इस प्रकार की स्वाधीनता तथा विचारशीलता व्यक्ति को प्राप्त नहीं होती।

फ्रोएबेल ने भी यह बात स्पष्ट रूप से व्यक्त की है कि व्यक्ति अपने स्वयं के प्रयत्न के द्वारा ही नैतिक एवं बौद्धिक प्रकार से विमुक्त हो सकता है।[19] यह बात हमें इस तत्व की ओर उन्मुख करती है कि सही प्रकार की स्वाधीनता के लिये उचित वातावरण

[16] " The aim of education is to make man an independent being; that is a being whose will is freer.

[17] "Henceforth education for manhood must be taken from the influence of this mysterious and inculculable force and put under the direction of a deliberate art, which will surely and infallibly accomplish its purpose with everyone entrusted to it."
—Addresses to the German Nation.

[18] "The spectator of all time and all existence."

[19] "Every individual has to free himself from the various fetters of his undeveloped condition of childhood by the help of education influences."

का रहना आवश्यक है। इसलिये मोन्टेसरी शिक्षा-व्यवस्था में इस बात को प्रावधान रखा गया है कि शिशु अपने उपयुक्त वातावरण से प्रेरणा ग्रहण कर सके तथा उन अच्छाईयों के अनुकूल अपने व्यक्तित्व को प्रस्फुटित कर सके जो किसी अन्य प्रकार से सम्भव नहीं। फिक्टे ने तो यहाँ तक कहा है कि शिक्षा के माध्यम से हमें व्यक्ति को यह समझाना है, यह बात उसे अच्छी तरह स्पष्ट करना है कि उसे आध्यात्मिक जीवन एवं उच्चतर सामाजिक व्यवस्था की एक कड़ी बनना है। इसलिये फिक्टे सिर्फ नैतिक व बौद्धिक मूल्यों को ही महत्व नहीं देता वह व्यक्ति को धर्म के माध्यम से ही अपने उचित व्यक्तित्व को मुखरित व सुरभित करने के लिये प्रेरित करता है।[20]

पेस्टालॉजी, जो फिक्टे का ही समकालीन था, शिक्षा को जन-साधारण के लिये उपयुक्त बनाने का हामी था, किन्तु वह भी आदर्शवाद की भावना से परिपूर्ण था। वह शिक्षा को मनुष्यता के सम्पूर्ण रूप को अभिव्यक्त करने की प्रक्रिया मानता था इसलिये वह शिशु के बौद्धिक तथा नैतिक विकास से संतुष्ट नहीं होता था। शिक्षा के बोध सम्बन्धी तथ्य माध्यम से व्यक्ति के बौद्धिक, शारीरिक व्यवहारिक सौन्दर्य धार्मिक उन्नति के लिये प्रदर्शित करना ही उसके मतानुसार शिक्षा का ध्येय है। व्यक्ति को उसके तुच्छ स्वार्थ की परिधि से ऊँचा उठाना आवश्यक है ताकि उसके व्यक्तित्व का उचित एवं परिपूर्ण विकास सम्पन्न किया जा सके। यही शिक्षा का ध्येय है।[21]

पेस्टालॉजी की भाँति फ्रोइबेल भी, जिसका शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान है, आदर्शवादी हैं। वह भी शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति के मानस में आध्यात्मिक मूल्यों को प्रतिष्ठित करना चाहता है। शिक्षा का अन्तिम ध्येय, उसके अनुसार, इस तरह आदर्श व्यक्ति का निर्माण करना है। हम हीगल के बारे में लिख चुके है। वह अपने दर्शन मे एक अत्यन्त ही सूक्ष्म ब्रह्मवाद का समर्थक है, और सम्पूर्ण विश्व को वह उसी ब्रह्म का अभिव्यन्जन मानता है। उसकी यह विचारधारा निश्चय ही व्यक्ति को महत्व-हीन बनाती है। इसलिये कुछ विचारको ने उसके इस मत का विरोध किया है। सेठ प्रिंगल पेटीसन इस प्रकार के विचार के प्रतिनिधि माने जा सकते हैं।

हीगल के ब्रह्मवाद के विरोध में एक नये प्रकार के आदर्शवाद का जन्म हुआ जिसे हम व्यक्तिगत आदर्शवाद(परसनल आयडिलिज्म) कह सकते है। यह आदर्शवाद व्यक्ति को महत्व देता है। उसकी मान्यता है कि हम मनुष्योत्तर प्रकृति तथा आत्मा में एक प्रकार का समन्वय स्थापित कर सकते हैं क्योकि वास्तव मे हमारी सत्य, सौन्दर्य एव शील की अनुभूति-

---

20 "A link in the eternal chain of spiritual life and higher social order."
—Addresses to the German Nation.

21 "The fact which speaks must unquestionably for the spiritual nature of man, is the sacrifice of personal comfort or enjoyment, for the happiness of others; the subordination of individual desire to higher purposes"
—Pestalozzi, Letters on Early Education, Addressed to J. P. Greaves, Eng. Trans.

यां व्यक्तिगत होती है। फिर हम क्यों न सत्य को व्यक्तिगत ही मानें।[22] ग्रीन का मत है कि ईश्वर मनुष्य के माध्यम से ही अपने आपको अभिव्यक्त करता है। अमेरिका में कुछ विचारकों ने यहां तक कह डाला है कि सत्य सिर्फ वैयक्तिक ही हो सकता है। इसलिये हमारी शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्व को समर्थ करना है उसे उन सार्वभौम सत्यों को सुशोभित करना है, जो व्यक्ति को दैविक गुणों से सम्पन्न कर देते है।

हम जब व्यक्ति के व्यक्तित्व के समृद्ध करने की बात उठाते हैं तो दो तत्वों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित हो जाता है। ये तत्व है प्रकृति तथा लालन-पालन चूंकि यह मान लिया गया है कि मनुष्य की प्रकृति में हम मूलत: अच्छाई पाते है, इस लिये अत्यधिक महत्व लालन पालन का ही हो जाता है। लालन पालन मुख्यतया एक उचित प्रकार के वातावरण का ही दूसरा नाम है इस वातावरण के भी हम दो भेद कर सकते है, (१) भौतिक एवं (२) मानसिक। जहां तक मनुष्य का सवाल है वह भौतिक वातावरण पर पशु की तरह अवलम्बित नहीं है। उसकी बुद्धि ने अनेक विज्ञानों का अविष्कार करने में उसकी मदद की है और उन विज्ञानों की सहायता से वह भौतिक वातावरण को अपने आवश्यकतानुसार बदल सकता है बना सकता है। वह वातारण में परिवर्तन कर सकता है। भूमि को खाद आदि साधनों के द्वारा अधिकाधिक उर्वर बना सकता है। विभिन्न प्रकार के ऐसे कपड़ों का निर्माण कर सकता है जिससे आबोहवा का प्रतिकूल असर उसके शरीर पर न पड़े यातायात के साधन आदि के माध्यम से वह स्थान की दूरी को अत्यधिक कम कर सकता है। इसलिये भौतिक वातावरण मनुष्य के लिये कोई समस्या नहीं रह गई है। मनुष्य के लिये सिर्फ मानसिक वातावरण ही महत्वपूर्ण है। इसके अन्तर्गत हम व्यक्ति के लिये उपयुक्त शिक्षा का प्रावधान, परिवार का समुचित वातावरण समाज, का सन्तुलित व्यवहार, और साहित्य का जीवनदायी विचार मान सकते हैं। इनके माध्यम से हम व्यक्ति के मानस में इन मूल्यों की स्थापना कर सकते हैं। जो उसके जीवन को समुचित दिशा एवं गति प्रदान कर सकते है। आदमी के जैसे विचार होते हैं, वैसा ही उसका व्यवहार होता है। इसलिये शिक्षा के माध्यम से आदर्शवाद व्यक्ति को प्राणवान विचार देने का प्रयत्न करता हैं। क्योंकि अन्त में ये विचार ही उसके कार्य में जीवनदायी चमत्कार पैदा कर सकते हैं। यह हमें मान लेना चाहिए की मानसिक वातावरण को मनुष्य जितना चाहे उदात्त बना सकता है। साथ ही इसी बात से हमें अवगत हो जाना चाहिए कि मनुष्य की मूल्यवान सांस्कृतिक एवं वैचारिक धरोहर मानसिक वातावरण के माध्यम से ही जिसका शिक्षा के क्षेत्र में अत्यधिक महत्व है आने वाली पीढ़ी को संक्रामित की जा सकती हैं।

कभी कभी यह कहा जाता है कि मानसिक वातावरण के तीन तत्व हैं, ज्ञानात्मक, भावनात्मक तथा संकल्पात्मक, वातावरण सबसे पहले हमें सत्य के बारे में ज्ञान देता

---

[22] "The Absolute is Mind (Spirit)—this is the supreme definition of the Absolute. To find this definition and to grasp its meaning and burthen was the ultimate purpose of all education and all philosophy."
—Hegel's Philosophy of Mind, trans. by Wallace.

है। दूसरे वह सौन्दर्य एवं इसी प्रकार की अन्य अनुभूतियों का भावना के माध्यम से आकलन करना सिखाता है। तीसरे हमे कल्याणकारी काम करने के लिये प्रवृत्त करता है। ये तीन तत्व वास्तव में हमारे मानसिक तथा आध्यात्मिक वातावरण के लिये महत्वपूर्ण हैं। इनके अभाव में हम व्यक्ति को उन सब प्रभावों से विभूषित नहीं कर सकते जो उसके जीवन के उत्कर्ष के लिये, तथा सामाजिक जीवन की समृद्धि के लिये महत्वपूर्ण है। किन्तु इन तत्वों के महत्व को समझ जाना जरूरी होता है। अन्यथा वातावरण का अपेक्षित प्रभाव व्यक्ति के जीवन मे प्रकट नहीं हो सकेगा। हमें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि मानसिक वातावरण के लिए आवश्यक है कि वह तीनों पक्षों अर्थात् वैचारिक, भावनात्मक तथा व्यवहारात्मक पक्षों को उचित खाद्य प्रदान करे। इसी तरह सामाजिक जीवन को विकास की ओर बढ़ाना जरूरी है। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य व्यक्ति का सम्यक् रूप से सामाजीकरण करना है यह बात जरूर है कि सामाजीकरण में व्यक्ति के व्यक्तित्व को भुलाया नही जाना चाहिए क्योंकि समाज का घटक व्यक्ति ही तो हैं। इस विकास मे धर्म का भी उपयोग किया जा सकता है। धर्म, वास्तव में पूछा जाए, तो एक उज्जवल आदर्श है जिनके प्रकाश में व्यक्ति के व्यक्तित्व का उदात्तीकरण सम्भव होता है। यह परिवर्तन आस्था के बल पर किया जाता है, विश्वास के धरातल पर सम्पन्न होता है। इसलिए धर्म को उसके सम्प्रदायिक एवं परम्परागत रूप में नही देखा जाना चाहिए। इसके विपरीत उसे एक वैज्ञानिक स्वरूप दिया जाना चाहिए[23] इसे वैज्ञानिक स्वरूप देने का मतलब यह है कि सम्पूर्ण धर्मों में जो सामान्य सत्य पाये जाते हैं, जैसे 'वसुधैव कुटुम्बम्' की भावना, मानवीय सहानुभूति आदि प्रवृत्तियों का उद्घाटन किया जाए। हम जानते हैं कि प्राचीन काल में बहुत से धर्म इस वैज्ञानिक-प्रभुत्व से अछूते रहने के कारण विनाशकारी अनैतिक एवं विश्व के लिये पतन के प्रतीक सिद्ध हुए थे। इस दृष्टि से धर्म का वैज्ञानीकरण जरूरी एवं आवश्यक वस्तु बन जाता है। इसी बात को हम यह कह कर भी व्यक्त कर सकते हैं कि धर्म को नैतिकता के प्रभाव से निर्मुक्त नहीं रखा जाए।

इस सन्दर्भ में हमें इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि अनेक विचारकों ने धर्म, नैतिकता, कला एव ज्ञान के बारे में विभिन्न प्रकार के मत व्यक्त किये हैं। उदाहरण के लिए सॉक्रेस्ट्रीस की यह मान्यता थी कि नैतिकता का मूल आधार ज्ञान है। फिक्टे की मान्यता है कि धर्म को नैतिकता के सामने नतमस्तक होना चाहिए। शीलर और हरबर्ट कला को ही सबसे अधिक महत्व देते हैं। प्लेटो और फिक्टे कला को नैतिकता के अन्धकार में ही आगे बढ़ने की सलाह देते है। नैतिकता केवल एक सार्वभौम सार्वकालिक मानवीय चरित्र का आदर्श है।

इस लिए विभिन्न मत मतान्तरों से यह सिद्ध होता है कि शिक्षा के क्षेत्र में हमें धार्मिकता, नैतिकता कलात्मकता तथा ज्ञानशीलता के सुन्दर तत्वों की सामन्जस्यपूर्ण

---

[23] "All the ancient gods are inapt to the present crisis, yet there is a God implied in them whose formula must be found."
—Alfred Loisy, From Credence to Faith, Religion in Transition, 1913, p.154

पद्धति जुटाना चाहिए, ताकि एक कल्याणकारी प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व को पूर्ण सौष्ठव के साथ तराश सके।

हमें इस बात में सन्देह नहीं होना चाहिये कि मानव प्रकृति अपने मूल रूप मे कुछ इस ढंग की है कि इसमें परिवर्तन किया जा सकता है। हमारी मूलवृत्तियाँ, हमारी सहजवृत्तियाँ; हमारा स्वभाव सभी कुछ बदले जा सकते हैं। उनमे मनचाहा परिवर्तन लाया जा सकता है। मगर इस परिवर्तन के लिये उचित शिक्षा व वातावरण का होना जरूरी है। ऑलपोर्ट नामक मनोविज्ञान शास्त्री ने बताया है कि व्यक्ति पैतृक संस्कार एवं पर्यावरण का एक गत्यात्मक प्रभाव है, योगात्मक नहीं[24] इसलिये हमें मनुष्य की प्रवृत्ति को एक सीमातक परिवर्तित कर सकने की शिक्षा की क्षमता में पूरी तरह विश्वास रख आगे बढ़ना चाहिये।

कभी कभी यह होता है कि शिक्षा को विकास की सही दिशा में बढ़ने के लिये प्रचलित सामाजिक विश्वासों एवं परम्पराओं का विरोध करना होता है। इसलिये एक तरह का सघर्ष व्यक्ति के जीवन में प्रविष्ट हो सकता है किन्तु हममें इस प्रकार का विरोध करने का साहस होना चाहिये, और विद्यार्थी को भी इस प्रकार के कल्याणकारी विरोध के लिये तैयार करना चाहिये, किन्तु साथ ही हमें व्यक्ति में यह सामर्थ्य जगाना चाहिये कि वह उचित बातों में समाज से समझौता करना और पुरानी वस्तु को भी यदि वह अच्छी हो तो उसे स्वीकार करना, बिना किसी संकोच या हिचकिचाहट का अनुभव किए, सीख सके। इस तरह वह संघर्ष के साथ सामजस्य की भावना को अपने जीवन में प्रज्वलित रख सकेगा। इसी तरह हम शिक्षा के माध्यम से एक आदर्श मानव और उसके माध्यम से एक आदर्श समाज की स्थापना करने में सफल हो सकते हैं। आदर्शवाद अपने मन-प्राण में इसी प्रकार की आकांक्षा से संजोये रहता है, और अग्रसर होने का निरंतर प्रयास करता रहता है।

---

[24] "C. W. Allport, Personality: A pscyhological Interpretation.

लेखक परिचय

डा० रामनाथ शर्मा—

सदस्य दर्शन विभाग मेरठ कॉलेज, (मेरठ विश्वविद्यालय) मेरठ। प्रमुख भारतीय लेखक, इनकी दर्शन, मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र पर कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

डा० शान्ति प्रकाश आत्रेय—

अध्यक्ष दर्शन, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र विभाग, महारानी लालकुँवरि डिग्री कॉलेज, बलरामपुर (गोंडा) उ० प्र०।

हंस नाथ त्रिपाठी—

प्राध्यापक दर्शन तथा मनोविज्ञान, एस० के० पी० कॉलेज आजमगढ़।

डा० राम नारायण व्यास—

अध्यक्ष दर्शन विभाग राजकीय आर्ट्स तथा कॉमर्स विद्यालय, इन्दौर।

Reg. No. 125[illegible]2/64

Ou r Other Journals:

Darshana nternational

AN INTERNATIONAL QUARTERLY

OF

PHILOSOPHY, PSYCHOLOGY, SOCIOLOGY, RELIGION, MYSTICISM, AND PSYCHICAL RESEARCH

Editorial Board consists of 30 Scholars of International repute from many countries of the world

Being Published regularly Since January 1961 in January; April, July and October

Annual Subscription : $ 5·00, Shillings 30 and Rs. 15·00

The only Journal which has International Readership, Authorship and Editorship, and which covers so many fields of study

Available Back Numbers Vol. I—3, 4. Vol. II—1, 2, 3, 4. Vol. III—1, 2, 3, 4. Vol. IV—1, 2, 3, 4. Vol. V—1, 2, 3, 4. Vol. VI—1, 2, 3, 4. Vol. VII—1, 2, 3, 4 Rs. 5.00 or Shillings 8 or $ 1·25 per copy.

Psychics International

AN INTERNATIONAL QUARTERLY

OF

PSYCHIC AND YOGIC RESEARCH

First Issue May 1964

25 Scholars of International Eminence on the Editorial Board

Months of publication: May, August, November and February

Annual Subscription: $ 5·00, Shillings 30 and Rs. 15 00

CONTRIBUTIONS, SUBSCRIPTIONS, REVIEWS OF BOOKS & BOOKS FOR REVIEW

May be sent to :

Prof. J. P. ATREYA, *Managing Editor,*
Darshana International/Psychics International/Gaveshaṇā (Hindi)
Moradabad—19 (India)

Published by–Prof. J. P. Atreya, Managing Editor : *Gaveshaṇā* (Hindi) at Darshana Printers, Moradabad *(India) Telephone* : 370